पञ्च प्रतिक्रमण ।

श्रीयुक्त बाबू डालचन्दजी सिंघी
अजीमगञ्ज ।

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ।

पञ्च प्रतिक्रमण ।

पं० सुखलालजी-कृत--

हिन्दी-अनुवाद और टिप्पणी आदि सहित ।

प्रकाशक--

श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल,

रोशनमुहल्ला, आगरा ।

वीरसं० २४४८ विक्रमसं० १९७८

आत्मसं० २६ } प्रथमावृत्ति ।

ईस्वीसन् १९२१ शाकसं० १८४३

मुखपृष्ठ से ले कर 'पञ्चपरमेष्ठी के स्वरूप' तक—
मोहनलाल वैद के प्रबन्ध से 'सरस्ती प्रिंटिंग प्रेस'
बेलनगंज, आगरा में

और

बाकी का कुल हिस्सा—
पं० ख्यालीराम के प्रबन्ध से 'दामोदर प्रिंटिंग वर्क्स'
प्रतापपुरा, आगरा में

छपा।

वक्तव्य ।

पाठक महोदय आप इस पुस्तक के आरम्भ में जिन महानुभाव का फोटो देख रहे हैं, वे हैं आजिमगंज (मुर्शिदाबाद)-निवासी बाबू डालचन्दजी सिंघी । इस समय पूर्ण सामग्री न होने से मैं आप के जीवन का कुछ विशेष परिचय कराने में असमर्थ हूँ । इस के लिये फिर कभी अवसर पा कर प्रयत्न करने की इच्छा है ।

आप कलकत्ते के भी एक प्रसिद्ध रईस हैं और वहाँ के बड़े २ धनाढ्य व्यापारियों में आप की गणना है । पर इतने ही मात्र से मैं आप की ओर आकर्षित नहीं हुआ हूँ; किन्तु आप में दो गुण ऐसे हैं कि जो पुण्य-उदय के चिन्ह हैं और जिन का संपत्ति के साथ संयोग होना सब में सुलभ नहीं है । यही आप की एक खास विशेषता है जो मुझे अपनी ओर आकर्षित कर रही है । यथार्थ गुण को प्रगट करना गुणानुरागिता है, जो सच्चे जैन का लक्षण है । उक्त दो गुणों में से पहिला गुण 'उदारता' है । उदारता भी केवल आर्थिक नहीं, ऐसी उदारता तो अनेकों में देखी जाती है । पर जो उदारता धनवानों में भी बहुत कम देखी जाती है, वह विचार की उदारता आप में है । इसी से आप एक दृढतर जैन हैं और अपने संप्रदाय मे स्थिर होते हुए सब के विचारों को समभाव-पूर्वक सुनते हैं तथा उन का यथोचित

आदर करते हैं । इसी उदारता की वदौलत आप जैन-शास्त्रों की तरह जैनेतर-शास्त्रों को भी सुनते हैं । और उन को नय-दृष्टि से समझ कर सत्य को ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहते हैं। इसी समभाव के कारण आप की रुचि 'योगदर्शन' आदि ग्रन्थों की ओर सविशेष रहती है । विचार की उदारता या परमत-सहिष्णुता, एक ऐसा गुण है, जो कहीं से भी सत्य ग्रहण करा देता है । दूसरा गुण आप में 'धर्म-निष्ठा' का है । आप ज्ञान तथा क्रिया दोनों मार्गों को, दो आँखों की तरह, बराबर समझने वाले है । केवल ज्ञान रुचि या केवल क्रिया-रुचि तो वहुतों में पाई जाती है । परन्तु ज्ञान और क्रिया, दोनों की रुचि विरलों में ही देखी जाती है ।

जैन-समाज, इतर-समाजों के मुकाविले में बहुत छोटा है । परन्तु वह व्यापारी-समाज है । इस लिये जैन लोग हिन्दुस्तान जैसे विशाल देश के हर एक भाग में थोड़े वहुत प्रमाण में फैले हुए हैं । इतना ही नहीं, बल्कि योरोप, आफ्रिका आदि देशान्तरों में भी उन की गति है । परन्तु खेद की बात है कि उचित प्रमाण में उच्च शिक्षा न होने से, कान्फ्रेंस जैसी सब का आपस में मेल तथा परिचय कराने वाली सर्वोपयोगी संस्था में उपस्थित हो कर भाग लेने की रुचि कम होने से तथा तीर्थ-भ्रमण का यथार्थ उपयोग करने की कुशलता कम होने से, एक प्रान्त के जैन, दूसरे प्रान्त के अपने प्रतिष्ठित साधर्मिक बन्धु तक को बहुत कम जानते-पहिचानते हैं ।

इस के सबूत में सेठ खेतसी खीसी जैसे प्रसिद्ध गृहस्थ का कथन ज़रा ध्यान खींचने वाला है। उन्हों ने कलकत्ते में आकर कान्फ्रेन्स के सभापति की हैसियत से अपने बड़े २ प्रतिष्ठित साधर्मिक बन्धुओं की मुलाकात करते समय यह कहा था कि "मुझे अभी तक यह मालूम ही न था कि अपने जैन-समाज में 'राजा' का ख़िताब धारण करने वाले भी लोग हैं।" यह एक अज्ञान है। इस अज्ञान से अपने समाज के विषय में बहुत छोटी भावना रहती है। इस छोटी भावना से हरेक काम करने में आशा तथा उत्साह नहीं बढ़ते। यह अनुभव की बात है कि जब हम अपने समाज में अनेक विद्वान्, श्रीमान् तथा अधिकारी लोगों को देखते व सुनते हैं, तब हमारा हृदय उत्साहमय हो जाता है। इसी आशय से मेरा यह विचार रहता है कि कम से कम 'मण्डल' की ओर से प्रकाशित होने वाली पुस्तकों में तो किसी-न-किसी योग्य मुनिराज, विद्वान् या श्रीमान् का फोटो दिया ही जाय और उन का संक्षिप्त परिचय भी। जिस से कि पुस्तक के प्रचार के साथ २ समाज को ऐसे योग्य व्यक्ति का परिचय भी हो जाय। तदनुसार मेरी दृष्टि उक्त बाबूजी की ओर गई। और मैं ने श्रीमान् बाहादुरसिंहजी से, जो कि उक्त बाबूजी के सुपुत्र हैं, इस बात के लिये प्रस्ताव किया। उन्हों ने मेरी बात मान कर अपने पिता का फोटो देना मंजूर किया। एतदर्थ मैं उन का कृतज्ञ हूँ।

चाहे पुनरुक्ति हो, पर मैं उक्त बाबूजी की उदारता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। दूसरे श्रीमानों का भी

इस गुण का अनुकरण करना चाहिए। बाबूजी ने मुझ से अपनी येह सदिच्छा प्रगट की कि यह हिन्दी-अर्थ-साहित 'देवसि-राइ प्रतिक्रमण' तथा 'पञ्च प्रतिक्रमण' हमारी ओर से सब पाठकों के लिये निर्मूल्य सुलभ कर दिया जाय। उन्हों ने इन दोनों पुस्तकों का सारा खर्च देने की उदारता दिखाई और यह भी इच्छा प्रदर्शित की कि खर्च की परवाह न करके कागज़, छपाई, जिल्द आदि से पुस्तक को रोचक बनाने का शक्तिभर प्रयत्न किया जाय। मैं ने भी बाबूजी की बात को लाभदायक समझ कर मान लिया। तदनुसार यह पुस्तक पाठकों के कर-कमलों में उपस्थित की जाती है।

जैन-समाज में प्रतिक्रमण एक ऐसी महत्त्व की वस्तु है, जैसे कि वैदिक-समाज में सन्ध्या व गायत्री। मारवाड़, मेवाड़, मालवा, मध्यप्रान्त, युक्तप्रान्त, पंजाब, बिहार, बंगाल आदि अनेक भागों के जैन प्रायः हिन्दी-भाषा बोलने, लिखने तथा समझने वाले हैं। गुजरात, दक्षिण आदि में भी हिन्दी-भाषा की सर्व-प्रियता है। तो भी हिन्दी-अर्थ-साहित प्रतिक्रमण आज तक ऐसा कहीं से प्रगट नहीं हुआ था, जैसा कि चाहिए। इस लिये 'मण्डल' ने इसे तैयार कराने की चेष्टा की। पुस्तक क़रीब दो साल से छपाने के लायक़ तैयार भी हो गई थी, परन्तु प्रेस की असुविधा, कार्यकर्त्ताओं की कमी, मनमानी कागज़ आदि की अनुपलब्धि आदि अनेक अनिवार्य कठिनाइयों के कारण प्रकाशित होने में इतना आशातीत विलम्ब हो गया है। जब तक घर में अनाज न आ जाय, तब तक किसान का परिश्रम आशा के गर्भ में छिपा रहता है। पुस्तक-प्रकाशक-संस्थाओं का भी यही हाल है।

अपने विघ्नों की राम-कहानी सुनाना, कागज़ और स्याही को ख़राब करना तथा समय को बरबाद करना है। मुझे तो इसी में खुशी है कि चाहे देरी से या जल्दी से, पर अब, यह पुस्तक पाठकों के सामने उपस्थित की जाती है। उक्त बाबू साहब की इच्छा के अनुसार, जहाँ तक हो सका है, इस पुस्तक के बाह्य आवरण अर्थात् कागज़, छपाई, स्याही, जिल्द आदि की चारुता के लिये प्रयत्न किया गया है। ख़र्च में भी किसी प्रकार की कोताही नहीं की गई है। यहाँ तक कि पहिले छपे हुए दो फर्मे, कुछ कम पसन्द आने के कारण रद्द कर दिये गये। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह पुस्तक सर्वाङ्गपूर्ण तथा त्रुटियों से बिल्कुल मुक्त है। कहा इतना ही जा सकता है कि त्रुटियों को दूर करने की ओर यथासंभव ध्यान दिया गया है। प्रत्येक बात की पूर्णता क्रमशः होती है। इस लिये आशा है कि जो जो त्रुटियाँ रह गई होंगी, वे बहुधा अगले संस्करण में दूर हो जायँगी।

साहित्य-प्रकाशन का कार्य कठिन है। इस में विद्वान् तथा श्रीमान्, सब की मदत चाहिए। यह 'मण्डल' पारमार्थिक संस्था है। इस लिये वह सभी धर्म-रुचि तथा साहित्य-प्रेमी विद्वानों व श्रीमानों से निवेदन करता है कि वे उस के साहित्य-प्रकाश में यथासंभव सहयोग देते रहें। और धर्म के साथ-साथ अपने नाम को चिरस्थायी करें।

मन्त्री—

श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल,

रोशनमुहल्ला, आगरा।

प्रमाण रूप से आये हुए ग्रन्थों के नामः—

समवायाङ्ग ।	आवश्यक-निर्युक्ति ।
चैत्यवन्दन-भाष्य ।	पञ्चाशक ।
दशवैकालिक-निर्युक्ति ।	आचाराङ्ग नन्दि-वृत्ति ।
विशेषावश्यक-भाष्य ।	बृहत्संग्रहणी ।
ललितविस्तरा ।	योगदर्शन ।
गुरुवन्दन-भाष्य ।	धर्मसंग्रह ।
योनिस्तव ।	उपासकदशा ।
श्राद्ध-प्रतिक्रमण ।	भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति ।
भगवतीशतक ।	अन्तकृत् ।
ज्ञाता धर्मकथा ।	उत्तराध्ययन ।
सूत्रकृताङ्ग ।	देववन्दन-भाष्य ।

जीव और पञ्चपरमेष्ठी का स्वरूप।

(१)प्रश्न—परमेष्ठी क्या वस्तु है?

उत्तर—वह जीव है।

(२)प्र०—क्या सभी जीव परमेष्ठी कहलाते हैं?

उ०—नहीं।

(३)प्र०—तब कौन कहलाते हैं?

उ०—जो जीव 'परमे' अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूप में—समभाव में 'ष्ठिन्' अर्थात् स्थित हैं वे ही परमेष्ठी कहलाते हैं।

(४)प्र०—परमेष्ठी और उन से भिन्न जीवों में क्या अन्तर है?

उ०—अन्तर, आध्यात्मिक-विकास होने न होने का है। अर्थात् जो आध्यात्मिक-विकास वाले व निर्मल आत्मशक्ति वाले हैं, वे परमेष्ठी और जो मलिन आत्मशक्ति वाले हैं वे उन से भिन्न हैं।

(५)प्र०—जो इस समय परमेष्ठी नहीं हैं, क्या वे भी साधनों के द्वारा आत्मा को निर्मल बना कर वैसे बन सकते हैं?

उ०—अवश्य।

(६)प्र०–तव तो जो परमेष्ठी नहीं हैं और जो हैं उन में शक्ति की उपेक्षा से क्या अन्तर हुआ ?

उ०–कुछ भी नहीं। अन्तर सिर्फ शक्तियों के प्रकट होने न होने का है। एक में आत्म-शक्तियों का विशुद्ध रूप प्रकट हो गया है, दूसरों में नहीं।

(७)प्र०–जव असलियत में सव जीव समान ही हैं तव उन सव का सामान्य स्वरूप (लक्षण) क्या है ?

उ०–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि पौद्गलिक गुणों का न होना और चेतना का होना, यह सव जीवों का सामान्य लक्षण§ है।

(८)प्र०–उक्त लक्षण तो अतीन्द्रिय–इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकने वाला है; फिर उस के द्वारा जीवों की पहिचान कैसे हो सकती है ?

---

§"अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं॥"

[प्रवचनसार, ज्ञेयतत्वाधिकार, गाथा ८०।]

अर्थात्—जो रस, रूप, गन्ध और शब्द से रहित है, जो अव्यक्त—स्पर्शरहित—है, अत एव जो लिङ्गों—इन्द्रियों—से अग्राह्य है, जिस के कोई संस्थान आकृति—नहीं है और जिस में चेतना शक्ति है, उस को जीव जानना चाहिए।

उ०—निश्चय-दृष्टि से जीव अतीन्द्रिय हैं इस लिये उन का लक्षण अतीन्द्रिय होना ही चाहिए, क्यों कि लक्षण लक्ष्य से भिन्न नहीं होता। जब लक्ष्य अर्थात् जीव इन्द्रियो से नही जाने जा सकते, तब उन का लक्षण इन्द्रियो से न जाना जा सके, यह स्वाभाविक ही है।

(९)प्र०—जीव तो आँख आदि इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी कीड़े आदि जीवों को देख कर व छू कर हम जान सकते हैं कि यह कोई जीवधारी है। तथा किसी की आकृति आदि देख कर या भाषा सुन कर हम यह भी जान सकते हैं कि अमुक जीव सुखी, दुःखी, मूढ, विद्वान्, प्रसन्न या नाराज है। फिर जीव अतीन्द्रिय कैसे?

उ०—शुद्ध रूप अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा से जीव अतीन्द्रिय है। अशुद्ध रूप अर्थात् विभाव की अपेक्षा से वह इन्द्रियगोचर भी है। अमूर्त्तत्व—रूप, रस आदि का अभाव या चेतनाशक्ति, यह जीव का स्वभाव है, और भाषा, आकृति, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि जीव के विभाव अर्थात् कर्मजन्य पर्याय हैं। स्वभाव पुद्गल-निरपेक्ष होने के कारण अतीन्द्रिय है और विभाव, पुद्गल-सापेक्ष

होने के कारण इन्द्रियग्राह्य है । इस लिये स्वाभाविक लक्षण की अपेक्षा से जीव को अतीन्द्रिय समझना चाहिए ।

(१०) प्र०--अगर विभाव का संबन्ध जीव से है तो उस को ले कर भी जीव का लक्षण किया जाना चाहिए ?

उ०--किया ही है । पर वह लक्षण सब जीवों का नहीं होगा, सिर्फ संसारी जीवों का होगा । जैसे जिन में सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि भाव हों या जो *कर्म के कर्त्ता और कर्म-फल के भोक्ता और शरीरधारी हों वे जीव हैं ।

(११) प्र०--उक्त दोनों लक्षणों को स्पष्टतापूर्वक समझाइए ।

उ०--प्रथम लक्षण स्वभावस्पर्शी है, इस लिये उस को निश्चयनय की अपेक्षा से तथा पूर्ण व स्थायी समझना चाहिए । दूसरा लक्षण विभावस्पर्शी है, इस लिये

---

*"यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥"

अर्थात्--जो कर्मों का करने वाला है, उन के फल का भोगने वाला है, संसार में भ्रमण करता है और मोक्ष को भी पा सकता है, वही जीव है । उस का अन्य लक्षण नहीं है ।

उस को व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा अपूर्ण व अस्थायी समझना चाहिए । सारांश यह है कि पहला लक्षण निश्चय-दृष्टि के अनुसार है, अत एव तीनों काल में घटने वाला है और दूसरा लक्षण व्यवहार-दृष्टि के अनुसार है, अत एव तीनों काल में नहीं घटने वाला× है । अर्थात् संसार दशा में पाया जाने वाला और मोक्ष दशा में नहीं पाया जाने वाला है ।

(१२)प्र०—उक्त दो दृष्टि से दो लक्षण जैसे जैनदर्शन में किये गये हैं, क्या वैसे जैनेतर-दर्शनों में भी हैं ?

× "अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ।"

[प्रवचनसार, अमृतचन्द्र—कृत टीका, गाथा ५३ ।]

सारांश—जीवत्व निश्चय और व्यवहार इस तरह दो प्रकार का है। निश्चय जीवत्व अनन्त-ज्ञान-शक्तिस्वरूप होने से त्रिकाल-स्थायी है और व्यवहार-जीवत्व पौद्गलिक-प्राणसंसर्गरूप होने से संसारावस्था तक ही रहने वाला है ।

उ०—हाँ, §साङ्ख्य, ‡योग, †वेदान्त आदि दर्शनों में आत्मा को चेतनरूप या सच्चिदानन्दरूप कहा है सो निश्चय नय ÷ की अपेक्षा से, और ·|·न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के लक्षण बतलाये है सो व्यवहार ÷नय की अपेक्षा से।

---

§ "पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः किन्तु चेतनः।"

[मुक्तावलि पृ० २६।]

अर्थात्—आत्मा कमलपत्र के समान निर्लेप किन्तु चेतन है।

‡ "तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चितिमात्ररूपः पुरुषः" [पातञ्जलसूत्र, पाद ३, सूत्र ३५ भाष्य।]

अर्थात्—पुरुष—आत्मा—चिन्मात्ररूप है और परिणामी चित्तसत्व से अत्यन्त विलक्षण तथा विशुद्ध है।

† "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृहदारण्यक ३। ९। २८।]

अर्थात्—ब्रह्म—आत्मा—आनन्द तथा ज्ञानरूप है।

·|· "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।"

[न्यायदर्शन १। १। १०।]

अर्थात्—१ इच्छा, २ द्वेष, ३ प्रयत्न, ४ सुख, ५ दुःख और ६ ज्ञान, ये आत्मा के लक्षण हैं।

÷ "निश्चयमिह भूतार्थं, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।"

[पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ५।]

अर्थात्—तात्त्विक-दृष्टि को निश्चय-दृष्टि और उपचार-दृष्टि को व्यवहार-दृष्टि कहते हैं।

(१३) प्र०—क्या जीव और आत्मा इन दोनों शब्दों का मतलब एक है ?

उ०—हाँ, जैनशास्त्र में तो संसारी-असंसारी सभी चेतनों के विषय में 'जीव और आत्मा,' इन दोनों शब्दो का प्रयोग किया गया है, पर वेदान्त§ आदि दर्शनों मे जीव का मतलब संसार-अवस्था वाले ही चेतन से है, मुक्तचेतन से नहीं, और आत्मा* शब्द तो साधारण है ।

(१४) प्र०—आप ने तो जीव का स्वरूप कहा, पर कुछ विद्वानों को यह कहते सुना है कि आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय अर्थात् वचनों से नहीं कहे जा सकने योग्य है, सो इस में सत्य क्या है ?

उ०—उन का भीकथन युक्त है क्यों कि शब्दों के द्वारा परिमित भाव ही प्रगट किया जा सकता है । यदि जीव का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया जनना हो तो वह

---

§ "जीवो हि नाम चेतन· शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता ।" [ब्रह्मसूत्र भाष्य, पृ० १०९, अ० १, पा० १, अ० ५, सू० ६ भाष्य ।]

अर्थात्—जीव वह चेतन है जो शरीर का स्वामी है और प्राणो को धारण करने वाला है ।

* जैसे:—"आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादिक [बृहदारण्यक ।२।४।५।]

अपरिमित होने के कारण शब्दों के द्वारा किसी तरह नहीं बताया जा सकता। इस लिये इस अपेक्षा से जीव का स्वरूप अनिर्वचनीय* है। इस बात को जैसे अन्य-दर्शनों में "निर्विकल्प"‡ शब्द से या "नेतिनेति"§ शब्द से कहा है वैसे ही जैनदर्शन

---

* "यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः।
शुद्धानुभवसंवेद्यं, तद्रूपं परमात्मनः॥" द्वितीय, श्लोक ४॥

‡ "निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्पं निरामयम्।
आत्मनः परमं ज्योति -निरुपाधि निरञ्जनम्॥" प्रथम, ३॥
"धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न।
समुद्रा इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः॥" द्वि०, ८॥
"शब्दोपरक्ततद्रूप,-बोधकन्नयपद्धतिः।
निर्विकल्पं तु तद्रूपं,-गम्यं नानुभवं विना॥" द्वि०, ६॥
"अतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम्।
वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तस्य रूपं कथंचन॥ द्वि०, १६॥
[श्रीयशोविजय-उपाध्याय-कृत परमज्योतिःपञ्चविंशतिका]
"अप्राप्यैव निवर्तन्ते, वचोधीभिः सहैव तु।
निर्गुणत्वात्क्रियाभावा,-द्विशेषाणामभावतः॥"
[श्रीशङ्कराचार्यकृत-उपदेशसाहस्री नान्यदन्यत्प्रकरण श्लो० ३१।]
अर्थात्-शुद्ध जीव निर्गुण अक्रिय और अविशेष होने से न बुद्धिग्राह्य है और न वचन-प्रतिपाद्य है।

§ "स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोसीति होवाच याज्ञवल्क्यः।" [बृहदारण्यक, अध्याय ४, ब्राह्मण २, सूत्र ४।]

में "सरा तत्थ निवत्तंते तक्का तत्थ न विज्जई" [आचाराङ्ग· ५—६ ।] इत्यादि शब्द से कहा है। यह अनिर्वचनीयत्व का कथन परम निश्चय नय से या परम शुद्धद्रव्यार्थिक नय से समझना चाहिए। और हम ने जो जीव का चेतना या अमूर्त्तत्व लक्षण कहा है सो निश्चय दृष्टि से या शुद्धपर्यायार्थिक नय से।

(१५)प्र०—कुछ तो जीव का स्वरूप ध्यान में आया, अब यह कहिये कि वह किन तत्त्वों का बना है?

उ०—वह स्वयं अनादि स्वतन्त्र तत्त्व है, अन्य तत्त्वों से नहीं बना है।

(१६)प्र०—सुनने व पढ़ने में आता* है कि जीव एक रासायनिक वस्तु है, अर्थात् भौतिक मिश्रणों का परिणाम है, वह कोई स्वयंसिद्ध वस्तु नहीं है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट भी। इस में क्या सत्य है?

उ०—जो सूक्ष्म विचार नहीं करते, जिन का मन विशुद्ध नहीं होता और जो भ्रान्त हैं, वे ऐसा कहते है। पर उन का ऐसा कथन भ्रान्तिमूलक है।

---

* देखो-चार्वाकदर्शन [सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १] तथा आधुनिक भौतिकवादी 'हेकल' आदि विद्वानों के विचार प्रो० ध्रुवरचित [आपणो धर्म पृष्ठ २२५ से आगे ।]

७)प्र०—भ्रान्तिमूलक क्यों ?

उ०—इस लिये कि ज्ञान, सुख, दुःख, हर्ष, शोक, आदि वृत्तियाँ, जो मन से सम्बन्ध रखती हैं; वे स्थूल या सूक्ष्म भौतिक वस्तुओं के आलम्बन से होती हैं, भौतिक वस्तुएँ उन वृत्तियों के होने में साधनमात्र अर्थात् निमित्तकारण† हैं, उपादानकारण§ नहीं। उन का उपादानकारण आत्मा तत्त्व अलग ही है। इस लिये भौतिक वस्तुओं को उक्त वृत्तियों का उपादानकारण मानना भ्रान्ति है।

(१८)प्र०—ऐसा क्यों माना जाय ?

उ०—ऐसा न मानने से अनेक दोष आते हैं। जैसे सुख,दुःख, राज-रंक भाव, छोटी-बड़ी आयु, सत्कार-तिरस्कार, ज्ञान-अज्ञान आदि अनेक विरुद्ध भाव एक ही माता-पिता की दो सन्तानों में पाये जाते हैं, सो जीव को स्वतन्त्र तत्त्व बिना माने किसी तरह असन्दिग्ध रीति से घट नहीं सकता।

---

† जो कार्य से भिन्न हो कर उस का कारण बनता है वह निमित्तकारण कहलाता है। जैसे कपड़े का निमित्तकारण पुतलीघर।

§ जो स्वयं ही कार्यरूप में परिणत होता है वह उस कार्य का उपादान-कारण कहलाता है। जैसे कपड़े का उपादानकारण सूत।

(१९)प्र०—इस समय विज्ञान प्रबल प्रमाण समझा जाता है, इस लिये यह बतलाइये कि क्या कोई ऐसे भी वैज्ञानिक हैं जो विज्ञान के आधार पर जीव को स्वतन्त्र तत्त्व मानते हो ?

उ०—हाँ, उदाहरणार्थ* सर 'ओलीवरलाज' जो यूरोप के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक है और कलकत्ते के 'जगदीशचन्द्र वसु, जो कि संसार भर में प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। उन के प्रयोग व कथनों से स्वतन्त्र चेतन तत्त्व तथा पुनर्जन्म आदि की सिद्धि में सन्देह नहीं रहता। अमेरिका आदि में और भी ऐसे अनेक विद्वान् हैं, जिन्हों ने परलोकगत आत्माओं के सम्बन्ध में वहुत कुछ जानने लायक खोज§ की है।

(२०)प्र०—जीव के अस्तित्व के विषय में अपने को किस सबूत पर भरोसा करना चाहिए ?

उ०—अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक चिरकाल तक आत्मा का ही मनन करनेवाले निःस्वार्थ ऋषियों के वचन पर, तथा स्वानुभव पर।

(२१)प्र०—ऐसा अनुभव किस तरह प्राप्त हो सकता है ?

उ०—चित्त को शुद्ध कर के एकाग्रतापूर्वक विचार व मनन करने से।

---

* देखो—आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल आगरा द्वारा प्रकाशित हिन्दी प्रथम "**कर्मग्रन्थ**" की प्रस्तावना पृ० ३८ ॥

§ देखो-हिन्दीग्रन्थरत्नाकरकार्यालय, बंबई द्वारा प्रकाशित '**छायादर्शन**'

(२२) प्र०—जीव तथा परमेष्ठी का सामान्य स्वरूप तो कुछ सुन लिया। अब कहिये कि क्या सब परमेष्ठी एक ही प्रकार के हैं या उन में कुछ अन्तर भी है ?

उ०—सब एक प्रकार के नहीं होते। स्थूल दृष्टि से उन के पाँच प्रकार हैं अर्थात् उन में आपस में कुछ अन्तर होता है।

(२३) प्र०—वे पाँच प्रकार कौन हैं ? और उन में अन्तर क्या है ?

उ०—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पाँच प्रकार हैं। स्थूलरूप से इन का अन्तर जानने के लिये इन के दो विभाग करने चाहिए। पहले विभाग में प्रथम दो और दूसरे विभाग में पिछले तीन परमेष्ठी सम्मिलित हैं। क्यों कि अरिहन्त सिद्ध ये दो तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादि शक्तियों को शुद्धरूप में-पूरे तौर से विकसित किये हुए होते हैं। पर आचार्यादि तीन उक्त शक्तियों को पूर्णतया प्रकट किये हुए नहीं होते, किन्तु उन को प्रकट करने के लिये प्रयत्नशील होते हैं। अरिहन्त, सिद्ध ये दो ही केवल पूज्य-अवस्था को प्राप्त हैं, पूजक-अवस्था को नहीं। इसी से ये 'देव' तत्त्व माने जाते हैं। इस के विपरीत आचार्य आदि तीन पूज्य, पूजक, इन दोनों अवस्थाओं को प्राप्त हैं। वे अपने से नीचे की श्रेणि वालों के पूज्य और ऊपर की श्रेणि वालों के पूजक हैं। इसी से ये 'गुरु' तत्त्व माने जाते हैं।

(२४) प्र०—अरिहन्त तथा सिद्ध का आपस में क्या अन्तर है? इसी तरह आचार्य आदि तीनों का भी आपस में क्या अन्तर है?

उ०—सिद्ध, शरीररहित अत एव पौद्गलिक सब पर्यायों से परे होते हैं। पर अरिहन्त ऐसे नहीं होते। उन के शरीर होता है, इस लिये मोह, अज्ञान आदि नष्ट हो जाने पर भी ये चलने, फिरने, बोलने आदि शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाएँ करते रहते हैं। सारांश यह है कि ज्ञान-चारित्र आदि शक्तियों के विकास की पूर्णता अरिहन्त सिद्ध दोनों में बराबर होती है। पर सिद्ध, योग (शारीरिक आदि क्रिया) रहित और अरिहन्त योगसहित होते हैं। जो पहले अरिहन्त होते है वे ही शरीर त्यागने के बाद सिद्ध कहलाते हैं। इसी तरह आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में साधु के गुण सामान्य रीति से समान होने पर भी साधु की अपेक्षा उपाध्याय और आचार्य में विषेशता होती है। वह यह कि उपाध्याय-पद के लिये सूत्र तथा अर्थ का वास्तविक ज्ञान, पढ़ाने की शक्ति, वचन-मधुरता और चर्चा करने का सामर्थ्य आदि कुछ खास गुण प्राप्त करना जरूरी है, पर साधुपद के लिये इन गुणों की कोई खास जरूरत नहीं है। इसी तरह आचार्यपद के लिये शासन चलाने की शक्ति, गच्छ के हिताहित की जवाब-देही, अतिगम्भीरता और देश-काल का विशेष

ज्ञान आदि गुण चाहिए। साधुपद के लिये इन गुणों को प्राप्त करना कोई खास जरूरी नहीं है साधुपद के लिये जो सत्ताईस गुण जरूरी है वे तो आचार्य और उपाध्यान मे भी होते हैं, पर इन के अलावा उपाध्याय में पच्चीस और आचार्य में छत्तीस गुण होने चाहिए अर्थात् साधुपद की अपेक्षा उपाध्यायपद का महत्त्व अधिक, और उपाध्यायपद की अपेक्षा आचार्यपद का महत्त्व अधिक है।

(२५)प्र०–सिद्ध तो परोक्ष हैं, पर अरिहन्त शरीरधारी होने के कारण प्रत्यक्ष हैं। इस लिये यह जानना जरूरी है कि जैसे हम लोगों की अपेक्षा अरिहन्त की ज्ञान आदि आन्तरिक शक्तियाँ अलौकिक होती हैं वैसे ही उन की बाह्य अवस्था में भी क्या हम से कुछ विशेषता हो जाती है ?

उ०–अवश्य। भीतरी शक्तियाँ परिपूर्ण प्रकट हो जाने के कारण अरिहन्त का प्रभाव इतना अलौकिक बन जाता है कि साधारण लोग इस पर विश्वास तक नहीं कर सकते। अरिहन्तका सारा व्यवहार लोकोत्तर* होताहै। मनुष्य, पशु पक्षी आदि भिन्न २ जाति के जीव अरिहन्त

---

* "लोकोत्तरचमत्कार,–करी तव भवस्थितिः।
यतो नाहारनीहारौ. गोचरौ चर्मचक्षुषाम् ॥"
[वीतरागस्तोत्र. द्वितीय प्रकाश, श्लोक ८।]

अर्थात्–[हे भगवन्!] तुम्हारी रहन-सहन आश्चर्यकारक अत एव लोकोत्तर है, क्यों कि न तो आप का आहार देखने में आता और न नीहार (पाखाना)।

के उपदेश को अपनी २ भाषा† में समझ लेते हैं। साँप, न्यौला, चूहा, बिल्ली, गाय, बाघ आदि जन्म-शत्रु प्राणी भी समवसरण मे वैर (द्वेष) वृत्ति छोड़ कर* भ्रातृभाव धारण करते है । अरिहन्त के वचन में जो पैंतीस‡ गुण होते हैं वे औरों के वचन में नहीं होते। जहाँ अरिहन्त विराजमान होते है वहाँ मनुष्य आदि की कौन कहे, करोड़ों देव हाजिर होते, हाथ जोड़े खड़े रहते, भक्ति करते और अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्यों÷ की रचना करते हैं। यह सब अरिहन्त के परमयोग की विभूति‖ है ।

---

† "तेषामेव स्वस्वभाषा, परिणाममनोहरम् ।
अप्येकरूपं वचनं, यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥"

[वीतरागस्तोत्र, तृतीय प्रकाश, श्लोक ३ ।]

* "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।"

[पातञ्जल-योगसूत्र ३५-६६ ।]

‡ देखो–'जैनतत्त्वादर्श' पृ० २ ।

÷ "अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥"

अर्थात्–१. अशोकवृक्ष, २. देवो द्वारा की गई फूलों की वर्षा, ३. दिव्य-ध्वनि, ४. देवो द्वारा चामरों का ढोरा जाना, ५. अधर सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. देवों द्वारा बजाई गई दुन्दुभि और ८. छत्र, ये जिनेश्वरों के आठ प्रातिहार्य हैं ।

‖ देखो–'वीतरागस्तोत्र' एवं 'पातञ्जलयोगसूत्र का विभूतिपाद ।'

(२६)प्र०—अरिहन्त के निकट देवों का आना, उन के द्वारा समवसरण का रचा जाना, जन्म-शत्रु जन्तुओं का आपस में वैर-विरोध त्याग कर समवसरणमें उपस्थित होना, चौंतीस अतिशयों का होना, इत्यादि जो अरिहन्त की विभूति कही जाती है, उस पर यकायक विश्वास कैसे करना ?—ऐसा मानने में क्या युक्ति है ?

उ०—अपने को जो बातें असम्भव सी मालूम होती हैं वे परमयोगियों के लिये साधारण हैं। एक जंगली भील को चक्रवर्त्ती की सम्पत्ति का थोड़ा भी खयाल नहीं आ सकता। हमारी और योगियों की योग्यता में ही बड़ा फर्क है। हम विषय के दास, लालच के पुतले, और अस्थिरता के केन्द्र हैं। इस के विपरीत योगियों के सामने विषयों का आकर्षण कोई चीज़ नहीं; लालच उन को छूता तक नहीं; वे स्थिरता में सुमेरु के समान होते हैं। हम थोड़ी देर के लिये भी मन को सर्वथा स्थिर नहीं रख सकते; किसी के कठोर वाक्य को सुन कर मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं; मामूली चीज़ गुम हो जाने पर हमारे प्राण निकलने लग जाते हैं; स्वार्थान्धता से औरों की कौन कहे भाई और पिता तक भी हमारे लिये शत्रु बन जाते हैं। परम योगी इन सब दोषों से सर्वथा अलग

होते हैं। जब उन की आन्तरिक दशा इतनी उच्च हो तब उक्त प्रकार की लोकोत्तर स्थिति होने में कोई अचरज नहीं। साधारण योगसमाधि करने वाले महात्माओं की और उच्च चारित्र वाले साधारण लोगों का भी माहिमा जितनी देखी जाती है उस पर विचार करने से अरिहन्त जैसे परम योगी की लोकोत्तर विभूति में सन्देह नहीं रहता।

(२७,प्र०—व्यवहार (बाह्य) तथा निश्चय (आभ्यन्तर) दोनों दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप किस २ प्रकार का है?

उ०—उक्त दोनों दृष्टि से सिद्ध के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। उन के लिये जो निश्चय है वही व्यवहार है, क्यों कि सिद्ध अवस्था में निश्चय-व्यवहार की एकता हो जाती है। पर अरिहन्त के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। अरिहन्त सशरीर होते हैं इस लिये उन का व्यावहारिक स्वरूप तो बाह्य विभूतियों से सम्बन्ध रखता है और नैश्चयिक स्वरूप आन्तरिक शक्तियो के विकास से। इस लिये निश्चय दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप समान समझना चाहिए।

(२८)प्र०-उक्त दोनों दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप किस २ प्रकार का है?

उ०-निश्चय दृष्टि से तीनों का स्वरूप एक सा होता है। तीनो में मोक्षमार्ग के आराधन की तत्परता, और

बाह्य-आभ्यन्तर-निर्ग्रन्थता आदि नैश्चयिक और पारमार्थिक स्वरूप समान होता है। पर व्यावहारिक स्वरूप तीनों का थोड़ा-बहुत भिन्न होता है। आचार्य की व्यावहारिक योग्यता सब से अधिक होती है। क्यों कि उन्हें गच्छ पर शासन करने तथा जैनशासन की महिमा को सम्हालने की जवाबदेही लेनी पड़ती है। उपाध्याय को आचार्यपद के योग्य बनने के लिये कुछ विशेष गुण प्राप्त करने पड़ते हैं जो सामान्य साधुओं में नहीं भी होते।

(२६)प्र०—परमेष्ठियों का विचार तो हुआ। अब यह बतलाइये कि उन को नमस्कार किस लिये किया जाता है?

उ०—गुणप्राप्ति के लिये। वे गुणवान् हैं, गुणवानों को नमस्कार करने से गुण की प्राप्ति अवश्य होती है क्यों कि जैसा ध्येय हो ध्याता वैसा ही बन जाता है। दिन-रात चोर और चोरी की भावना करने वाला मनुष्य कभी प्रामाणिक (साहूकार) नहीं बन सकता। इसी तरह विद्या और विद्वान् की भावना करने वाला अवश्य कुछ-न-कुछ विद्या प्राप्त कर लेता है।

(३०)प्र०—नमस्कार क्या चीज़ है?

उ०—बड़ों के प्रति ऐसा वर्त्ताव करना कि जिस से उन के प्रति अपनी लघुता तथा उन का बहुमान प्रकट हो, वही नमस्कार है।

(३१)प्र०—क्या सब अवस्था में नमस्कार का स्वरूप एक सा ही होता है ?

उ०- नहीं । इस के द्वैत और अद्वैत, ऐसे दो भेद हैं । विशिष्ट स्थिरता प्राप्त न होने से जिस नमस्कार मे ऐसा भाव हो कि मैं उपासना करने वाला हूँ और अमुक मेरी उपासना का पात्र है, वह द्वैत-नमस्कार है । राग-द्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि जिस में आत्मा अपने को ही अपना उपास्य समझता है और केवल स्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत-नमस्कार है ।

(३२)प्र०—उक्त दोनों में से कौन सा नमस्कार श्रेष्ठ है ?

उ०—अद्वैत । क्यों कि द्वैत-नमस्कार तो अद्वैत का साधन-मात्र है ।

(३३)प्र०—मनुष्य की बाह्य-प्रवृत्ति, किसी अन्तरङ्ग भाव से प्रेरी हुई होती है । तो फिर इस नमस्कार का प्रेरक, मनुष्य का अन्तरङ्ग भाव क्या है ?

उ०—भक्ति ।

(३४)प्र०—उस के कितने भेद हैं ?

उ०—दो । एक सिद्ध-भक्ति और दूसरी योगि-भक्ति । सिद्धों के अनन्त गुणों की भावना भाना सिद्ध-भक्ति है और योगियों (मुनियों) के गुणों की भावना भाना योगि-भक्ति ।

(३५)प्र०—पहिले अरिहन्तों को और पीछे सिद्धादिकों को नमस्कार करने का क्या सबब है ?

उ०—वस्तु को प्रतिपादन करने के क्रम दो होते हैं। एक पूर्वानुपूर्वी और दूसरा पश्चानुपूर्वी। प्रधान के बाद अप्रधान का कथन करना पूर्वानुपूर्वी है और अप्रधान के बाद प्रधान का कथन करना पश्चानुपूर्वी है। पाँचों परमेष्ठियो में 'सिद्ध' सब से प्रधान हैं और 'साधु' सब से अप्रधान, क्यों कि सिद्ध-अवस्था चैतन्य-शक्ति के विकास की आखिरी हद है और साधु-अवस्था उस के साधन करने की प्रथम भूमिका है। इस लिये यहाँ पूर्वानुपूर्वी क्रम से नमस्कार किया गया है।

(३६)प्र०—अगर पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार पूर्वानुपूर्वी क्रम से किया गया है तो पहिले सिद्धों को नमस्कार किया जाना चाहिए, अरिहन्तों को कैसे ?

उ०—यद्यपि कर्म-विनाश की अपेक्षा से 'अरिहन्तों' से 'सिद्ध' श्रेष्ठ हैं। तो भी कृतकृत्यता की अपेक्षा से दोनों समान ही हैं और व्यवहार की अपेक्षा से तो 'सिद्ध' से 'अरिहन्त' ही श्रेष्ठ हैं। क्यों कि 'सिद्धों' के परोक्ष स्वरूप को बतलाने वाले 'अरिहन्त' ही तो हैं। इस लिये व्यवहार-अपेक्षया 'अरिहन्तों' को श्रेष्ठ गिन कर पहिले उन को नमस्कार किया गया है।

विषयानुक्रमणिका ।

परिशिष्ट ।

स्तव आदि विशेष पाठ ।

प्रस्तावना ।

वैदिकसमाज में 'सन्ध्या' का, पारसी लोगों में 'खोरदेह अवस्ता' का, यहूदी तथा ईसाइयों में 'प्रार्थना' का और मुसलमानों में 'नमाज़' का जैसा महत्त्व है; जैनसमाज में वैसा ही महत्त्व 'आवश्यक' का है ।

जैनसमाज की मुख्य दो शाखाएँ हैं, (१) श्वेताम्बर और (२) दिगम्बर। दिगम्बर-सम्प्रदाय में मुनि-परम्परा विच्छिन्न-प्रायः है । इस लिये उस में मुनियों के 'आवश्यक-विधान' का दर्शन सिर्फ़ शास्त्र में ही है, व्यवहार में नहीं है । उस के श्रावक-समुदाय में भी 'आवश्यक' का प्रचार वैसा नहीं है, जैसा श्वेताम्बर-शाखा में है । दिगम्बरसमाज में जो प्रतिमाधारी या ब्रह्मचारी आदि होते हैं, उन में मुख्यतया सिर्फ़ 'सामायिक' करने का प्रचार देखा जाता है। शृङ्खलाबद्ध रीति से छहों 'आवश्यकों' का नियमित प्रचार जैसा श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में आबाल-

वृद्ध-प्रसिद्ध है, वैसा दिगम्बर-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् दिगम्बर-सम्प्रदाय में सिलसिलेवार छहों 'आवश्यक' करने की परम्परा दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और साम्वत्सरिक-रूप से वैसी प्रचलित नहीं है, जैसी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में प्रचलित है। यानी जिस प्रकार श्वेताम्बर-सम्प्रदाय सायंकाल, प्रातःकाल, प्रत्येक पक्ष के अन्त में, चतुर्मास के अन्त में और वर्ष के अन्त में स्त्रियों का तथा पुरुषों का समुदाय अलग-अलग या एकत्र हो कर अथवा अन्त में अकेला व्यक्ति ही सिलसिले से छहों 'आवश्यक' करता है, उस प्रकार 'आवश्यक' करने की रीति दिगम्बर-सम्प्रदाय में नहीं है।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की भी दो प्रधान शाखाएँ हैं:– (१) मूर्तिपूजक और (२) स्थानकवासी। इन दोनों शाखाओं की साधु-श्रावक–दोनों संस्थाओं में दैवसिक, रात्रिक आदि पाँचों प्रकार के 'आवश्यक' करने का नियमित प्रचार अधिकारानु-रूप बराबर चला आता है।

मूर्तिपूजक और स्थानकवासी–दोनों शाखाओं के साधुओं को तो सुबह-शाम अनिवार्यरूप से 'आवश्यक' करना ही पड़ता है; क्योंकि शास्त्र में ऐसी आज्ञा है कि प्रथम और चरम तीर्थ-कर के साधु 'आवश्यक' नियम से करें। अत एव यदि वे उस आज्ञा का पालन न करें, तो साधु-पद के अधिकारी ही नहीं समझे जा सकते।

श्रावकों में 'आवश्यक' का प्रचार वैकल्पिक है। अर्थात् जो भावुक और नियम वाले होते हैं, वे अवश्य करते हैं और अन्य श्रावकों की प्रवृत्ति इस विषय में ऐच्छिक है। फिर भी यह देखा जाता है कि जो नित्य 'आवश्यक' नहीं करता, वह भी पक्ष के बाद, चतुर्मास के बाद या आख़िरकार संवत्सर के बाद, उस को यथासम्भव अवश्य करता है। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में 'आवश्यक-क्रिया' का इतना आदर है कि जो व्यक्ति अन्य किसी समय धर्मस्थान में न जाता हो, वह तथा छोटे-बड़े बालक-बालिकाएँ भी बहुधा साम्वत्सरिक पर्व के दिन धर्मस्थान में 'आवश्यक-क्रिया' करने के लिये एकत्र हो ही जाते हैं और उस क्रिया को करके सभी अपना अहोभाग्य समझते हैं। इस प्रवृत्ति से यह स्पष्ट है कि 'आवश्यक-क्रिया' का महत्त्व श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में कितना अधिक है। इसी सबब से सभी लोग अपनी सन्तति को धार्मिक शिक्षा देते समय सब से पहले 'आवश्यक-क्रिया' सिखाते हैं।

जन-समुदाय की सादर प्रवृति के कारण 'आवश्यक-क्रिया' का जो महत्त्व प्रमाणित होता है, उस को ठीक-ठीक समझाने के लिये 'आवश्यक-क्रिया' किसे कहते हैं? सामायिक आदि प्रत्येक 'आवश्यक' का क्या स्वरूप है? उन के भेद-क्रम की उपपत्ति क्या है? आवश्यक-क्रिया' आध्यात्मिक क्यों है?' इत्यादि कुछ मुख्य प्रश्नों के ऊपर तथा उन के अन्तर्गत अन्य प्रश्नों के ऊपर इस जगह विचार करना आवश्यक है।

परन्तु इस के पहले यहाँ एक बात बतला देना ज़रूरी है। और वह यह है कि 'आवश्यक-क्रिया' करने की जो विधि चूर्णि के ज़माने से भी बहुत प्राचीन थी और जिस का उल्लेख श्रीहरिभद्रसूरि-जैसे प्रतिष्ठित आचार्य ने अपनी आवश्यक-वृत्ति, पृ०, ७९० में किया है। वह विधि बहुत अंशों में अपरिवर्तितरूप से ज्यों की त्यों जैसी श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक-सम्प्रदाय में चली आती है, वैसी स्थानकवासी-सम्प्रदाय मे नहीं है। यह बात तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि गच्छों की सामाचारी देखने से स्पष्ट मालूम हो जाती है। स्थानकवासी-सम्प्रदाय की सामाचारी में जिस प्रकार 'आवश्यक-क्रिया' में बोले जाने वाले कई प्राचीन सूत्रों की, जैसेः—पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं, अरिहंतचेइयाणं, आयरियउवज्झाए, अब्भुट्ठियोऽहं, इत्यादि की काट-छाँट कर दी गई है, इसी प्रकार उस में प्राचीन विधि की भी काट-छाँट नजर आती है। इस के विपरीत तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि की सामाचारी में 'आवश्यक' के प्राचीन सूत्र तथा प्राचीन विधि में कोई परिवर्तन किया हुआ नजर नहीं आता। अर्थात् उस में 'सामायिक-आवश्यक' से ले कर यानी प्रतिक्रमण की स्थापना से ले कर 'प्रत्याख्यान' पर्यन्त के छहों 'आवश्यक' के सूत्रों का तथा बीच में विधि करने का सिलसिला बहुधा वही है, जिस का उल्लेख श्रीहरिभद्रसूरि ने किया है।

यद्यपि प्रतिक्रमण-स्थापन के पहले चैत्य-वन्दन करने की और छठे 'आवश्यक' के बाद सज्झाय, स्तवन, स्तोत्र आदि

पढ़ने की प्रथा पीछे सकारण प्रचलित हो गई है; तथापि मूर्तिपूजक-सम्प्रदाय की 'आवश्यक-क्रिया'-विषयक सामाचारी में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उस में कहीं 'आवश्यकों' के सूत्रों का तथा विधि का सिलसिला अभी तक प्राचीन ही चला आता है।

'आवश्यक' किसे कहते हैं?:—जो क्रिया अवश्य करने योग्य है, उसी को "आवश्यक" कहते हैं। 'आवश्यक-क्रिया' सब के लिये एक नहीं, वह अधिकारी-भेद से जुदी-जुदी है। एक व्यक्ति जिस क्रिया को आवश्यककर्म समझ कर नित्यप्रति करता है, दूसरा उसी को आवश्यक नहीं समझता। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति काञ्चन-कामिनीं को आवश्यक समझ कर उस की प्राप्ति के लिये अपनी सारी शक्ति ख़र्च कर डालता है। और दूसरा काञ्चन-कामिनी को अनावश्यक समझता है और उस के संग से बचने की कोशिश ही में अपने बुद्धि-बल का उपयोग करता है। इस लिये 'आवश्यक-क्रिया' का स्वरूप लिखने के पहले यह जना देना ज़रूरी है कि इस जगह किस प्रकार के अधिकारियों का आवश्यककर्म विचारा जाता है।

सामान्यरूप से शरीर-धारी प्राणियों के दो विभाग हैं:—(१) बहिर्दृष्टि और (२) अन्तर्दृष्टि। जो अन्तर्दृष्टि हैं—जिन की दृष्टि आत्मा की ओर झुकी है अर्थात् जो सहज सुख को व्यक्त करने के विचार में तथा प्रयत्न में लगे हुए हैं, उन्हीं के 'आवश्यक-कर्म' का विचार इस जगह करना है। इस कथन से यह स्पष्ट

सिद्ध है कि जो जड़ में अपने को नहीं भूले हैं--जिन की दृष्टि को किसी भी जड़ वस्तु का सौन्दर्य लुभा नहीं सकता, उन का 'आवश्यक-कर्म' वही हो सकता है, जिस के द्वारा उन का आत्मा सहज सुख का अनुभव कर सके। अन्तर्दृष्टि वाले आत्मा सहज सुख का अनुभव तभी कर सकते हैं, जब कि उन के सम्यक्त्व, चेतना, चारित्र आदि गुण व्यक्त हों। इस लिये वे उस क्रिया को अपना 'आवश्यक-कर्म' समझते हैं, जो सम्यक्त्व आदि गुणों का विकास करने में सहायक हों। अत एव इस जगह संक्षेप में 'आवश्यक' की व्याख्या इतनी ही है कि ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने के लिये जो क्रिया अवश्य करने योग्य है, वही 'आवश्यक' है।

ऐसा 'आवश्यक' ज्ञान और क्रिया—उभय परिणाम-रूप अर्थात् उपयोगपूर्वक की जाने वाली क्रिया है। यही कर्म आत्मा को गुणों से वासित कराने वाला होने के कारण "आवासक" भी कहलाता है। वैदिकदर्शन में 'आवश्यक' समझे जाने वाले कर्मों के लिये 'नित्यकर्म' शब्द प्रसिद्ध है। जैनदर्शन में अवश्य-कर्तव्य, ध्रुव, निग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्क, वर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग आदि अनेक शब्द ऐसे है, जो कि 'आवश्यक' शब्द के समानार्थक—पर्याय हैं (आ०-वृत्ति, पृ० ५३)।

सामायिक आदि प्रत्येक 'आवश्यक' का स्वरूप:- स्थूल दृष्टि से 'आवश्यक-क्रिया' के छह विभाग—भेद किये गये हैं-(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान।

(१) राग और द्वेष के वश न हो कर समभाव—मध्यस्थभाव में रहना अर्थात् सब के साथ आत्मतुल्य व्यवहार करना 'सामायिक' है (आ०-नि०, गा० १०३२)। इस के (१) सम्यक्त्वसामायिक, (२) श्रुतसामायिक और (३) चारित्रसामायिक, ये तीन भेद हैं। क्योंकि सम्यक्त्व द्वारा, श्रुत द्वारा या चारित्र द्वारा ही समभाव में स्थिर रहा जा सकता है। चारित्रसामायिक भी अधिकारी की अपेक्षा से (१) देश और (२) सर्व, यों दो प्रकार का है। देशसामायिकचारित्र गृहस्थों को और सर्वसामायिकचारित्र साधुओं को होता है (आ०-नि०, गा० ७९६)। समता, सम्यक्त्व, शान्ति, सुविहित आदि शब्द सामायिक के पर्याय हैं (आ०-नि०, गा० १०३३)।

(२) चतुर्विंशतिस्तवः—चौबीस तीर्थंकर, जो कि सर्वगुण-सम्पन्न आदर्श हैं, उन की स्तुति करनेरूप है। इस के (१) द्रव्य और (२) भाव, ये दो भेद हैं। पुष्प आदि सात्त्विक वस्तुओं के द्वारा तीर्थंकरों की पूजा करना 'द्रव्यस्तव' और उन के वास्तविक गुणों का कीर्तन करना 'भावस्तव' है (आ०, पृ० ४९२)। अधिकारी-विशेष —गृहस्थ के लिये द्रव्यस्तव कितना लाभदायक है, इस बात को विस्तारपूर्वक आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ४९२-४९३ में दिखाया है।

(३) वन्दन :—मन, वचन और शरीर का वह व्यापार वन्दन है, जिस से पूज्यों के प्रति बहुमान प्रगट किया जाता है। शास्त्र में वन्दन के चिति-कर्म, कृति-कर्म, पूजा-कर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध हैं (आ०-नि०, गा० ११०३)। वन्दन के यथार्थ स्वरूप

जानने के लिये वन्द्य कैसे होने चाहिये? वे कितने प्रकार के हैं? कौन-कौन अवन्द्य हैं? अवन्द्य-वन्दन से क्या दोष है? वन्दन करने के समय किन-किन दोषों का परिहार करना चाहिये, इत्यादि बातें जानने योग्य हैं।

द्रव्य और भाव-उभय-चरित्रसंपन्न मुनि ही वन्द्य हैं (आ०-नि०, गा० ११०६)। वन्द्य मुनि (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्त्तक, (४) स्थविर और (५) रत्नाधिक-रूप से पाँच प्रकार के हैं (आ०-नि०, गा० ११९५)। जो द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग एक-एक से या दोनों से रहित है, वह अवन्द्य है। अवन्दनीय तथा वन्दनीय के सम्बन्ध में सिक्के की चतुर्भङ्गी प्रसिद्ध है (आ०-नि०, गा० ११३८)। जैसे चाँदी शुद्ध हो पर मोहर ठीक न लगी हो तो वह सिक्का ग्राह्य नहीं होता। वैसे ही जो भावलिङ्गयुक्त हैं, पर द्रव्यलिङ्गविहीन हैं, उन प्रत्येकबुद्ध आदि को वन्दन नहीं किया जाता। जिस सिक्के पर मोहर तो ठीक लगी है, पर चाँदी अशुद्ध है, वह सिक्का ग्राह्य नही होता। वैसे ही द्रव्यलिङ्गधारी हो कर जो भावलिङ्गविहीन हैं, वे पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के कुसाधु अवन्दनीय हैं। जिस सिक्के की चाँदी और मोहर, ये दोनों ठीक नही है, वह भी अग्राह्य है। इसी तरह जो द्रव्य और भाव—उभयलिङ्गरहित हैं, वे वन्दनीय नहीं। वन्दनीय सिर्फ़ वे ही हैं, जो शुद्ध चाँदी तथा शुद्ध मोहर वाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव—उभय-लिङ्गसम्पन्न हैं (आ०-नि०, गा० ११३८)। अवन्द्य को वन्दन

करने से वन्दन करने वाले को न तो कर्म की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही। बल्कि असंयम आदि दोषों के अनुमोदन द्वारा कर्मबन्ध होता है (आ०-नि०, गा० ११०८)। अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करने वाले को ही दोष होता है, यही बात नहीं, किन्तु अवन्दनीय के आत्मा का भी गुणी पुरुषों के द्वारा अपने को वन्दन करानेरूप असंयम की वृद्धि द्वारा अधःपात होता है (आ०-नि०, गा० १११०)। वन्दन बत्तीस दोषों से रहित होना चाहिये। अनादृत आदि वे बत्तीष दोष आवश्यक-निर्युक्ति, गा० १२०७—१२११ में बतलाये हैं।

(४) प्रमाद-वश शुभ योग से गिर कर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योग को प्राप्त करना, यह 'प्रतिक्रमण[1]' है। तथा अशुभ योग को छोड़ कर उत्तरोत्तर शुभ योग में वर्तना, यह भी 'प्रतिक्रमण[2]' है। प्रतिवरण, परिहरण, वारण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शोधि, ये सब प्रतिक्रमण के समानार्थक शब्द हैं (आ०-नि०, गा० १२३३)। इन शब्दों का भाव समझाने के लिये प्रत्येक शब्द की व्याख्या पर एक-एक दृष्टान्त दिया गया है, जो बहुत मनोरञ्जक हैं (आ०-नि०, गा० १२४२)।

१—"स्वस्थानाद्यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥ १ ॥"

२—"प्रति प्रति वर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ॥ १ ॥"

[आवश्यक-सूत्र, पृष्ठ ५५३]।

प्रतिक्रमण का मतलब पीछे लौटना है--एक स्थिति में जा कर फिर मूल स्थिति को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण शब्द की इस सामान्य व्याख्या के अनुसार ऊपर बतलाई हुई व्याख्या के विरुद्ध अर्थात् अशुभ योग से हट कर शुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से अशुभ योग को प्राप्त करना यह भी प्रतिक्रमण कहा जा सकता है। अत एव यद्यपि प्रतिक्रमण के (१) प्रशस्त और (२) अप्रशस्त, ये दो भेद किये जाते हैं (आ०, पृ० ५५२), तो भी 'आवश्यक-क्रिया' में जिस प्रतिक्रमण का समावेश है, वह अप्रशस्त नहीं किन्तु प्रशस्त ही है; क्योंकि इस जगह अन्तर्दृष्टि वाले--आध्यात्मिक पुरुषों की ही अवश्य-क्रिया का विचार किया जाता है।

(१) दैवसिक, (२) रात्रिक, (३) पाक्षिक, (४) चातुर्मासिक और (५) सांवत्सरिक, ये प्रतिक्रमण के पाँच भेद बहुत प्राचीन तथा शास्त्र-संमत हैं; क्योंकि इन का उल्लेख श्रीभद्रबाहुस्वामी तक करते हैं (आ०-नि०, गा० १२४७)। काल-भेद से तीन प्रकार का प्रतिक्रमण भी बतलाया है। (१) भूत काल में लगे हुए दोषों की आलोचना करना, (२) संवर करके वर्तमान काल के दोषों से बचना और (३) प्रत्याख्यान-द्वारा भविष्यत् दोषों को रोकना प्रतिक्रमण है (आ०, पृ० ५५१)।

उत्तरोत्तर आत्मा के विशेष शुद्ध स्वरूप में स्थित होने की इच्छा करने वाले अधिकारिओं को यह भी जानना चाहिये कि प्रतिक्रमण किस-किस का करना चाहिये:--(१) मिथ्यात्व,

(२) अविरति, कषाय (३) और (४) अप्रशस्त योग, इन चार का प्रतिक्रमण करना चाहिये। अर्थात् मिथ्यात्व छोड़ कर सम्यक्त्व को पाना चाहिये, अविरति का त्याग कर विरति को स्वीकार करना चाहिये, कषाय का परिहार करके क्षमा आदि गुण प्राप्त करना चाहिये और संसार बढ़ाने वाले व्यापारों को छोड़ कर आत्म-स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिये।

सामान्य रीति से प्रतिक्रमण (१) द्रव्य और (२) भाव, यों दो प्रकार का है। भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्यप्रतिक्रमण नहीं। द्रव्यप्रतिक्रमण वह है, जो दिखावे के लिये किया जाता है। दोष का प्रतिक्रमण करने के बाद भी फिर से उस दोष को बार बार सेवन करना, यह द्रव्यप्रतिक्रमण है। इस से आत्म-शुद्धि होने के बदले धिठाई द्वारा और भी दोषों की पुष्टि होती है। इस पर कुम्हार के बर्तनों को कंकर के द्वारा बार बार फोड़ कर बार बार माँफी माँगने का एक क्षुल्लक-साधु का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

(५) धर्म या शुल्क-ध्यान के लिये एकाग्र हो कर शरीर पर से ममता का त्याग करना 'कायोत्सर्ग' है। कायोत्सर्ग को यथार्थ-रूप में करने के लिये उस के दोषों का परिहार करना चाहिये। वे घोटक आदि दोष संक्षेप में उन्नीस हैं (आ०-नि०, गा० १५४६-१५४७)।

कायोत्सर्ग से देह की जडता और बुद्धि की जडता दूर होती है, अर्थात् वात आदि धातुओं की विषमता दूर होती है,

और बुद्धि की मन्दता दूर हो कर विचार-शक्ति का विकास होता है। सुख-दुःख-तितिक्षा अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के संयोगों में समभाव से रहने की शक्ति कायोत्सर्ग से प्रकट होती है। भावना और ध्यान का अभ्यास भी कायोत्सर्ग से ही पुष्ट होता है। अतिचार का चिन्तन भी कायोत्सर्ग में ठीक-ठीक हो सकता है। इस प्रकार देखा जाय तो कायोत्सर्ग बहुत महत्त्व की क्रिया है।

कायोत्सर्ग के अन्दर लिये जाने वाले एक श्वासोच्छ्वास का काल-परिमाण श्लोक के एक पाद के उच्चारण के काल-परिमाण जितना कहा गया है।

(६) त्याग करने को 'प्रत्याख्यान' कहते है। त्यागने योग्य वस्तुएँ (१) द्रव्य और (२) भाव-रूप से दो प्रकार की हैं। अन्न, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुएँ द्रव्यरूप हैं और अज्ञान, असंयम आदि वैभाविक परिणाम भावरूप हैं। अन्न, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुओं का त्याग अज्ञान, असंयम आदि के द्वारा भावत्याग-पूर्वक और भावत्याग के उद्देश्य से ही होना चाहिये। जो द्रव्यत्याग भावत्याग-पूर्वक तथा भावत्याग के लिये नहीं किया जाता, उस से आत्मा को गुण-प्राप्ति नहीं होती।

(१) श्रद्धान, (२) ज्ञान, (३) वन्दन, (४) अनुपालन, (५) अनुभाषण और (६) भाव, इन छह शुद्धियों के सहित किये जाने वाला प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है (आ०, पृ० ८४७/१)।

प्रत्याख्यान का दूसरा नाम गुण-धारण है, सो इस लिये कि उस से अनेक गुण प्राप्त होते हैं। प्रत्याख्यान करने से आस्रव का निरोध अर्थात् संवर होता है। संवर से तृष्णा का नाश, तृष्णा के नाश से निरुपम समभाव और ऐसे समभाव से क्रमशः मोक्ष का लाभ होता है।

क्रम की स्वाभाविकता तथा उपपत्तिः—जो अन्तर्दृष्टि वाले हैं, उन के जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव—सामायिक प्राप्त करना है। इस लिये उन के प्रत्येक व्यवहार में समभाव का दर्शन होता है। अन्तर्दृष्टि वाले जब किसी को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे उस के वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते है। इसी तरह वे समभाव-स्थित साधु पुरुष को वन्दन-नमस्कार करना भी नहीं भूलते। अन्तर्दृष्टि वालों के जीवन में ऐसी स्फूर्ति—अप्रमत्तता होती है कि कदाचित् वे पूर्ववासना-वश या कुसंसर्ग-वश समभाव से गिर जायँ, तब भी उस अप्रमत्तता के कारण प्रतिक्रमण करके वे अपनी पूर्व-प्राप्त स्थिति को फिर से पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व स्थिति से आगे भी बढ़ जाते हैं। ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन के विकास की कुंजी है। इस के लिये अन्तर्दृष्टि वाले बार बार ध्यान—कायोत्सर्ग किया करते हैं। ध्यान द्वारा चित्त-शुद्धि करते हुए वे आत्मस्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। अत एव जड वस्तुओं के भोग का परित्याग—प्रत्याख्यान भी उन के लिये साहजिक क्रिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि आध्यात्मिक पुरुषों के उच्च तथा स्वाभाविक जीवन का पृथक्करण ही 'आवश्यक-क्रिया' के क्रम का आधार है।

जब तक सामायिक प्राप्त न हो, तब तक चतुर्विंशतिस्तव भावपूर्वक किया ही नहीं जा सकता; क्योंकि जो स्वयं समभाव को प्राप्त नहीं है, वह समभाव में स्थित महात्माओं के गुणों को जान नहीं सकता और न उन से प्रसन्न हो कर उन की प्रशंसा ही कर सकता है। इस लिये सामायिक के बाद चतुर्विंशतिस्तव है।

चतुर्विंशतिस्तव का अधिकारी वन्दन को यथाविधि कर सकता है। क्योंकि जिस ने चौवीस तीर्थंकरों के गुणों से प्रसन्न हो कर उन की स्तुति नहीं की है, वह तीर्थंकरों के मार्ग के उपदेशक सद्गुरु को भावपूर्वक वन्दन कैसे कर सकता है। इसी से वन्दन को चतुर्विंशतिस्तव के बाद रक्खा है।

वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि आलोचना गुरु-समक्ष की जाती है। जो गुरु-वन्दन नहीं करता, वह आलोचना का अधिकारी ही नहीं। गुरु-वन्दन के सिवाय की जाने वाली आलोचना नाममात्र की आलोचना है; उस से कोई साध्य-सिद्धि नहीं हो सकती। सच्ची आलोचना करने वाले अधिकारी के परिणाम इतने नम्र और कोमल होते हैं कि जिस से वह आप ही आप गुरु के पैरों पर सिर नमाता है।

कायोत्सर्ग की योग्यता प्रतिक्रमण कर लेने पर ही आती है। इस का कारण यह है कि जब तक प्रतिक्रमण द्वारा पाप की आलोचना करके चित्त-शुद्धि न की जाय, तब तक धर्म-ध्यान या शुक्लध्यान के लिये एकाग्रता संपादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। आलोचना के द्वारा चित्त-शुद्धि किये विना जो कायोत्सर्ग करता है, उस के मुँह से चाहे किसी शब्द-विशेष का जप हुआ करे, लेकिन उस के दिल में उच्च ध्येय का विचार कभी नहीं आता। वह अनुभूत विषयों का ही चिन्तन किया करता है।

कायोत्सर्ग करके जो विशेष चित्त-शुद्धि, एकाग्रता और आत्म-बल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है। जिस ने एकाग्रता प्राप्त नहीं की है और संकल्प-बल भी पैदा नहीं किया है, वह यदि प्रत्याख्यान कर भी ले तो भी उस का ठीक-ठीक निर्वाह नहीं कर सकता। प्रत्याख्यान सब से ऊपर की 'आवश्यक-क्रिया' है। उस के लिये विशिष्ट चित्त-शुद्धि और विशेष उत्साह दरकार है, जो कायोत्सर्ग किये विना पैदा नहीं हो सकते। इसी अभिप्राय से कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान रक्खा गया है।

इस प्रकार विचार करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि छह 'आवश्यकों' का जो क्रम है, वह विशेष कार्य-कारण-भाव की शृङ्खला पर स्थित है। उस में उलट-फेर होने से उस की वह स्वाभाविकता नहीं रहती, जो कि उस में है।

'आवश्यक-क्रिया' की आध्यात्मिकता:—जो क्रिया आत्मा के विकास को लक्ष्य में रख कर की जाती है, वही आध्यात्मिक क्रिया है। आत्मा के विकास का मतलब उस के सम्यक्त्व, चेतना, चारित्र आदि गुणों की क्रमशः शुद्धि करने से है। इस कसोटी पर कसने से यह अभ्रान्त रीति से सिद्ध होता है कि सामायिक आदि छहों 'आवश्यक' आध्यात्मिक हैं। क्योंकि:—

सामायिक का फल पाप-जनक व्यापार की निवृत्ति है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का कारण है।

चतुर्विंशतिस्तव का उद्देश्य गुणानुराग की वृद्धि द्वारा गुण प्राप्त करना है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का साधन है।

वन्दन-क्रिया के द्वारा विनय की प्राप्ति होती है, मान खण्डित होता है, गुरु-जन की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुतधर्म की आराधना होती है, जो कि अन्त में आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा मोक्ष के कारण होते हैं। वन्दन करने वालों को नम्रता के कारण शास्त्र सुनने का अवसर मिलता है। शास्त्र-श्रवण द्वारा क्रमशः ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, अनास्रव, तप, कर्म-नाश, अक्रिया और सिद्धि, ये फल बतलाये गये हैं (आ०-नि०, गा० १२१५ तथा वृत्ति)। इस लिये वन्दन-क्रिया आत्मा के विकास का असंदिग्ध कारण है।

आत्मा वस्तुतः पूर्ण शुद्ध और पूर्ण बलवान् है, पर वह विविध वासनाओं के अनादि प्रवाह में पड़ने के कारण दोषों की अनेक तहों से दबसा गया है; इस लिये जब वह ऊपर उठने का कुछ प्रयत्न करता है, तब उस से अनादि अभ्यास-वश भूलें हो जाना सहज है। वह जब तक उन भूलों का संशोधन न करे, तब तक इष्ट-सिद्ध हो ही नहीं सकती। इस लिये पैर-पैर पर की हुई भूलों को याद करके प्रतिक्रमण द्वारा फिर से उन्हें न करने के लिये वह निश्चय कर लेता है। इस तरह से प्रतिक्रमण-क्रिया का उद्देश्य पूर्व दोषों को दूर करना और फिर से वैसे दोषों का न करने के लिये सावधान कर देना है, जिस से कि आत्मा दोष-मुक्त हो कर धीरे-धीरे अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाय। इसी से प्रतिक्रमण-क्रिया आध्यात्मिक है।

कायोत्सर्ग चित्त की एकाग्रता पैदा करता है और आत्मा को अपना स्वरूप विचारने का अवसर देता है, जिस से आत्मा निर्भय बन कर अपने कठिनतम उद्देश्य को सिद्ध कर सकता है। इसी कारण कायोत्सर्ग क्रिया भी आध्यात्मिक है।

दुनियाँ में जो कुछ है, वह सब न तो भोगा ही जा सकता है और न भोगने के योग्य ही है तथा वास्तविक शान्ति अपरिमित भोग से भी सम्भव नहीं है। इस लिये प्रत्याख्यान-क्रिया के द्वारा मुमुक्षु-गण अपने को व्यर्थ के भोगों से बचाते हैं और उस के द्वारा चिरकालीन आत्म-शान्ति पाते हैं। अत एव प्रत्याख्यान क्रिया भी आध्यात्मिक ही है।

भाव-आवश्यक यह लोकोत्तर-क्रिया है ; क्योंकि वह लोकोत्तर (मोक्ष) के उद्देश्य से आध्यात्मिक लोगों के द्वारा उपयोग-पूर्वक की जाने वाली क्रिया है। इस लिये पहले उस का समर्थन लोकोत्तर (शास्त्रीय व निश्चय) दृष्टि से किया जाता है और पीछे व्यावहारिक दृष्टि से भी उस का समर्थन किया जायगा। क्योंकि 'आवश्यक' है लोकोत्तर-क्रिया, पर उस के अधिकारी व्यवहार-निष्ठ होते हैं।

जिन तत्त्वों के होने से ही मनुष्य का जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से उच्च समझा जा सकता है और अन्त में विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है; वे तत्त्व ये हैं:—

(१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का संमिश्रण; (२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिये सर्वोपरि जीवन वाले महात्माओं को आदर्शरूप से पसन्द करके उन की ओर सदा दृष्टि रखना; (३) गुणवानों का बहुमान व विनय करना; (४) कर्त्तव्य की स्मृति तथा कर्त्तव्य-पालन में हो जाने वाली गलतियों का अवलोकन करके निष्कपट भाव से उन का संशोधन करना और फिर से वैसी गलतियाँ न हों, इस के लिये आत्मा को जागृत करना; (५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिये विवेक शक्ति का विकास करना और (६) त्याग-वृत्ति द्वारा संतोष व सहनशीलता को बढ़ाना।

इन तत्त्वों के आधार पर आवश्यक-क्रिया का महल खड़ा है। इस लिये शास्त्र कहता है कि 'आवश्यक-क्रिया' आत्मा को प्राप्त भाव (शुद्धि) से गिरने नहीं देती, उस को अपूर्व भाव भी प्राप्त कराती है तथा क्षायोपशमिक-भाव पूर्वक की जाने वाली क्रिया से पतित आत्मा की भी फिर से भाव-वृद्धि होती है। इस कारण गुणों की वृद्धि के लिये तथा प्राप्त गुणों से स्खलित न होने के लिये 'आवश्यक-क्रिया' का आचरण अत्यन्त उपयोगी है।

व्यवहार में आरोग्य, कौटुम्बिक नीति, सामाजिक नीति इत्यादि विषय संमिलित हैं।

आरोग्य के लिये मुख्य मानसिक प्रसन्नता चाहिये। यद्यपि दुनियाँ में ऐसे अनेक साधन है, जिन के द्वारा कुछ-न-कुछ मानसिक प्रसन्नता प्राप्त की जाती है, पर विचार कर देखने से यह मालूम पड़ता है कि स्थायी मानसिक प्रसन्नता उन पूर्वोक्त तत्त्वों के सिवाय किसी तरह प्राप्त नहीं हो सकती, जिन के ऊपर 'आवश्यक-क्रिया' का आधार है।

१—"गुणवद्बहुमानादे,-र्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया।
जातं न पातयेद्भाव,-मजातं जनयेदपि ॥५॥
क्षायोपशमिके भावे, या क्रिया क्रियते तया।
पतितस्यापि तद्भाव,-प्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥६॥
गुणवृद्ध्य ततः कुर्या,-त्क्रियामस्खलनाय वा।
एकं तु संयमस्थानं, जिनानामवतिष्ठते ॥७॥"

[ज्ञानसार, क्रियाष्टक।]

कौटुम्बिक नीति का प्रधान साध्य सम्पूर्ण कुटुम्ब को सुखी बनाना है। इस के लिये छोटे-बड़े—सब में एक दूसरे के प्रति यथोचित विनय, आज्ञा-पालन, नियमशीलता और अप्रमाद का होना ज़रूरी है। ये सब गुण 'आवश्यक-क्रिया' के आधारभूत पूर्वोक्त तत्त्वों के पोषण से सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

सामाजिक नीति का उद्देश्य समाज को सुव्यवस्थित रखना है। इस के लिये विचार-शीलता, प्रामाणिकता, दीर्घदर्शिता और गम्भीरता आदि गुण जीवन में आने चाहिये, जो 'आवश्यक-क्रिया' के प्राणभूत पूर्वोक्त छह तत्त्वों के सिवाय किसी तरह नहीं आ सकते।

इस प्रकार विचार करने से यह साफ़ जान पड़ता है कि शास्त्रीय तथा व्यावहारिक—दोनों दृष्टि से 'आवश्यक-क्रिया' का यथोचित अनुष्ठान परम-लाभ-दायक है।

प्रतिक्रमण शब्द की रूढि।

प्रतिक्रमण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रति+क्रमण=प्रतिक्रमण', ऐसी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उस का अर्थ 'पीछे फिरना,' इतना ही होता है, परन्तु रूढि के बल से 'प्रतिक्रमण' शब्द सिर्फ़ चौथे 'आवश्यक' का तथा छह 'आवश्यक' के समुदाय का भी बोध कराता है। अन्तिम अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई है कि आज-कल 'आवश्यक'

शब्द का प्रयोग न करके सब कोई छहों 'आवश्यकों' के लिये 'प्रतिक्रमण' शब्द काम में लाते हैं। इस तरह व्यवहार में और अर्वाचीन ग्रन्थों में 'प्रतिक्रमण' शब्द एक प्रकार से 'आवश्यक' शब्द का पर्याय हो गया है। प्राचीन ग्रन्थों में सामान्य 'आवश्यक' अर्थ में 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग कहीं देखने में नहीं आया। 'प्रतिक्रमणहेतुगर्भ', 'प्रतिक्रमणविधि', 'धर्मसंग्रह' आदि अर्वाचीन ग्रन्थों में 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त है और सर्व साधारण भी सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग अस्खलितरूप से करते हुए देखे जाते हैं।

'प्रतिक्रमण' के अधिकारी और उस की रीति पर विचार।

इस जगह 'प्रतिक्रमण' शब्द का मतलब सामान्य 'आवश्यक' अर्थात् छह 'आवश्यकों' से है। यहाँ उस के सम्बन्ध में मुख्य दो प्रश्नों पर विचार करना है। (१) प्रतिक्रमण' के अधिकारी कौन हैं? (२) 'प्रतिक्रमण'-विधान की जो रीति प्रचलित है, वह शास्त्रीय तथा युक्तिसंगत है या नहीं?

प्रथम प्रश्नका उत्तर यह है कि साधु-श्रावक—दोनों 'प्रतिक्रमण' के अधिकारी हैं; क्योंकि शास्त्र में साधु-श्रावक—दोनों के लिये सायंकालीन और प्रातःकालीन अवश्य-कर्त्तव्य-रूप से 'प्रतिक्रमण' का विधान है और अतिचार आदि प्रसंगरूप

१—"समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा।
अन्तो अहोणिसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥ २॥"
[आवश्यक-वृत्ति, पृष्ठ ५३]

कारण हो या नहीं; पर प्रथम और चरम तीर्थंकर के शासन में 'प्रतिक्रमण'-सहित ही धर्म बतलाया गया है।

दूसरा प्रश्न साधु तथा श्रावक—दोनों के 'प्रतिक्रमण' की रीति से सम्बन्ध रखता है। सब साधुओं को चारित्र-विषयक क्षयोपशम न्यूनाधिक भले ही हो, पर सामान्यरूप से वे सर्व-विरति वाले अर्थात् पञ्च महाव्रत को त्रिविध-त्रिविध-पूर्वक धारण करने वाले होते हैं। अत एव उन सब को अपने पञ्च महाव्रतों में लगे हुए अतिचारों के संशोधनरूप से आलोचना या 'प्रति-क्रमण' नामक चौथा 'आवश्यक' समानरूप से करना चाहिये और उस के लिये सब साधुओं को समान ही आलोचना सूत्र पढ़ना चाहिये, जैसा कि वे पढ़ते हैं। पर श्रावकों के सम्बन्धमें तर्क पैदा होता है। वह यह कि श्रावक अनेक प्रकार के हैं। कोई केवल सम्यक्त्व वाला—अव्रती होता है, कोई व्रती होता है। इस प्रकार किसी को अधिक से अधिक बारह तक व्रत होते हैं और संलेखना भी। व्रत भी किसी को द्विविध-त्रिविध से, किसी को एकविध-त्रिविध से, किसी को एकविध-द्विविध से, इत्यादि नाना प्रकार का होता है। अत एव श्रावक विविध अभिग्रह वाले कहे गये हैं (आवश्यक-निर्युक्ति, गा० १५५८ आदि)। भिन्न अभिग्रह वाले सभी श्रावक चौथे 'आवश्यक'

२—"सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥ १२४४ ॥"

[आवश्यक-निर्युक्ति ।]

के सिवाय शेष पाँच 'आवश्यक' जिस रीति से करते हैं और इस के लिये जो जो सूत्र पढ़ते हैं, इस विषय में तो शङ्का को स्थान नहीं है; पर वे चौथे 'आवश्यक' को जिस प्रकार से करते हैं और उस के लिये जिस सूत्र को पढ़ते हैं, उस के विषय में शङ्का अवश्य होती है।

वह यह कि चौथा 'आवश्यक' अतिचार-संशोधन-रूप है। ग्रहण किये हुए व्रत-नियमों में ही अतिचार लगते हैं। ग्रहण किये हुए व्रत-नियम सब के समान नहीं होते। अत एव एक ही 'वंदित्तु' सूत्र के द्वारा सभी श्रावक—चाहे व्रती हो या अव्रती सम्यक्त्व, बारह व्रत तथा संलेखना के अतिचारों का जो संशोधन करते हैं, वह न्याय-संगत कैसे कहा जा सकता है? जिस ने जो व्रत ग्रहण किया हो, उस को उसी व्रत के अतिचारों का संशोधन 'मिच्छा मि दुक्कडं' आदि द्वारा करना चाहिये। ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के सम्बन्ध में तो उस को अतिचार-संशोधन न करके उन व्रतों के गुणों का विचार करना चाहिये और गुण-भावना द्वारा उन व्रतों के स्वीकार करने के लिये आत्म-सामर्थ्य पैदा करना चाहिये। ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के अतिचार का संशोधन यदि युक्त समझा जाय तो फिर श्रावक के लिये पञ्च 'महाव्रत के अतिचारों का संशोधन भी युक्त मानना पड़ेगा। ग्रहण किये हुए या ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के सम्बन्ध में श्रद्धा-विपर्यास हो जाने पर 'मिच्छा मि दुक्कडं' आदि द्वारा उस का प्रतिक्रमण करना, यह तो सब

अधिकारियों के लिये समान हैं। पर यहाँ जो प्रश्न है, वह अतिचार-संशोधन-रूप प्रतिक्रमण के सम्बन्ध का ही है अर्थात् ग्रहण नही किये हुए व्रत-नियमों के अतिचार-संशोधन के उस उस सूत्रांश को पढ़ने की और 'मिच्छा मि दुक्कडं' आदि द्वारा प्रतिक्रमण करने की जो रीति प्रचलित है, उस का आधार क्या है?

इस शङ्का का समाधान इतना ही है कि अतिचार-संशोधन-रूप 'प्रतिक्रमण' तो ग्रहण किये हुए व्रतों का ही करना युक्ति-संगत है और तदनुसार ही सूत्रांश पढ़ कर 'मिच्छा मि दुक्कडं' आदि देना चाहिये। ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के सम्बन्ध में श्रद्धा-विपर्यास का 'प्रतिक्रमण' भले ही किया जाय, पर अति-चार-संशोधन के लिये उस उस सूत्रांश को पढ़ कर 'मिच्छा मि दुक्कडं' आदि देने की अपेक्षा उन व्रतों के गुणों की भावना करना तथा उन व्रतों को धारण करने वाले उच्च श्रावकों को धन्यवाद दे कर गुणानुराग पुष्ट करना ही युक्ति-संगत है।

अब प्रश्न यह है कि जब ऐसी स्थिति है, तब व्रती-अव्रती, छोटे-बड़े—सभी श्रावकों में एक ही 'वंदित्तु' सूत्र के द्वारा समानरूप से अतिचार का संशोधन करने की जो प्रथा प्रचलित है, वह कैसे चल पड़ी है?

इस का खुलासा यह जान पड़ता है कि प्रथम तो सभी को 'आवश्यक' सूत्र पूर्णतया याद नही होता। और अगर याद भी हो, तब भी साधारण अधिकारियों के लिये अकेले की अपेक्षा समुदाय

में ही मिल कर 'आवश्यक' करना लाभदायक माना गया है। तीसरे जब कोई सब से उच्च श्रावक अपने लिये सर्वथा उपयुक्त सम्पूर्ण 'वंदित्तु' सूत्र पढ़ता है, तब प्राथमिक और माध्यामिक— सभी अधिकारियों के लिये उपयुक्त वह-वह सूत्रांश भी उस में आ ही जाता है। इन कारणों से ऐसी सामुदायिक प्रथा पड़ी है कि एक व्यक्ति सम्पूर्ण 'वंदित्तु' सूत्र पढ़ता है और शेष श्रावक उच्च अधिकारी श्रावक का अनुकरण करके सब व्रतों के सम्बन्ध में अतिचार का संशोधन करने लग जाते हैं। इस सामुदायिक प्रथा के रूढ हो जाने के कारण जब कोई प्राथमिक या माध्यमिक श्रावक अकेला प्रतिक्रमण करता है, तब भी वह 'वंदित्तु' सूत्र को सम्पूर्ण ही पढ़ता है और ग्रहण नहीं किये हुए व्रतों के अतिचार का भी संशोधन करता है।

इस प्रथा के रूढ हो जाने का एक कारण यह और भी मालूम पड़ता है कि सर्व साधारण में विवेक की यथेष्ट मात्रा नहीं होती। इस लिये 'वंदित्तु' सूत्र में से अपने-अपने लिये उपयुक्त सूत्रांशों को चुन कर बोलना और शेष सूत्रांशों को छोड़ देना, यह काम सर्व साधारण के लिये जैसा कठिन है, वैसा ही विषमता तथा गोलमाल पैदा करने वाला भी है। इस कारण यह नियम[1] रक्खा गया है कि सूत्र अखण्डितरूप से ही

१—"अखण्डं सूत्रं पठनीयमिति न्यायात्।" [धर्मसंग्रह, पृष्ठ २२३।]

पढ़ना चाहिये। यही कारण है कि जब सभा को या किसी एक व्यक्ति को 'पच्चक्खाण' कराया जाता है, तब ऐसा सूत्र पढ़ा जाता है कि जिस में अनेक 'पच्चक्खाणों' का समावेश हो जाता है, जिस से सभी अधिकारी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार 'पच्चक्खाण' कर लेते हैं।

इस दृष्टि से यह कहना पड़ता है कि 'वंदित्तु' सूत्र अखण्डितरूप से पढ़ना न्याय व शास्त्र-संगत है। रही अतिचार-संशोधन में विवेक करने की बात, सो उस को विवेकी अधिकारी खुशी से कर सकता है। इस में प्रथा बाधक नहीं है।

'प्रतिक्रमण' पर होने वाले आक्षेप और उन का परिहार।

'आवश्यक-क्रिया' की उपयोगिता तथा महत्ता नहीं समझने वाले अनेक लोग उस पर आक्षेप किया करते हैं। वे आक्षेप मुख्य चार हैं। पहला समय का, दूसरा अर्थ-ज्ञान का, तीसरा भाषा का और चौथा अरुचि का।

(१) कुछ लोग कहते हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' इतनी लम्बी और बेसमय की है कि उस में फँस जाने से घूमना, फिरना और विश्रान्ति करना कुछ भी नहीं होता। इस से स्वास्थ्य और स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। इस लिये 'आवश्यक-क्रिया' में फँसने की कोई ज़रूरत नहीं है। ऐसा कहने वालों को समझना चाहिये कि साधारण लोग प्रमादशील और कर्त्तव्य-ज्ञान से शून्य होते हैं। इस लिये जब उन को कोई खास कर्त्तव्य करने को कहा जाता है, तब वे दूसरे कर्त्तव्य की उपयोगिता व महत्ता

दिखा कर पहले कर्त्तव्य से अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं और अन्त में दूसरे कर्त्तव्य को भी छोड़ देते हैं। घूमने-फिरने आदि का बहाना निकालने वाले वास्तव में आलसी होता है। अत एव वे निरर्थक बात, गपोड़ें आदि में लग कर 'आवश्यक-क्रिया' के साथ धीरे धीरे घूमना-फिरना और विश्रान्ति करना भी भूल जाते हैं। इस के विपरीत जो अप्रमादी तथा कर्त्तव्यज्ञ होते हैं, वे समय का यथोचित उपयोग करके स्वास्थ्य के सब नियमों का पालन करने के उपरान्त 'आवश्यक' आदि धार्मिक क्रियायों को भी करना नहीं भूलते। ज़रूरत सिर्फ़ प्रमाद के त्याग करने की और कर्त्तव्य का ज्ञान करने की है।

(२) दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' करने वालों में से अनेक लोग उस के सूत्रों का अर्थ नही जानते। वे तोते की तरह ज्यों के त्यों सूत्रमात्र पढ़ लेते हैं। अर्थ ज्ञान न होने से उन्हें उस क्रिया में रस नहीं आता। अत एव वे उस क्रिया को करते समय या तो सोते रहते या कुतूहल आदि से मन बहलाते हैं। इसलिये 'आवश्यक-क्रिया' में फँसना बन्धन-मात्र है। ऐसा आक्षेप करने वालों के उक्त कथन से ही यह प्रमाणित होता है कि यदि अर्थ-ज्ञान-पूर्वक 'आवश्यक-क्रिया की जाय तो वह सफल हो सकती है। शास्त्र भी यही बात कहता है। उस में उपयोगपूर्वक क्रिया करने को कहा है। उपयोग ठीक-ठीक तभी रह सकता है, जब कि अर्थ-ज्ञान हो; ऐसा होने पर भी यदि कुछ लोग अर्थ विना समझे 'आव-

श्यक-क्रिया' करते हैं और उस से पूरा लाभ नहीं उठा सकते तो उचित यही है कि ऐसे लोगों को अर्थ का ज्ञान हो, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा न करके मूल 'आवश्यक' वस्तु को ही अनुपयोगी समझना, ऐसा है जैसा कि विधि न जानने से किंवा अविधिपूर्वक सेवन करने से फ़ायदा न देख कर क़ीमती रसायन को अनुपयोगी समझना। प्रयत्न करने पर भी वृद्ध-अवस्था, मतिमन्दता आदि कारणों से जिन को अर्थ-ज्ञान न हो सके, वे अन्य किसी ज्ञानी के आश्रित हो कर ही धर्म-क्रिया करके उस से फ़ायदा उठा सकते हैं। व्यवहार में भी अनेक लोग ऐसे देखे जाते हैं, जो ज्ञान की कमी के कारण अपने काम को स्वतन्त्रता से पूर्णतापूर्वक नहीं कर सकते, वे किसी के आश्रित हो कर ही काम करते हैं और उस से फ़ायदा उठाते हैं। ऐसे लोगों की सफलता का कारण मुख्यतया उन की श्रद्धा ही होती है। श्रद्धा का स्थान बुद्धि से कम नहीं है। अर्थ-ज्ञान होने पर भी धार्मिक-क्रियाओं में जिन को श्रद्धा नहीं है, वे उन से कुछ भी फ़ायदा नहीं उठा सकते। इस लिये श्रद्धापूर्वक धार्मिक क्रिया करते रहना और भरसक उस के सूत्रों का अर्थ भी जान लेना, यही उचित है।

(३) अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' के सूत्रों की रचना जो सँस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन शास्त्रीय भाषा में है, इस के बदले वह प्रचलित लोक-भाषा में ही होनी चाहिये।

ज़ब तक ऐसा न हो तब तक 'आवश्यक-क्रिया' विशेष उपयोगी नहीं हो सकती। ऐसा कहने वाले लोग मन्त्रों की शाब्दिक महिमा तथा शास्त्रीय भाषाओं की गम्भीरता, भावमयता, ललितता आदि गुण नहीं जानते। मन्त्रों में आर्थिक महत्त्व के उपरान्त शाब्दिक महत्त्व भी रहता है, जो उन को दूसरी भाषा में परिवर्तन करने से लुप्त हो जाता है। इस लिये जो-जो मन्त्र जिस-जिस भाषा में बने हुए हों, उन को उसी भाषा में रखना ही योग्य है। मन्त्रों को छोड़ कर अन्य सूत्रों का भाव प्रचलित लोक-भाषा में उतारा जा सकता है, पर उस की वह खूबी कभी नहीं रह सकती, जो कि प्रथमकालीन भाषा में है।

'आवश्यक-क्रिया' के सूत्रों को प्रचलित लोक-भाषा में रचने से प्राचीन महत्त्व के साथ-साथ धार्मिक-क्रिया-कालीन एकता का भी लोप हो जायगा और सूत्रों की रचना भी अनवस्थित हो जायगी। अर्थात् दूर-दूर देश में रहने वाले एक धर्म के अनुयायी जब तीर्थ आदि स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब आचार, विचार, भाषा, पहनाव आदि में भिन्नता होने पर भी वे सब धार्मिक क्रिया करते समय एक ही सूत्र पढ़ते हुए और एक ही प्रकार की विधि करते हुए पूर्ण एकता का अनुभव करते हैं। यह एकता साधारण नहीं है। उस को बनाये रखने के लिये धार्मिक क्रियाओं के सूत्रपाठ आदि को शास्त्रीय भाषा में क़ायम रखना बहुत ज़रूरी है। इसी तरह धार्मिक क्रियाओं के सूत्रों की रचना प्रचलित लोक-भाषा में होने लगेगी तो हर जगह

समय-समय पर साधारण कवि भी अपनी कवित्व-शक्ति का उपयोग नये-नये सूत्रों को रचने में करेंगे। इस का परिणाम यह होगा कि एक ही प्रदेश में जहाँ की भाषा एक है, अनेक कर्त्ताओं के अनेक सूत्र हो जायँगे और विशेषता का विचार न करने वाले लोगों में से जिस के मन में जो आया, वह उसी कर्त्ता के सूत्रों को पढ़ने लगेगा। जिस से अपूर्व भाव वाले प्राचीन सूत्रों के साथ-साथ एकता का भी लोप हो जायगा। इस लिये धार्मिक क्रिया के सूत्र-पाठ आदि जिस-जिस भाषा में पहले से बने हुए हैं, वे उस-उस भाषा में ही पढ़े जाने चाहिये। इसी कारण वैदिक, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदायों में 'संध्या' आदि नित्य-कर्म प्रचीन शास्त्रीय भाषा में ही किये जाते हैं।

यह ठीक है कि सर्व साधारण कि रुचि बढाने के लिये प्रचलित लोक-भाषा की भी कुछ कृतियाँ ऐसी होनी चाहिये, जो धार्मिक क्रिया के समय पढ़ी जायँ। इसी बात को ध्यान में रख कर लोक-रुचि के अनुसार समय-समय पर सँस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में स्तोत्र, स्तुति, सज्झाय, स्तवन आदि बनाये हैं और उन को 'आवश्यक-क्रिया' में स्थान दिया है। इस से यह फ़ायदा हुआ कि प्राचीन सूत्र तथा उन का महत्त्व ज्यो का त्यों बना हुआ है और प्रचलित लोक-भाषा की कृतियों से साधारण जनता की रुचि भी पुष्ट होती रहती है।

(४) कितनेक लोगों का यह भी कहना है कि 'आवश्यक-क्रिया' अरुचिकर है—उस में कोई रस नहीं आता। ऐसे लोगों को जानना चाहिये कि रुचि या अरुचि बाह्य वस्तु का धर्म नहीं है; क्योंकि कोई एक चीज़ सब के लिये रुचिकर नहीं होती। जो चीज़ एक प्रकार के लोगों के लिये रुचिकर है, वही दूसरे प्रकार के लोगों के लिये अरुचिकर हो जाती है। रुचि, यह अन्तःकरण का धर्म है। किसी चीज़ के विषय में उस का होना न होना उस वस्तु के ज्ञान पर अवलम्बित है। जब मनुष्य किसी वस्तु के गुणों को ठीक-ठीक जान लेता है, तब उस की उस वस्तु पर प्रबल रुचि हो जाती है। इस लिये 'आवश्यक-क्रिया' को अरुचिकर बतलाना, यह उस के महत्त्व तथा गुणों का अज्ञानमात्र है।

जैन और अन्य-संप्रदायों का 'आवश्यक-कर्म'—सन्ध्या आदि।

'आवश्यक-क्रिया' के मूल तत्त्वों को दिखाते समय यह सूचित कर दिया गया है कि सभी अन्तर्दृष्टि वाले आत्माओं का जीवन समभावमय होता है। अन्तर्दृष्टि किसी ख़ास देश या ख़ास काल की शृङ्खला में आवद्ध नहीं होती। उस का आविर्भाव सब देश और सब काल के आत्माओं के लिये साधारण होता है। अत एव उस को पाना तथा बढ़ाना सभी आध्यात्मिकों का ध्येय बन जाता है। प्रकृति, योग्यता और निमित्त-भेद के कारण इतना तो होना स्वाभाविक है, कि किसी

देश-विशेष, किसी काल-विशेष और किसी व्यक्ति-विशेषमें अन्तर्दृष्टि का विकास कम होता है और किसी में अधिक होता है। इस लिये आध्यात्मिक जीवन को ही वास्तविक जीवन समझने वाले तथा उस जीवन की वृद्धि चाहने वाले सभी सम्प्रदाय के प्रवर्तकों ने अपने-अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का, उस जीवन के तत्त्वों का तथा उन तत्त्वों का अनुसरण करते समय जानते-अनजानते हो जाने वाली गलतियों को सुधार कर फिर से वैसा न करने का उपदेश दिया है। यह हो सकता है कि भिन्न-भिन्न संप्रदाय-प्रवर्त्तकों की कथन-शैली भिन्न हो, भाषा भिन्न हो और विचार में भी न्यूनाधिकता हो; पर यह कदापि संभव नहीं कि आध्यात्मिक जीवन-निष्ठ उपदेशकों के विचार का मूल एक न हो। इस जगह 'आवश्यक-क्रिया' प्रस्तुत है। इस लिये यहाँ सिर्फ़ उस के सम्बन्ध में ही भिन्न-भिन्न संप्रदायों का विचार-साम्य दिखाना उपयुक्त होगा। यद्यपि सब प्रसिद्ध संप्रदायों की सन्ध्या का थोड़ा-बहुत उल्लेख करके उन का विचार-साम्य दिखाने का इरादा था; पर यथेष्ट साधन न मिलने से इस समय थोड़े में ही संतोष कर लिया जाता है। यदि इतना भी उल्लेख पाठकों को रुचिकर हुआ तो वे स्वयं ही प्रत्येक संप्रदाय के मूल ग्रन्थों को देख कर प्रस्तुत विषय में अधिक जानकारी कर लेंगे। यहाँ सिर्फ़ जैन, बौद्ध, वैदिक और जरथोश्ती अर्थात् पारसी धर्म का वह विचार दिखाया जाता है।

बौद्ध लोग अपने मान्य 'त्रिपिटक'-ग्रन्थों में से कुछ सूत्रों को लेकर उन का नित्य पाठ करते हैं। एक तरह से वह उन का अवश्य कर्त्तव्य है। उस में से कुछ वाक्य और उन से मिलते-जुलते 'प्रतिक्रमण' के वाक्य नीचे दिये जाते हैं।

बौद्धः—

(१) "नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासंबुद्धस्स।"

"बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि। संघं सरणं गच्छामि।" [लघुपाठ, सरणत्तय।]

(२) "पाणातिपाता वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। अदिन्नादाना वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। कामेसु मिच्छाचारा वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। मुसावादा वेरमणि सिक्खापदं समादियामि। सुरामेरयमज्जपमादट्ठाना वेरमणि सिक्खापदं समादियामि।" [लघुपाठ, पंचसील।]

(३) "असेवना च बालानं, पण्डितानं च सेवना।
पूजा च पूजनीयानं, एतं मंगलमुत्तमं॥"
"मातापितु उपट्ठानं, पुत्तदारस्स संगहो।
अनाकुला च कम्मन्ता, एतं मंगलमुत्तमं॥
दानं च धम्मचरिया च, ञातकानं च संगहो।
अनवज्जानि कम्मानि, एतं मंगलमुत्तमं॥
आरति विरति पापा, मज्जपाना च संयमो।
अप्पमादो च धम्मेसु, एतं मंगलमुत्तमं॥"

"खन्ति च सोवचस्सता, समणानं च दस्सनं।
कालेन धम्मसाकच्छा, एतं मंगलमुत्तमं ॥"
[लघुपाठ, मंगलसुत्त।]

(४) "सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता ॥"

"माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवंपि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं॥
मेत्तं च सब्बलोकस्मिन् मानसं भावये अपरिमाणं।
उद्धं अधो च तिरियं च असंबाधं अवेरं असपत्तं॥"
[लघुपाठ, मेत्तसुत्त (१)।]

जैनः—

(१) "नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं।"

"चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि, केवली-पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥"

(२) "थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, थूलगमुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, थूलगअदत्तादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, परदारगमणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, सदारसंतोसं वा पडिवज्जइ।" इत्यादि।
[आवश्यक-सूत्र, पृ० ८१८–८२३।]

(३) "लोगविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआपरत्थकरणं च।
सुहगुरुजोगो तव्वय,-णसेवणा आभवमखंडा॥"

"दुक्खखओ कम्मखओ, समाहिमरणं च बोहिलाभो अ।"
संपज्जउ मह एयं, तुह नाह पणामकरणेणं ॥"

[जय वयिराय।]

(४)"मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई ॥"
"शिवमस्तु सर्वजगतः, परहितानिरता भवन्तु भूतगणाः
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥"

वैदिक सन्ध्या के कुछ मन्त्र व वाक्यः—

(१) "ममोपात्तदुरितक्षयाय श्रीपरमेश्वरप्रीतये प्रातः सन्ध्योपासनमहं करिष्ये।" [संकल्प-वाक्य ।]

(२) "ॐ सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत् किंचिद् दुरितं मयीदमहममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।" [कृष्ण यजुर्वेद ।]

(३) "ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही धियो योनः प्रचोदयात्।" [गायत्री ।]

जैनः—

(१) "पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं।"

(२) "जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाएण भासियं पावं।
जं जं काएण कयं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥"

(३) "चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगम्भीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसन्तु॥"

पारसी लोग नित्यप्रार्थना तथा नित्यपाठ में अपनी असली धार्मिक किताब 'अवस्ता' का जो-जो भाग काम में लेते हैं, वह 'खोरदेह अवस्ता' के नाम से प्रसिद्ध है। उस का मज़मून अनेक अंशों में जैन, बौद्ध तथा वैदिक-संप्रदाय में प्रचलित सन्ध्या के समान है। उदाहरण के तौर पर उस का थोड़ासा अंश हिन्दी भाषा में नीचे दिया जाता है।

अवस्ता के मूल वाक्य इस लिये उद्धृत नहीं किये हैं कि उस के ख़ास अक्षर ऐसे हैं, जो देवनागरी लिपि में नहीं हैं। विशेष-जिज्ञासु मूल पुस्तक से असली पाठ देख सकते हैं।

(१) "दुश्मन पर जीत हो।" [खोरदेह अवस्ता, पृ० ७।]

(२) "मैं ने मन से जो बुरे विचार किये, ज़बान से जो तुच्छ भाषण किया और शरीर से जो हलका काम किया; इत्यादि प्रकार के जो-जो गुनाह किये, उन सब के लिये मैं पश्चात्ताप करता हूँ।" [खो० अ०, पृ० ७।]

(३) "वर्तमान और भावी सब धर्मों में सब से बड़ा, सब से अच्छा और सर्व-श्रेष्ठ धर्म 'जरथोश्ती' है। मैं यह बात मान लेता हूँ कि 'जरथोश्ती' धर्म ही सब कुछ पाने का कारण है।" [खो० अ०, पृ० ९।]

(४) "अभिमान, गर्व, मरे हुए लोगों की निन्दा करना, लोभ, लालच, बेहद गुस्सा, किसी की बढ़ती देख कर जलना, किसी पर बुरी निगाह करना, स्वच्छन्दता, आलस्य, कानाफूँसी, पवित्रता का भङ्ग, झूठी गवाही, चोरी, लूट-खसोट, व्यभिचार, बेहद शोक करना, इत्यादि जो गुनाह मुझ से जानते-अनजानते हो गये हों और जो गुनाह साफ़ दिल से मैं ने प्रकट न किये हों, उन सब से मैं पवित्र हो कर अलग होता हूँ।" [खो० अ०, पृ० २३-२४।]

(१) "शत्रवः पराङ्मुखाः भवन्तु स्वाहा।"

[बृहत् शान्ति।]

(२) "काएण काइयस्स, पडिक्कमे वाइयस्स वायाए।
मणसा माणसियस्स, सव्वस्स वयाइयारस्स॥"

[वंदित्तु।]

(३) "सर्वमंगलमांगल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्॥"

(४) "अठारह पापस्थान।"

'आवश्यक' का इतिहास।

'आवश्यक-क्रिया':—अन्तर्दृष्टि के उन्मेष व आध्यात्मिक जीवन के आरम्भ से 'आवश्यक-क्रिया' का इतिहास शुरू होता है। सामान्यरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि विश्व में आध्यात्मिक जीवन सब से पहले कब शुरू हुआ। इस लिये 'आवश्यक-क्रिया' भी प्रवाह की अपेक्षा से अनादि ही मानी जाती है।

'आवश्यक-सूत्र':— जो व्यक्ति सच्चा आध्यात्मिक है, उस का जीवन स्वभाव से ही 'आवश्यक-क्रिया'-प्रधान बन जाता है। इस लिये उस के हृदय के अन्दर से 'आवश्यक-क्रिया'-द्योतक ध्वनि उठा ही करती है। परन्तु जब तक साधक-अवस्था हो, तब तक व्यावहारिक, धार्मिक--सभी प्रवृत्ति करते समय प्रमाद-वश 'आवश्यक-क्रिया' में से उपयोग बदल जाने का और इसी कारण तद्विषयक अन्तर्ध्वनि भी बदल जाने का बहुत संभव रहता है। इस लिये ऐसे अधिकारियों को लक्ष्य में रख कर 'आवश्यक-क्रिया' को याद कराने के लिये महर्षियों ने ख़ास ख़ास समय नियत किया है और 'आवश्यक-क्रिया' को याद कराने वाले सूत्र भी रचे हैं। जिस से कि अधिकारी लोग ख़ास नियत समय पर उन सूत्रों के द्वारा 'आवश्यक-क्रिया' को याद कर अपने आध्यात्मिक जीवन पर दृष्टि-पात करें। अत एव 'आवश्यक-क्रिया' के दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि पाँच भेद प्रसिद्ध हैं। 'आवश्यक-क्रिया' के इस काल-कृत विभाग के अनुसार उस के सूत्रों में भी यत्र-तत्र भेद आ जाता है। अब देखना यह है कि इस समय जो 'आवश्यक-सूत्र' है, वह कब बना है और उस के रचयिता कौन हैं?

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि 'आवश्यक-सूत्र' ईस्वी सन् से पूर्व पाँचवीं शताब्दि से ले कर चौथी शताब्दि के प्रथम पाद तक में किसी समय रचा हुआ होना चाहिये। इस का कारण यह है कि ईस्वी सन् से पूर्व पाँच सौ छब्बीसवें वर्ष में भगवान्

महावीर का निर्वाण हुआ। वीर-निर्वाण के बीस वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी का निर्वाण हुआ। सुधर्मा स्वामी गणधर थे। 'आवश्यक-सूत्र' न तो तीर्थङ्कर की ही कृति है और न गणधर की। तीर्थङ्कर की कृति इस लिये नहीं कि वे अर्थ का उपदेशमात्र करते हैं, सूत्र नही रचते। गणधर सूत्र रचते हैं सही; पर 'आवश्यक-सूत्र' गणधर-रचित न होने का कारण यह है कि उस सूत्र की गणना अङ्गबाह्यश्रुत में है। अङ्गबाह्यश्रुत का लक्षण श्रीउमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-भाष्य में यह किया है कि जो श्रुत, गणधर की कृति नहीं है और जिस की रचना गणधर के बाद के परममेधावी आचार्यों ने की है, वह 'अङ्गबाह्य-श्रुत' कहलाता है[1]।

ऐसा लक्षण करके उस का उदाहरण देते समय उन्हों ने सब से पहले सामायिक आदि छह 'आवश्यकों' का उल्लेख किया है और इस के बाद दशवैकालिक आदि अन्य सूत्रों का[2]। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि दशवैकालिक, श्रीशय्यंभव सूरि, जो सुधर्मा स्वामी के बाद तीसरे आचार्य हुए, उन की कृति है।

१—"गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्यैः कालसंहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत्प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति।" [तत्त्वार्थ-अध्याय १, सूत्र २० का भाष्य।]

२—"अङ्गबाह्यमनेकविधम्। तद्यथा—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकमुत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यवहारौ निशीथमृषिभाषितान्येवमादि।" [तत्त्वार्थ-अ० १, सूत्र २० का भाष्य।]

अङ्गबाह्य होने के कारण 'आवश्यक-सूत्र', गणधर श्रीसुधर्मा स्वामी के बाद के किसी आचार्य का रचित माना जाना चाहिये। इस तरह उस की रचना के काल की पहली मियाद अधिक से अधिक ईस्वी सन् से पहले लगभग पाँचवीं शताब्दि के आरम्भ तक ही बताई जा सकती है। उस के रचना-काल की उत्तर अवधि अधिक से अधिक ईस्वी सन् से पूर्व चौथी शताब्दि का प्रथम चरण ही माना जा सकता है; क्योंकि चतुर्दश-पूर्व-धर श्रीभद्रबाहु स्वामी जिन का अवसान ईस्वी सन् से पूर्व तीन सौ छप्पन वर्ष के लगभग माना जाता है, उन्हों ने 'आवश्यक-सूत्र' पर सब से पहले व्याख्या लिखी है, जो निर्युक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह तो प्रसिद्ध[1] है कि निर्युक्ति ही श्रीभद्रबाहु की है, संपूर्ण मूल 'आवश्यक-सूत्र' नहीं। ऐसी अवस्था में मूल 'आव-श्यक-सूत्र' अधिक से अधिक उन के कुछ पूर्ववर्ती या समकालीन किसी अन्य श्रुतधर के रचे हुए मानने चाहिये। इस दृष्टि से यही मालूम होता है कि 'आवश्यक' का रचना-काल ईस्वी सन् से पूर्व पाँचवीं शताब्दि से ले कर चौथी शताब्दि के प्रथम चरण तक में होना चाहिये।

१—प्रसिद्ध कहने का मतलब यह है कि श्रीशीलाङ्क सूरि अपनी आचा-रङ्ग-वृत्ति में सूचित करते हैं कि 'आवश्यक' के अन्तर्गत चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) ही श्रीभद्रबाहु स्वामी ने रचा है—"आवश्यकान्तर्भूतश्चतुर्विंशति-स्तवस्त्वारातीयकालभाविना श्रीभद्रबाहुस्वामिनाऽकारि" पृ० ८३। इस कथन से यह साफ़ जान पड़ता है कि शीलाङ्क सूरि के ज़माने में यह बात मानी जाती थी कि सम्पूर्ण 'आवश्यक-सूत्र' श्रीभद्रबाहु की कृति नहीं है।

दूसरा प्रश्न कर्त्ता का है। 'आवश्यक-सूत्र' के कर्ता कौन व्यक्ति हैं? उस के कर्ता कोई एक ही आचार्य हैं या अनेक हैं? इस प्रश्न के प्रथम अंश के विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। दूसरे अंश का उत्तर यह है कि "आवश्यक-सूत्र" किसी एक की कृति नहीं है। अलबत्ता यह आश्चर्य की बात है कि संभवतः 'आवश्यक-सूत्र' के बाद तुरन्त ही या उस के सम-समय में रचे जाने वाले दशवैकालिक के कर्तारूप से श्रीशय्यंभव सूरि का निर्देश स्वयं श्रीभद्रबाहु ने किया है (दशवैकालिक-निर्युक्ति, गा० १४-१५); पर 'आवश्यक-सूत्र' के कर्ता का निर्देश नहीं किया है। श्रीभद्रबाहु स्वामी निर्युक्ति रचते समय जिन दस आगमों के ऊपर निर्युक्ति करने की प्रतिज्ञा करते है, उन के उल्लेख में दशवैकालिक के भी पहले 'आवश्यक' का उल्लेख है[1]। यह कहा जा चुका है कि दशवैकालिक श्रीशय्यंभव सूरि की कृति है। यदि दस आगमों के उल्लेख का क्रम, काल-क्रम का सूचक है तो यह मानना पड़ेगा कि 'आवश्यक-सूत्र' श्रीशय्यंभव सूरि के पूर्ववर्ती किसी अन्य स्थविर की, किंवा शय्यंभव सूरि के समकालीन किन्तु उन से बड़े किसी अन्य स्थविर की कृति

१ "आवस्सगस्स दसका,-लिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्ति, वुच्छामि तहा दसाणं च ॥ ८४ ॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरि अपण्णत्तीए, वुच्छं इसिभासिआणं च ॥ ८५ ॥"

होनी चाहिये। तत्त्वार्थ-भाष्य-गत 'गणधरानन्तर्यादिभिः' इस अंश में वर्तमान 'आदि' पद से तीर्थंकर-गणधर के बाद के अव्यवहित स्थविर की तरह तीर्थंकर-गणधर के समकालीन स्थविर का भी ग्रहण किया जाय तो 'आवश्यक-सूत्र' का रचना-काल ईस्वी सन् से पूर्व अधिक से अधिक छठी शताब्दि का अन्तिम चरण ही माना जा सकता है और उस के कर्तारूप से तीर्थंकर-गणधर के समकालीन कोई स्थविर माने जा सकते हैं। जो कुछ हो, पर इतना निश्चित जान पड़ता है कि तीर्थंकर के समकालीन स्थविरों से ले कर भद्रबाहु के पूर्ववर्ती या समकालीन स्थविरों तक में से ही किसी की कृति 'आवश्यक सूत्र' है।

मूल 'आवश्यक-सूत्र' की परीक्षण-विधिः—मूल 'आवश्यक' कितना है अर्थात् उस में कौन-कौन सूत्र सन्निविष्ट हैं, इस की परीक्षा करना ज़रूरी है; क्योंकि आज-कल साधारण लोग यही समझ रहे हैं कि 'आवश्यक-क्रिया' में जितने सूत्र पढ़े जाते हैं, वे सब मूल 'आवश्यक' के ही हैं।

मूल 'आवश्यक' को पहचानने के उपाय दो हैंः—पहला यह कि जिस सूत्र के ऊपर शब्दशः किंवा अधिकांश शब्दों की सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति हो, वह सूत्र मूल 'आवश्यक'-गत है। और दूसरा उपाय यह है कि जिस सूत्र के ऊपर शब्दशः किंवा अधिकांश शब्दों की सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति नहीं है; पर जिस सूत्र का अर्थ सामान्यरूप से भी निर्युक्ति में वर्णित है या जिस सूत्र के

किसी-किसी शब्द पर निर्युक्ति है या जिस सूत्र की व्याख्या करते समय आरम्भ में टीकाकार श्रीहरिभद्र सूरि ने "सूत्रकार आह, तच्च इदं सूत्रं, इमं सूत्तं" इत्यादि प्रकार का उल्लेख किया है, वह सूत्र भी मूल 'आवश्यक'-गत समझना चाहिये।

पहले उपाय के अनुसार "नमुक्कार, करेमि भंते, लोगस्स, इच्छामि खमासमणो, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, नमुक्कारसहिय आदि पच्चक्खाण," इतने सूत्र मौलिक जान पड़ते हैं।

दूसरे उपाय के अनुसार "चत्तारि मंगलं, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ, इरियावहियाए, पगामसिज्जाए, पडिक्कमामि गोयरचरियाए, पडिक्कमामि चाउक्कालं, पडिक्कमामि एगविहे, नमो चउविसाए, इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं, सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं, इच्छामि खमासमणो उवट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं, इच्छामि खमासमणो पियं च मे, इच्छामि खमासमणो पुव्वि चे पूयाइं, इच्छामि खमासमणो उव्वट्ठिओमि तुब्भण्हं, इच्छामि खमासमणो कयाइं च मे, पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कम्मइ कित्तिकम्माइं", इतने सूत्र मौलिक जान पड़ते हैं।

तथा इन के अलावा "तत्थ समणोवासओ, थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, थूलगमुसावायं," इत्यादि जो सूत्र श्रावक-धर्म-सम्बन्धी अर्थात् सम्यक्त्व, बारह व्रत और संलेखना-विषयक हैं तथा जिन के आधार पर "वंदित्तु" की पद्य-बन्ध रचना हुई है, वे सूत्र भी मौलिक जान पड़ते हैं। यद्यपि इन सूत्रों के पहले टीकाकार ने "सूत्रकार आह, सूत्रं" इत्यादि शब्दों का उल्लेख नहीं

किया है तथापि 'प्रत्याख्यान-आवश्यक' में निर्युक्तिकार ने प्रत्याख्यान का सामान्य स्वरूप दिखाते समय अभिग्रह की विविधता के कारण श्रावक के अनेक भेद बतलाये हैं। जिस से जान पड़ता है कि श्रावक-धर्म के उक्त सूत्रों को लक्ष्य में रख कर ही निर्युक्तिकार ने श्रावक-धर्म की विविधता का वर्णन किया है।

आज-कल की सामाचारी में जो प्रतिक्रमण की स्थापना की जाती है, वहाँ से ले कर "नमोऽस्तु वर्द्धमानाय" की स्तुति पर्यन्त में ही छह 'आवश्यक' पूर्ण हो जाते है। अत एव यह तो स्पष्ट ही है कि प्रतिक्रमण की स्थापना के पूर्व किये जाने वाले चैत्य-वन्दन का भाग और "नमोऽस्तु वर्धमानाय" की स्तुति के बाद पढ़े जाने वाले सज्झाय, स्तवन, शान्ति आदि, ये सब छह 'आवश्यक' के बाहिर्भूत हैं। अत एव उन का मूल 'आवश्यक' में न पाया जाना स्वाभाविक ही है। भाषा-दृष्टि से देखा जाय तो भी यह प्रमाणित है कि अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी व गुजराती-भाषा के गद्य-पद्य मौलिक हो ही नहीं सकते; क्योंकि संपूर्ण मूल 'आवश्यक' प्राकृत-भाषा में ही है। प्राकृत-भाषा-मय गद्य-पद्य में से भी जितने सूत्र उक्त दो उपायों के अनुसार मौलिक बतलाये गये हैं, उन के अलावा अन्य सूत्र को मूल 'आवश्यक'-गत मानने का प्रमाण अभी तक हमारे ध्यान में नहीं आया है। अत एव यह समझना चाहिये कि छह 'आवश्यकों' में "सात लाख, अठारह पापस्थान, आयरिय-उवज्झाए, वेयावच्चगराणं, पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं, सुअदेवया भगवई आदि थुई और नमोऽस्तु वर्द्धमानाय"

आदि जो-जो पाठ बोले जाते हैं, वे सब मौलिक नहीं हैं। यद्यपि "आयरियउवज्झाए, पुक्खरवरदीवड्ढे, सिद्धाणं बुद्धाणं" ये मौलिक नही है तथापि वे प्राचीन है; क्योंकि उन का उल्लेख करके श्रीहरिभद्र सूरि ने स्वयं उन की व्याख्या की है।

प्रस्तुत परीक्षण-विधि का यह मतलब नही है कि जो सूत्र मौलिक नही है, उस का महत्त्व कम है। यहाँ तो सिर्फ़ इतना ही दिखाना है कि देश, काल और रुचि के परिवर्तन के साथ-साथ 'आवश्यक'-क्रियोपयोगी सूत्र की संख्या में तथा भाषा में किस प्रकार परिवर्तन होता गया है।

यहाँ यह सूचित कर देना अनुपयुक्त न होगा कि आज-कल दैवसिक-प्रतिक्रमण में "सिद्धाणं बुद्धाणं" के बाद जो श्रुत-देवता तथा क्षेत्रदेवता का कायोत्सर्ग किया जाता है और एक-एक स्तुति पढ़ी जाती है, वह भाग कम से कम श्रीहरिभद्र सूरि के समय में प्रचलित प्रतिक्रमण-विधि में सन्निविष्ट न था; क्योंकि उन्हों ने अपनी टीका में जो विधि दैवसिक-प्रतिक्रमण की दी है, उस में 'सिद्धाणं' के बाद प्रतिलेखन वन्दन करके तीन स्तुति पढने का ही निर्देश किया है (आवश्यक-वृत्ति, पृ०७९०)।

विधि-विषयक सामाचारी-भेद पुराना है; क्योंकि मूल-टीकाकार-संमत विधि के अलावा अन्य विधि का भी सूचन श्रीहरिभद्र सूरि ने किया है (आवश्यक-वृत्ति, पृ०७९३)।

उस समय पाक्षिक-प्रतिक्रमण में क्षेत्रदेवता का काउस्सग्ग प्रचलित नहीं था; पर शय्यादेवता का काउस्सग्ग किया जाता था।

कोई-कोई चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण में भी शय्यादेवता का काउस्सग्ग करते थे और क्षेत्रदेवता का काउस्सग्ग तो चातुर्मासिक और सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण में प्रचलित था (आवश्यक-वृत्ति, पृ० ४९४; भाष्य-गाथा २३३)।

इस जगह मुख पर मुँहपत्ती बाँधने वालों के लिये यह बात ख़ास अर्थ-सूचक है कि श्रीभद्रबाहु के समय में भी काउस्सग्ग करते समय मुँहपत्ती हाथ में रखने का ही उल्लेख है (आवश्यक-निर्युक्ति, पृ० ७९७, गाथा १५४५)।

मूल 'आवश्यक' के टीका-ग्रन्थः—'आवश्यक', यह साधु-श्रावक–उभय की महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इस लिये 'आवश्यक-सूत्र' का गौरव भी वैसा ही है। यही कारण है कि श्रीभद्रबाहु स्वामी ने दस निर्युक्ति रच कर तत्कालीन प्रथा के अनुसार उस की प्राकृत-पद्य-मय टीका लिखी। यही 'आवश्यक' का प्राथमिक टीका-ग्रन्थ है। इस के बाद संपूर्ण 'आवश्यक' के ऊपर प्राकृत-पद्य-मय भाष्य बना, जिस के कर्ता अज्ञात हैं। अनन्तर चूर्णी बनी, जो संस्कृत-मिश्रित प्राकृत-गद्य-मय है और जिस के कर्ता संभवतः जिनदास गणि हैं।

अब तक में भाषा-विषयक यह लोक-रुचि कुछ बदल गई थी। यह देख कर समय-सूचक आचार्यों ने संस्कृत-भाषा में भी टीका लिखना आरम्भ कर दिया था। तदनुसार 'आवश्यक' के ऊपर भी कई संस्कृत-टीकाएँ बनीं, जिन का सूचन श्रीहरिभद्र सूरि ने इस प्रकार किया है:—

"यद्यपि मया तथान्यैः, कृतास्य विवृतिस्तथापि संक्षेपात्।
तद्रुचिसत्त्वानुग्रह,-हेतोः क्रियते प्रयासोऽयम् ॥"

जान पड़ता है कि वे संस्कृत-टीकाएँ संक्षिप्त रही (आवश्यक-वृत्ति, पृ० १।) होंगी। अत एव श्रीहरिभद्र सूरि ने 'आवश्यक' के ऊपर एक बड़ी टीका लिखी, जो उपलब्ध नहीं है; पर जिस का सूचन वे स्वयं "मया" इस शब्द से करते है और जिस के सबन्ध की परंपरा का निर्देश श्रीहेमचन्द्र मलधारी अपने 'आवश्यक-टिप्पण' पृ० १ में करते हैं।

बड़ी टीका के साथ-साथ श्रीहरिभद्र सूरि ने संपूर्ण 'आवश्यक' के ऊपर उस से छोटी टीका भी लिखी, जो मुद्रित हो गई है, जिस का परिमाण बाईस हजार श्लोक का है, जिस का नाम 'शिष्यहिता' है और जिस में संपूर्ण मूल 'आवश्यक' तथा उस की निर्युक्ति की संस्कृत में व्याख्या है। इस के उपरान्त उस टीका में मूल, भाष्य तथा चूर्णी का भी कुछ भाग लिया गया है। श्रीहरिभद्र सूरि की इस टीका के ऊपर श्रीहेमचन्द्र मलधारी ने टिप्पण लिखा है। श्रीमलयगिरि सूरि ने भी 'आवश्यक' के ऊपर टीका लिखी है, जो करीब दो अध्ययन तक की है और अभी उपलब्ध है। यहाँ तक तो हुई संपूर्ण 'आवश्यक' के टीका-ग्रन्थों की बात; पर उन के अलावा केवल प्रथम अध्ययन, जो सामायिक अध्ययन के नाम से प्रसिद्ध है, उस पर भी बड़े-बड़े टीका-ग्रन्थ बने हुए है। सब से पहले सामायिक अध्ययन की निर्युक्ति के ऊपर श्रीजिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने प्राकृत-पद्य-मय

भाष्य लिखा, जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह बहुत बड़ा आकर ग्रन्थ है। इस भाष्य के ऊपर उन्हों ने स्वयं संस्कृत-टीका लिखी है, जो उपलब्ध नहीं है। कोट्याचार्य, जिन का दूसरा नाम शीलाङ्क है और जो आचाराङ्ग तथा सूत्रकृताङ्ग के टीकाकार हैं, उन्हों ने भी उक्त विशेषावश्यक भाष्य पर टीका लिखी है। श्रीहेमचन्द्र मलधारी की भी उक्त भाष्य पर बहुत गम्भीर और विशद टीका है।

'आवश्यक' और श्वेताम्बर-दिगम्बर संप्रदाय।

'आवश्यक-क्रिया' जैनत्व का प्रधान अङ्ग है। इस लिये उस क्रिया का तथा उस क्रिया के सूचक 'आवश्यक-सूत्र' का जैन-समाज की श्वेताम्बर-दिगम्बर, इन दो शाखाओंमें पाया जाना स्वाभाविक है। श्वेताम्बर-संप्रदाय में साधु-परम्परा अविच्छिन्न चलते रहने के कारण साधु-श्रावक--दोनों की 'आवश्यक-क्रिया तथा 'आवश्यक-सूत्र' अभी तक मौलिकरूप में पाये जाते हैं। इस के विपरीत दिगम्बर-संप्रदाय में साधु-परंपरा विरल और विच्छिन्न हो जाने के कारण साधुसंबन्धी 'आवश्यक-क्रिया' तो लुप्तप्राय है ही, पर उस के साथ-साथ उस संप्रदाय में श्रावक-संबन्धी 'आवश्यक-क्रिया' भी बहुत अंशों में विरल हो गई है। अत एव दिगम्बर-संप्रदाय के साहित्य में 'आवश्क-सूत्र' का मौलिकरूप में संपूर्णतया न पाया जाना कोई अचरज की बात नहीं।

फिर भी उस के साहित्य में एक 'मूलाचार'-नामक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है, जिस में साधुओं के आचारों का वर्णन है।

उस ग्रन्थ में छह 'आवश्यक' का भी निरूपण है। प्रत्येक 'आवश्यक' का वर्णन करने वाली गाथाओं में अधिकांश गाथाएँ वही हैं, जो श्वेताम्बर-संप्रदाय में प्रसिद्ध श्रीभद्रबाहु-कृत निर्युक्ति में हैं।

मूलाचार का समय ठीक ज्ञात नहीं; पर वह है प्राचीन। उस के कर्ता श्रीवट्टकेर स्वामी हैं। 'वट्टकेर', यह नाम ही सूचित करता है कि मूलाचार के कर्ता संभवतः कर्णाटक में हुए होंगे। इस कल्पना की पुष्टि का कारण एक यह भी है कि दिगम्बर-संप्रदाय के प्राचीन बड़े-बड़े साधु, भट्टारक और विद्वान् अधिकतर कर्णाटक में ही हुए हैं। उस देश में दिगम्बर-संप्रदाय का प्रभुत्व वैसा ही रहा है, जैसा गुजरात में श्वेताम्बर-संप्रदाय का।

मूलाचार में श्रीभद्रबाहु-कृत निर्युक्ति-गत गाथाओं का पाया जाना बहुत अर्थ-सूचक है। इस से श्वेताम्बर-दिगम्बर-संप्रदाय की मौलिक एकता के समय का कुछ प्रतिभास होता है। अनेक कारणों से यह कल्पना नहीं की जा सकती है कि दोनों संप्रदाय का भेद रूढ़ हो जाने के बाद दिगम्बर-आचार्य ने श्वेताम्बर-संप्रदाय द्वारा सुरक्षित 'आवश्यक-निर्युक्ति-' गत गाथाओं को ले कर अपनी कृति में ज्यों का त्यों किंवा कुछ परिवर्तन करके रख दिया है।

दक्षिण देश में श्रीभद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास हुआ, यह तो प्रमाणित ही है, अत एव अधिक संभव यह है कि श्रीभद्रबाहु की जो एक शिष्य-परंपरा दक्षिण में रही और आगे जा कर जो दिगम्बर-संप्रदाय-रूप में परिणत हो गई, उस ने अपनी

गुरु की कृति को स्मृति-पथ में रक्खा और दूसरी शिष्य-परंपरा, जो उत्तर हिंदुस्तान में, रही, एवं आगे जा कर बहुत अंशों में श्वेताम्बर-संप्रदाय-रूप में परिणत हो गई, उस ने भी अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ अपने गुरु की कृति को सम्हाल रक्खा। क्रमशः दिगम्बर-संप्रदाय में साधु-परंपरा विरल होती चली; अत एव उस में सिर्फ 'आवश्यक-निर्युक्ति' ही नहीं, बल्कि मूल 'आवश्यक-सूत्र' भी त्रुटित और विरल हो गया।

इस के विपरीत श्वेताम्बर-संप्रदाय की अविच्छिन्न साधु-परंपरा ने सिर्फ मूल 'आवश्यक-सूत्र' को ही नहीं, बल्कि उस की निर्युक्ति को संरक्षित रखने के पुण्य-कार्य के अलावा उस के ऊपर अनेक बड़े-बड़े टीका-ग्रन्थ लिखे और तत्कालीन आचार-विचार का एक प्रामाणिक संग्रह ऐसा बना रक्खा कि जो आज भी जैनधर्म के असली रूप को विशिष्ट रूप में देखने का एक प्रबल साधन है।

अब एक प्रश्न यह है कि दिगम्बर-संप्रदाय में जैसे निर्युक्ति अंशमात्र में भी पाई जाती है, वैसे मूल 'आवश्यक' पाया जाता है या नहीं? अभी तक उस संप्रदाय के 'आवश्यक-क्रिया' सम्बन्धी दो ग्रन्थ हमारे देखने में आये हैं। जिन में एक मुद्रित और दूसरा लिखित है। दोनों में सामायिक तथा प्रतिक्रमण के पाठ हैं। इन पाठों में अधिकांश भाग संस्कृत है, जो मौलिक नहीं है। जो भाग प्राकृत है, उस में भी निर्युक्ति के आधार से मौलिक सिद्ध होने वाले 'आवश्यक-सूत्र' का अंश बहुत कम है।

जितना मूल भाग है, वह भी श्वेताम्बर-संप्रदाय में प्रचलित मूल पाठ की अपेक्षा कुछ न्यूनाधिक या कहीं-कहीं रूपान्तरित भी हो गया है।

"नमुक्कार, करेमि भंते, लोगस्स, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ, जो मे देवसिओ अइयारो कओ, इरियावहियाए, चत्तारि मंगलं, पडिक्कमामि एगविहे, इणमेव निग्गन्थ पावयणं तथा वंदित्तु के स्थानापन्न अर्थात् श्रावक-धर्म-सम्बन्धी सम्यक्त्व, बारह व्रत, और संलेखना के अतिचारों के प्रतिक्रमण का गद्य भाग", इतने मूल 'आवश्यक-सूत्र' उक्त दो दिगम्बर-ग्रन्थों में हैं।

इन के अतिरिक्त, जो 'बृहत्प्रतिक्रमण'-नामक भाग लिखित प्रति में है, वह श्वेताम्बर-संप्रदाय-प्रसिद्ध पक्खिय सूत्र से मिलता-जुलता है। हम ने विस्तार-भय से उन सब पाठों का यहाँ उल्लेख न करके उन का सूचनमात्र किया है। मूलाचार-गत 'आवश्यक-निर्युक्ति' की सब गाथाओं को भी हम यहाँ उद्धृत नहीं करते। सिर्फ़ दो-तीन गाथाओं को दे कर अन्य गाथाओं के नम्बर नीचे लिखे देते हैं, जिस से जिज्ञासु लोग स्वयं ही मूलाचार तथा 'आवश्यक-निर्युक्ति' देख कर मिलान कर लेंगे।

प्रत्येक 'आवश्यक' का कथन करने की प्रतिज्ञा करते समय श्रीवट्टकेर स्वामी का यह कथन कि "मै प्रस्तुत 'आवश्यक' पर निर्युक्ति कहूँगा" (मूलाचार, गा० ५१७, ५३७, ५७४, ६११, ६३१, ६४७), यह अवश्य अर्थ-सूचक है; क्योंकि संपूर्ण मूलाचार में 'आवश्यक' का भाग छोड़ कर अन्य प्रकरण में 'निर्युक्ति' शब्द एक-आध जगह आया है। षडावश्यक के अन्त

में भी उस भाग को श्रीवट्टकेर स्वामी ने निर्युक्ति के नाम से ही निर्दिष्ट किया है (मूलाचार, गा० ६८९-६९०) ।

इस से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय श्रीभद्रबाहु-कृत निर्युक्ति का जितना भाग दिगम्बर-संप्रदाय में प्रचलित रहा होगा, उस को संपूर्ण किंवा अंशतः उन्हों ने अपने ग्रन्थ में सन्निविष्ट कर दिया । श्वेताम्बर-संप्रदाय में पाँचवाँ 'आवश्यक' कायोत्सर्ग और छठा प्रत्याख्यान है। निर्युक्ति में छह 'आवश्यक' का नाम-निर्देश करने वाली गाथा में भी वही क्रम है; पर मूलाचार में पाँचवाँ 'आवश्यक' प्रत्याख्यान और छठा कायोत्सर्ग है ।

"खमामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूदेसु, वैरं मज्झं ण केण वि ॥"—बृहत्प्रातिक्र० ।
"खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई ॥"—आव०, पृ० ७६५ ।

"एसो पंचणमोयारो, सव्वपावपणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु, पढमं हवदि मंगलं ॥५१४॥"—मूला० ।
"एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥१३२॥"-आव०-नि० ।

"सामाइयंमि दु कदे, समणो इव सावओ हवदि जम्हा ।
एदेन कारणेण दु, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥५३१॥"-मूला० ।
"सामाइयंमि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥८०१॥"-आव०-नि० ।

मूला०,गा०नं०	आव०-नि०,गा०नं०
५०४	.... ९१८
५०५	... ९२१
५०७	... ९५३
५१०	.... ९५४
५११	... ९९७
५१२	... १००३
५१४	... १३३
५१७	.... ८७
५२४	(भाष्य,१४९)
५२५	.... ७९७
५२६	... ७९८
५३०	.... ७९९
५३१	... ८०१
५३३	.... १२४५
५३८	(भाष्य,१९०)
५३९	(लोगस्स १;७)
५४०	... १०५८
५४१	... १०५७
५४४	... १९५
५४६	... १९७
५४९	... १९९
५५०	... २०१
५५१	... २०३
५५२	... १०५९
५५३	.... १०६०
५५५	.... १०६२
५५६	.... १०६१
५५७	१०६३,१०६४
५५८	.... १०६५
५५९	.... १०६६
५६०	.... १०६९
५६१	.... १०७६
५६३	.... १०७७
५६४	.... १०६९
५६५	.... १०९३
५६६	.... १०९४
५६७	.... १०९५
५६८	.... १०९६
५६९	.... १०९७
५७६	.... ११०२
५७७	.... ११०३
५७८	.... १२१७

मूला०,गा०नं०	आव०-नि०,गा०नं०
५९२	११०५
५९३	११०७
५९४	११९१
५९५	११०६
५९६	११९३
५९७	११९८
५९९	१२००
६००	१२०१
६०१	१२०२
६०३	१२०७
६०४	१२०८
६०५	१२०९
६०६	१२१०
६०७	१२११
६०८	१२१२
६१०	१२२५
६१२	१२३३
६१३	१२४७
६१४	१२३१
६१५	१२३२
६१७	१२५०
६२१	१२४३
६२६	१२४४
६३२	(भाष्य,२६३)
६३३	१५६५
६४०	(भाष्य,२४८)
६४१	(भाष्य,२४९)
६४२	२५०
६४३	२५१
६४५	१५८९
६४८	१४४७
६५६	१४५८
६६८	१५४६
६६९	१५४७
६७१	१५४१
६७४	१४७९
६७५	१४९८
६७६	१४९०
६७७	१४९२

॥ ॐ ॥

प्रतिक्रमणसूत्र ।

(अर्थ-सहित)

१—नमस्कार सूत्र ।

* नमो अरिहंताणं । नमो सिद्धाणं । नमो आयरियाणं । नमो उवज्झायाणं । नमो लोए सव्वसाहूणं ।

अन्वयार्थ—' अरिहंताणं ' अरिहंतों को ' नमो ' नमस्कार, 'सिद्धाणं' सिद्धों को 'नमो' नमस्कार, 'आयरियाणं' आचार्यों को ' नमो ' नमस्कार, ' उवज्झायाणं ' उपाध्यायों को ' नमो ' नमस्कार [और] ' लोए ' लोक में—ढाई द्वीप में [वर्त्तमान] ' सव्वसाहूणं ' सब साधुओं को ' नमो ' नमस्कार ।

---

* नमोऽर्हद्भ्यः । नमः सिद्धेभ्यः । नम आचार्येभ्यः । नम उपाध्यायेभ्यः । नमो लोके सर्वसाधुभ्यः ।

‡ एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'एसो' यह 'पंचनमुक्कारो' पाँचों को किया हुआ नमस्कार 'सव्वपावप्पणासणो' सब पापों का नाश करने वाला 'च' और 'सव्वेसिं' सब 'मंगलाणं' मंगलों में 'पढमं' पहला-मुख्य 'मंगलं' मंगल 'हवइ' है ॥१॥

भावार्थ—श्री अरिहंत भगवान्, श्री सिद्ध भगवान्, श्री आचार्य महाराज, श्री उपाध्यायजी, और ढाई द्वीप में वर्तमान सामान्य सब साधु मुनिराज—इन पांच परमेष्ठियों को मेरा नमस्कार हो । उक्त पांच परमेष्ठियों को जो नमस्कार किया जाता है वह सम्पूर्ण पापों को नाशकरने वाला और सब प्रकार के-लौकिकलोकोत्तर-मंगलों में प्रधान मंगल है ।

२—पंचिंदिय सूत्र ।

* पंचिंदियसंवरणो, तह नवविहबंभचेरगुत्तिधरो ।
चउविहकसायमुक्को, इअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'पंचिंदियसंवरणो' पाँच इन्द्रियों का संवरण-निग्रह करने वाला, 'तह' तथा 'नवविहबंभचेरगुत्तिधरो'

---

‡ एष पञ्चनमस्कारस्सर्वपापप्रणाशनः ।
मङ्गलाना च सर्वेषा प्रथमं भवति मङ्गलम् ॥ १ ॥

* पञ्चेन्द्रियसंवरणस्तथा नवविधब्रह्मचर्यगुप्तिधरः ।
चतुर्विधकषायमुक्त इत्यष्टादशगुणैस्संयुक्तः ॥ १ ॥

नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्ति को धारण करने वाला, 'चउ-विहकसायमुक्को' चार प्रकार के कषाय से मुक्त 'इय' इस प्रकार 'अट्ठारसगुणेहिं' अठारह गुणों से 'संजुत्तो' संयुक्त ॥ १ ॥

‡ पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालणसमत्थो ।
पंचसमिओ तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरू मज्झ ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'पंचमहव्वयजुत्तो' पांच महाव्रतों से युक्त 'पंच-विहायारपालणसमत्थो' पांच प्रकार के आचार को पालन करने में समर्थ, 'पंचसमिओ' पांच समितियों से युक्त, 'तिगुत्तो' तीन गुप्तियों से युक्त [इस तरह कुल] 'छत्तीसगुणो' छत्तीस गुणयुक्त 'मज्झ' मेरा 'गुरू' गुरु है ॥ २ ॥

भावार्थ—त्वचा, जीभ, नाक, आँख और कान इन पाँच इन्द्रियों के विकारों को रोकने से पाँच; ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियों के धारण करने से नव; क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को त्यागने से चार; ये अठारह तथा प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण और परिग्रह-विरमण इन पांच महाव्रतों के पांच; ज्ञानाचार, दर्शना-

---

‡ पञ्चमहाव्रतयुक्तः पञ्चविधाचारपालनसमर्थः ।
पञ्चसमितः त्रिगुप्तः षट्त्रिंशद्गुणो गुरुर्मम ॥ २ ॥

१—ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ—रक्षा के उपाय—ये हैं:—(१) स्त्री, पशु या नपुंसक के संसर्ग वाले आसन, शयन, गृह आदि सेवन न करना, (२) स्त्री के साथ रागपूर्वक बातचीत न करना, (३) स्त्री-समुदाय

चार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार इन पाँच आचारों के पालने से पाँच; चलने में, वोलने में, अन्नपान आदि की गवेषणा में, किसी चीज के रखने-उठाने में और मल-मूत्र आदि के परिष्ठापन में (परठवने में) समिति से—विवेक-पूर्वक प्रवृत्ति करने से पांच; मन, वचन और शरीर का गोपन करने से—उनकी असत् प्रवृत्ति को रोक देनेसे तीन; ये अठारहँ सब मिला कर छत्तीस गुण जिस में हों उसी को मैं गुरु मानता हूँ ॥ १—२ ॥

३—खमासमण सूत्र

*** इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए, मत्थएण वंदामि ।**

अन्वयार्थ—'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण-क्षमाशील तपस्विन् ! 'निसीहिआए' सब पाप—कार्यों को निषेध करके [मैं] 'जावणिज्जाए' शक्ति के अनुसार 'वंदिउं' वन्दन करना

मे निवास न करना, (४) स्त्री के अङ्गोपाङ्ग का अवलोकन तथा चिन्तन न करना, (५) रस-पूर्ण भोजन का त्याग करना, (६) अधिक मात्रा मे भोजन—पानी ग्रहण न करना, (७) पूर्वानुभूत काम-क्रीड़ा को याद न करना, (८) उद्दीपक शब्दादि विषयों को न भोगना, (९) पौद्गलिक सुख मे रत न होना; [समवायाङ्ग सूत्र ९ पृष्ठ १५/१] । उक्त गुप्तियाँ जैन सम्प्रदाय में 'ब्रह्मचर्य की वाड' इस नाम से प्रसिद्ध हैं ।

* इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या मस्तकेन वन्दे ।

'इच्छामि' चाहता हूँ [और] 'मत्थएण' मस्तक से 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ।

भावार्थ—हे क्षमाशील गुरो ! मैं अन्य सब कामों को छोड़ कर शक्ति के अनुसार आपकी वन्दना करना चाहता हूँ और उसके अनुसार सिर झुका कर वन्दन करता हूँ ।

४—सुगुरु को सुखशान्तिपृच्छा ।

इच्छकारी सुहराइ सुहदेवसि सुखतप शरीरानिराबाध सुखसंजमयात्रा निर्वहते हो जी । स्वामिन् ! शान्ति है ? आहार पानी का लाभ देना जी ।

भावार्थ—मै समझता हूँ कि आपकी रात सुखपूर्वक बीती होगी, दिन भी सुखपूर्वक बीता होगा, आप की तपश्चर्य्या सुखपूर्वक पूर्ण हुई होगी, आपके शरीर को किसी तरह की बाधा न हुई होगी और इससे आप संयमयात्रा का अच्छी तरह निर्वाह करते होंगे । हे स्वामिन् ! कुशल है ? अब मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप आहार-पानी लेकर मुझको धर्म लाभ देवें ।

५—इरियावहियं सूत्र ।

* इच्छाकारेण संदिसह भगवनं ! इरियावहियं पडिक्कमामि । इच्छं ।

* इच्छाकारेण संदिशथ भगवन् ! ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामामि । इच्छामि ।

होना चाहता हूँ अर्थात् आयंदा ऐसी विराधना न हो इस विषय में सावधानी रख कर उससे बचना चाहता हूँ ।

जाते आते मैने भूतकाल में किसी के इन्द्रिय आदि प्राणों को दबा कर, सचित्त बीज तथा हरी वनस्पति को कुचर कर, ओस, चींटी के बिल, पाँचों वर्ण की काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकड़ी के जालों को रौंद कर किसी जीव की हिंसा की—जैसे एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले, या पाँच इन्द्रिय वाले जीवों को मैने चोट पहुँचाई, उन्हें धूल आदि से ढाँका, जमीन पर या आपस में रगड़ा, इकट्ठा करके उनका ढेर किया, उन्हें क्लेशजनक रीति से छुआ, क्लेश पहुँचाया, थकाया, हैरान किया, एक जगह से दूसरी जगह उन्हें बुरी तरह रक्खा, इस प्रकार किसी भी तरह से उनका जीवन नष्ट किया उसका पाप मेरे लिये निष्फल हो अर्थात् जानते अनजानते विराधना आदि से कषाय द्वारा मैने जो पाप-कर्म बाँधा उसके लिये मैं हृदय से पछताता हूँ, जिससे कि कोमल परिणाम द्वारा पाप-कर्म नीरस हो जावे और मुझको उसका फल भोगना न पड़े।

६—तस्स उत्तरी सूत्र ।

* तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं,
विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं

---

* तस्योत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशोधिकरणेन विशल्यीकरणेन

कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं ॥

अन्वयार्थ—'तस्स' उसको 'उत्तरीकरणेणं' श्रेष्ठ—उत्कृष्ट बनाने के निमित्त 'पायच्छित्तकरणेणं' प्रायाश्चित्त—आलोचना करने के लिये 'विसोहीकरणेणं' विशेष शुद्धि करने के लिये 'विसल्लीकरणेणं' शल्य[1] का त्याग करने के लिये और 'पावाणं' पाप 'कम्माणं' कर्मों का 'निग्घायणट्ठाए' नाश करने के लिये 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठामि' करता हूँ।

भावार्थ—ईर्यापथिकी क्रिया से पाप-मल लगने के कारण आत्मा मलिन हुआ; इसकी शुद्धि मैंने 'मिच्छा मि दुक्कडं' द्वारा की है। तथापि परिणाम पूर्ण शुद्ध न होने से वह अधिक निर्मल न हुआ हो तो उसको अधिक निर्मल बनाने के निमित्त उस पर बार बार अच्छे संस्कार डालने चाहिये। इसके लिये प्रायाश्चित्त करना आवश्यक है। प्रायश्चित्त भी परिणाम की विशुद्धि के सिवाय नही हो सकता, इसलिये परिणाम-विशुद्धि आवश्यक है। परिणाम की विशुद्धता के लिये शल्यों का त्याग करना जरूरी है। शल्यों का त्याग और अन्य सब पाप कर्मों का नाश काउस्सग्ग से ही हो सकता है. इसलिये मैं काउस्सग्ग करता हूँ।

पापानां कर्मणा निर्घातनार्थाय तिष्ठामि कायोत्सर्गम् ।

१—शल्य तीन हैः—(१) माया (कपट), (२) निदान (फल-कामना), (३) मिथ्यात्व (कदाग्रह); समवायाङ्ग सू० ३ पृ० ८/१ ।

७--अन्नत्थ ऊसासिएणं सूत्र

* अन्नत्थ ऊसासिएणं, नीसासिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं भमलीए, पित्तमुच्छाए, सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो ।

जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥

अन्वयार्थ--' ऊसासिएणं ' उच्छ्वास 'नीससिएणं' निःश्वास ' खासिएणं ' खाँसी ' छीएणं ' छीक ' जंभाइएणं ' जँभाई-उबासी ' उड्डुएणं ' डकार ' वायनिसग्गेणं ' वायु का सरना 'भमलीए' सिर आदि का चकराना ' पित्तमुच्छाए ' पित्त--विकार की मूर्च्छा ' सुहुमेहिं ' सूक्ष्म ' अंगसंचालेहिं ' अङ्ग-संचार 'सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं ' सूक्ष्म कफ-संचार ' सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं '

---

* अन्यत्रोच्छ्वसितेन निःश्वसितेन कासितेन क्षुतेन जृम्भितेन उद्गारितेन वातनिसर्गेण भ्रमर्या पित्तमूर्च्छया सूक्ष्मैरङ्गसंचालैः सूक्ष्मैः श्लेष्मसंचालैः सूक्ष्मैर्दृष्टिसंचालैः एवमादिभिराकारैरभग्नोऽविराधितो भवतु मम कायोत्सर्गः ।

यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि तावत्कायं[1] स्थानेन मौनेन ध्यानेनात्मीयं व्युत्सृजामि ॥ १ अत्र सर्वत्र पञ्चम्यर्थे तृतीया ॥

सूक्ष्म दृष्टि-संचार 'एवमाइएहिं' इत्यादि 'आगारेहिं' आगारों से 'अन्नत्थ' अन्य क्रियाओं के द्वारा 'मे' मेरा 'काउस्सग्गो' कायोत्सर्ग 'अभग्गो' अभंग [तथा] 'अविराहिओ' अखण्डित 'हुज्ज' हो ।

'जाव' जब तक 'अरिहंताणं' अरिहंत 'भगवंताणं' भगवान् को 'नमुक्कारेणं' नमस्कार करके [कायोत्सर्ग] 'न पारेमि' न पारूँ 'ताव' तब तक 'ठाणेणं' स्थिर रह कर 'मोणेणं' मौन रह कर 'झाणेणं' ध्यान धर कर 'अप्पाणं' अपने 'कायं' शरीर को [अशुभ व्यापारों से] 'वोसिरामि' अलग करता हूँ।

भावार्थ—(कुछ आगारों का कथन तथा काउस्सग्ग के अखण्डितपने की चाह)। श्वास का लेना तथा निकालना,

---

१—'आदि' शब्द से नीचे लिखे हुए चार आगार और समझने चाहिये –(१) आग के उपद्रव से दूसरी जगह जाना (२) बिल्ली चूहे आदि का ऐसा उपद्रव जिससे कि स्थापनाचार्य के बीच बार बार आड पड़ती हो इस कारण या किसी पञ्चेन्द्रिय जीव के छेदन-भेदन होने के कारण अन्य स्थान में जाना (३) यकायक डकैती पड़ने या राजा आदि के सताने से स्थान बदलना (४) शेर आदि के भय से, साँप आदि विषैले जन्तु के डंक से या दिवाल आदि गिर पड़ने की शङ्का से दूसरे स्थान को जाना ।

कायोत्सर्ग करने के समय ये आगार इसलिये रखे जाते हैं कि सब की शक्ति एक सी नहीं होती । जो कमताक़त व डरपोक हैं वे ऐसे मौक़े पर इतने घबरा जाते हैं कि धर्मध्यान के बदले आर्त्तध्यान करने लगते हैं, इस लिये उन अधिकारियों के निमित्त ऐसे आगारों का रक्खा जाना आवश्यक है । आगार रखने में अधिकारि-भेद ही मुख्य कारण है ।

खाँसना, छींकना, जँभाई लेना, डकारना, अपान वायु का सरना, सिर आदि का घूमना, पित्त विगड़ने से मूर्च्छा का होना, अङ्ग का सूक्ष्म हलन-चलन, कफ—थूक आदि का सूक्ष्म झरना, दृष्टि का सूक्ष्म संचलन—ये तथा इनके सदृश अन्य क्रियाएँ जो स्वयमेव हुआ करती हैं और जिनके रोकने से अशान्ति का सम्भव है उनके होते रहने पर भी काउस्सग्ग अभङ्ग ही है। परन्तु इनके सिवाय अन्य क्रियाएँ जो आप ही आप नहीं होती—जिन का करना रोकना इच्छा के अधीन है—उन क्रियाओं से मेरा कायोत्सर्ग अखण्डित रहे अर्थात् अपवादभूत क्रियाओं के सिवाय अन्य कोई भी क्रिया मुझसे न हो और इससे मेरा काउस्सग्ग सर्वथा अभङ्ग रहे यही मेरी अभिलाषा है।

(काउस्सग्ग का काल-परिमाण तथा उसकी प्रतिज्ञा)। मैं अरिहंत भगवान् को 'नमो अरिहंताणं' शब्द द्वारा नमस्कार करके काउस्सग्ग को पूर्ण न करूँ तब तक शरीर से निश्चल बन कर, वचन से मौन रह कर और मन से शुभ ध्यान धर कर पापकारी सब कामों से हटजाता हूँ—कायोत्सर्ग करता हूँ।

८--लोगस्स सूत्र ।

*** लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।**
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥ १ ॥

---

* लोकस्योद्द्योतकरान् धर्मतीर्थकरान् जिनान् ।
अर्हतः कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'लोगस्स' लोक में 'उज्जोअगरे' उद्द्योत-प्रकाश करने वाले, 'धम्मतित्थयरे' धर्मरूप तीर्थ को स्थापन करने वाले, 'जिणे' राग-द्वेष जीतने वाले, 'चउवीसंपि' चौवीसों, 'केवली' केवलज्ञानी 'अरिहंते' तीर्थङ्करों का 'कित्तइस्सं' मै स्तवन करूँगा ॥ १ ॥

भावार्थ—(तीर्थङ्करों के स्तवन की प्रतिज्ञा) स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—तीनों जगत में धर्म का उद्द्योत करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले और राग-द्वेष आदि अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय पाने वाले चौबीसों केवल ज्ञानी तीर्थङ्करों का मै स्तवन करूँगा ॥१॥

‡ उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउसप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥

+ सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअलसिज्जंसवासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥

† कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

---

‡ ऋषभमजितं च वन्दे संभवमभिनन्दनं च सुमतिं च ।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥ २ ॥

+ सुविधिं च पुष्पदन्तं शीतलश्रेयांसवासुपूज्यं च ।
विमलमनन्तं च जिनं धर्म्मं शान्तिं च वन्दे ॥ ३ ॥

† कुन्थुमरं च मल्लिं वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च ।
वन्देऽरिष्टनेमिं पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'उसभं' श्रीऋषभदेव स्वामी को 'च' और 'अजिअं' श्रीअजितनाथ को 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'संभवं' श्रीसंभवनाथ स्वामी को, 'अभिणंदणं' श्रीअभिनन्दन स्वामी को, 'सुमइं' श्रीसुमतिनाथ प्रभु को, 'पउमप्पहं' श्रीपद्मप्रभ स्वामी को. 'सुपासं' श्रीसुपार्श्वनाथ भगवान् को 'च' और 'चंदप्पहं' श्रीचन्द्रप्रभ 'जिणं' जिन को 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'सुविहिं' श्रीसुविधिनाथ- [दूसरा नाम] 'पुप्फदंतं' श्रीपुष्पदन्त भगवान् को, 'सीअल' श्रीशीतलनाथ को, 'सिज्जंस' श्रीश्रेयांसनाथ को. 'वासुपुज्जं' श्रीवासुपूज्य को, 'विमलं' श्रीविमलनाथ को, 'अणंतं' श्रीअनन्तनाथ को, 'धम्मं' श्री-धर्म्मनाथ को 'च' और 'संतिं' श्रीशान्तिनाथ 'जिणं' जिनेश्वर को. 'वंदामि' वन्दन करता हूँ। 'कुंथुं' श्रीकुन्थुनाथ को, 'अरं' श्रीअरनाथ को, 'मल्लिं' श्रीमल्लिनाथ को, 'मुणिसुव्वयं' श्रीमुनिसुव्रत को, 'च' और 'नमिजिणं' श्रीनमिनाथ जिनेश्वर को 'वंदे' वन्दन करता हूँ। 'रिट्ठनेमिं' श्रीअरिष्टनेमि—श्री-नेमिनाथ को 'पासं' श्रीपार्श्वनाथ को 'तह' तथा 'वद्धमाणं' श्रीवर्द्धमान—श्रीमहावीर भगवान् को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥ २-४ ॥

भावार्थ—(स्तवन)। श्रीऋषभनाथ, श्रीअजितनाथ, श्री-संभवनाथ, श्रीअभिनन्दन, श्रीसुमतिनाथ, श्रीपद्मप्रभ, श्री-सुपार्श्वनाथ, श्रीचन्द्रप्रभ, श्रीसुविधिनाथ, श्रीशीतलनाथ, श्रीश्रेयांसनाथ, श्रीवासुपूज्य, श्रीविमलनाथ, श्रीअनन्तनाथ, श्रीधर्मनाथ, श्रीशान्तिनाथ, श्रीकुन्थुनाथ, श्रीअरनाथ, श्री-

मल्लिनाथ, श्रीमुनिसुव्रत, श्रीनमिनाथ, श्रीअरिष्टनेमि, श्री-पार्श्वनाथ और श्रीमहावीर स्वामी—इन चौबीस जिनेश्वरों की मैं स्तुति—वन्दना करता हूँ ॥ २-४ ॥

*** एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।**
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'मए' मेरे द्वारा 'अभिथुआ' स्तवन किये गये, 'विहुयरयमला' पाप-रज के मल से विहीन, 'पहीणजरमरणा' बुढ़ापे तथा मरण से मुक्त, 'तित्थयरा' तीर्थ के प्रवर्त्तक 'चउवीसंपि' चौबीसों 'जिणवरा' जिनेश्वर देव 'मे' मेरे पर 'पसीयंतु' प्रसन्न हों ॥ ५ ॥

+ कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—'जे' जो 'लोगस्स' लोक में 'उत्तमा' प्रधान [तथा] 'सिद्धा' सिद्ध है [और जो] 'कित्तियवंदिय-महिया' कीर्त्तन, वन्दन तथा पूजन को प्राप्त हुए हैं 'ए' वे [मुझको] 'आरुग्गबोहिलाभं' आरोग्य का तथा धर्म का लाभ [और] 'उत्तमं' उत्तम 'समाहिवरं' समाधि का वर 'दिंतु' देवें ॥ ६ ॥

---

* एवं मयाऽभिष्टुता विधूतरजोमला प्रहीणजरामरणाः ।
चतुर्विंशतिरपि जिनवरास्तीर्थकरा मे प्रसीदन्तु ॥ ५ ॥

+ कीर्तितवन्दितमहिता य एते लोकस्योत्तमाः सिद्धाः ।
आरोग्यबोधिलाभसमाधिवरमुत्तमं ददतु ॥ ६ ॥

‡ चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—' चंदेसु ' चन्द्रों से ' निम्मलयरा ' विशेष निर्मल, ' आइच्चेसु ' सूर्यों से भी ' अहियं ' अधिक 'पयासयरा' प्रकाश करने वाले [और] ' सागरवरगंभीरा ' महासमुद्र के समान गम्भीर ' सिद्धा ' सिद्ध भगवान् 'मम' मुझको ' सिद्धिं ' सिद्धि-मोक्ष ' दिसंतु ' देवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—(भगवान् से प्रार्थना) जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्ममल से रहित हैं, जो जरा मरण दोनों से मुक्त है, और जो तीर्थ के प्रवर्त्तक हैं वे चौबीसों जिनेश्वर मेरे पर प्रसन्न हों—उनके आलम्बन से मुझमें प्रसन्नता हो ॥ ५ ॥

जिनका कीर्तन, वन्दन और पूजन नरेन्द्रों, नागेन्द्रों तथा देवेन्द्रों तक ने किया है, जो संपूर्ण लोकमें उत्तम हैं और जो सिद्धि को प्राप्त हुए है वे भगवान् मुझको आरोग्य, सम्यक्त्व तथा समाधि का श्रेष्ठ वर देवें—उनके आलम्बन से बल पाकर मैं आरोग्य आदि का लाभ करूँ ॥ ६ ॥

सिद्ध भगवान् जो सब चन्द्रों से विशेष निर्मल हैं, सब सूर्यों से विशेष प्रकाशमान हैं और स्वयंभूरमण नामक महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, उनके आलम्बन से मुझ को सिद्धि-मोक्ष प्राप्त हो ॥७॥

---

‡ चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः ।
सागरवरगम्भीराः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥ ७ ॥

तीर्थङ्करो के माता पिता आदि के नाम।

	तीर्थङ्कर-नाम।	पितृ-नाम।	मातृ-नाम।	जन्म-स्थान।	लाञ्छन।
१	ऋषभदेव	नाभि	मरुदेवी	अयोध्या	बैल
२	अजितनाथ	जितशत्रु	विजया	अयोध्या	हाथी
३	संभवनाथ	जितारि	सेना	श्रावस्ति	घोड़ा
४	अभिनन्दन	संवर	सिद्धार्था	अयोध्या	बन्दर
५	सुमतिनाथ	मेघरथ	सुमङ्गला	अयोध्या	क्रौञ्च
६	पद्मप्रभ	धर	सुसीमा	कौशाम्बी	पद्म
७	सुपार्श्वनाथ	सुप्रतिष्ठ	पृथ्वी	काशी	स्वस्तिक
८	चन्द्रप्रभ	महासेन	लक्ष्मणा	चन्द्रपुरी	चन्द्र
९	सुविधिनाथ	सुग्रीव	श्यामा	काकंदी	मगर
१०	शीतलनाथ	दृढरथ	नन्दा	भद्दिलपुर	श्रीवत्स
११	श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णु	सिंहपुर	गेंडा
१२	वासुपूज्य	वसुपूज्य	जया	चम्पानगरी	भैंसा
१३	विमलनाथ	कृतवर्म	रामा	कम्पिलपुर	सूअर
१४	अनन्तनाथ	सिंहसेन	सुयशा	अयोध्या	बाज
१५	धर्मनाथ	भानु	सुव्रता	रत्नपुर	वज्र
१६	शान्तिनाथ	विश्वसेन	अचिरा	हस्तिनापुर	मृग
१७	कुन्थुनाथ	सूर	श्री	हस्तिनापुर	बकरा
१८	अरनाथ	सुदर्शन	देवी	हस्तिनापुर	नन्दावर्त
१९	मल्लिनाथ	कुम्भ	प्रभावती	मिथिला	कुम्भ
२०	मुनिसुव्रत	सुमित्र	पद्मा	राजगृह	कछुआ
२१	नमिनाथ	विजय	वप्रा	मिथिला	नीलकमल
२२	नेमिनाथ	समुद्रविजय	शिवादेवी	सौरीपुर	शङ्ख
२३	पार्श्वनाथ	अश्वसेन	वामा	काशी	साँप
२४	महावीरस्वामी	सिद्धार्थ	त्रिशला	क्षत्रियकुण्ड	सिंह

यह वर्णन **आवश्यकनिर्युक्ति** गा० ३८२–३८६ में है।

९—सामायिक सूत्र ।

*करेमि भंते ! सामाइयं । सावज्जं जोगं पच्चक्खामि । जावनियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

अन्वयार्थ—'भंते' हे भगवन् [मैं] 'सामाइयं' सामायिकव्रत 'करेमि' ग्रहण करता हूँ [और] 'सावज्जं' पापसहित 'जोगं' व्यापार का 'पच्चक्खामि' प्रत्याख्यान—त्याग करता हूँ । 'जाव' जब तक [मैं] 'नियमं' इस नियम का 'पज्जुवासामि' पर्युपासन—सेवन करता रहूँ [तब तक] 'तिविहेणं' तीन प्रकार के [योगसे] अर्थात् 'मणेणं वायाए काएणं' मन, वचन, काया से 'दुविहं' दो प्रकार का [त्याग करता हूँ] अर्थात् 'न करेमि' [सावद्य योग को] न करूँगा [और] 'न कारवेमि' न कराऊंगा । 'भंते' हे स्वामिन् ! 'तस्स' उससे—प्रथम के पाप से [मैं] 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ, 'निन्दामि' [उसकी] निन्दा करता हूँ [और] 'गरिहामि' गर्हा—विशेष निन्दा करता हूँ, 'अप्पाणं' आत्मा को [उस पाप-व्यापार से] 'वोसिरामि' हटाता हूँ ॥

---

* करोमि भदन्त ! सामायिकं । सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि । यावत् नियमं पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

भावार्थ—मै सामायिकव्रत ग्रहण करता हूँ। राग-द्वेष का अभाव या ज्ञान-दर्शन-चारित्र का लाभ ही सामायिक है, इस लिये पाप वाले व्यापारों का मैं त्याग करता हूँ।

जब तक मै इस नियम का पालन करता रहूँ तब तक मन वचन और शरीर इन तीन साधनों से पाप-व्यापार को न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा ॥

हे स्वामिन्! पूर्व-कृत पाप से मै निवृत्त होता हूँ, अपने हृदय में उसे बुरा समझता हूँ और गुरु के सामने उसकी निन्दा करता हूँ। इस प्रकार मै अपने आत्मा को पाप-क्रिया से छुड़ाता हूँ।

१०—सामायिक पारने का सूत्र।

*** सामाइयवयजुत्तो, जाव मणे होई नियमसंजुत्तो।**
छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जत्तिआ वारा ॥१॥

अन्वयार्थ—[श्रावक] 'जाव' जब तक 'सामाइयवयजुत्तो' सामायिकव्रत-सहित [तथा] 'मणे मनके 'नियमसंजुत्तो' नियम-सहित 'होई' हो [और] 'जत्तिया' जितनी 'वारा' वार 'सामाइय' सामायिकव्रत [लेवे तब तक और उतनी बार] 'असुहं कम्मं अशुभ कर्म 'छिन्नइ' काटता है ॥१॥

भावार्थ—मनको नियम में—कब्जे में—रखकर जब तक और जितनी बार सामायिक व्रत लिया जाता है तब तक और

* सामायिकव्रतयुक्तो यावन्मनसि भवति नियमसंयुक्तः। छिनत्ति अशुभं कर्म सामायिकं यावतो वारान्॥ १ ॥

उतनी बार अशुभ कर्म काटा जाता है; सारांश यह है कि सामायिक से ही अशुभ कर्म का नाश होता है ॥१॥

* सामाइअम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइअं कुज्जा ॥२॥

अन्वयार्थ—'उ' पुनः 'सामाइअम्मि' सामायिकव्रत 'कए' लेने पर 'सावओ' श्रावक 'जम्हा' जिस कारण 'समणो इव' साधु के समान 'हवइ' होता है 'एएण' इस 'कारणेणं' कारण [वह] 'सामाइअं' सामायिक 'बहुसो' अनेक बार 'कुज्जा' करे ॥२॥

भावार्थ—श्रावक सामायिकव्रत लेने से साधु के समान उच्च दशा को प्राप्त होता है, इसलिए उस को बार बार सामायिकव्रत लेना चाहिये ॥२॥

मैंने सामायिक विधि से लिया, विधि से पूर्ण किया, विधि में कोई अविधि हुई हो तो मिच्छामि दुक्कडं ।

दस मन के,[1] दस वचन के, बारह काया के कुल बत्तीस दोषों में से कोई दोष लगा हो तो मिच्छा मि दुक्कडं ।

---

* सामायिके तु कृते, श्रमण इव श्रावको भवति यस्मात् ।
एतेन कारणेन, बहुशः सामायिकं कुर्यात् ॥२॥

१—मन के १० दोषः-(१) दुश्मनको देख कर जलना । (२) अविवेकपूर्ण

११--जगचिंतामणि चैत्यवंदन ।

इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! चैत्यवंदन करूं? इच्छं।

अर्थ--सुगम है ।

*** जगचिंतामणि जगहनाह जगगुरु जगरक्खण, जगबंधव जगसत्थवाह जगभावविअक्खण । अट्ठावयसंठविअरूव कम्मट्ठविणासण, चउवीसंपि जिणवर जयंतु अप्पडिहयसासण ॥ १ ॥**

बात सोचना। (३) तत्त्व का विचार न करना। (४) मन में व्याकुल होना। (५) इज्जत की चाह किया करना। (६) विनय न करना। (७) भय का विचार करना। (८) व्यापार का चिन्तन करना। (९) फल में सन्देह करना। (१०) निदानपूर्वक --फल का संकल्प कर के धर्म-क्रिया करना ॥

वचन के १० दोषः--(१) दुर्वचन बोलना। (२) हूं कारें किया करना। (३) पाप-कार्य का हुक्म देना। (४) बे काम बोलना। (५) कलह करना। (६) कुशल-क्षेम आदि पूछ कर आगत-स्वागत करना। (७) गाली देना। (८) बालक को खेलाना। (९) विकथा करना। (१० हँसी-दिल्लगी करना ॥

काया के १२ दोषः--(१) आसन को स्थिर न रखना। (२) चारो ओर देखते रहना। (३) पाप वाला काम करना। (४) अंगड़ाई लेना--बदन तोड़ना। (५) अविनय करना। (६) भीत आदि के सहारे बैठना। (७) मैल उतारना। (८) खुजलाना। (९) पेर पर पैर चढ़ाना। (१०) काम-वासना से अंगों को खुला रखना। (११) जन्तुओं के उपद्रव से डर कर शरीर को ढांकना। (१२) ऊंघना। सब मिला कर बत्तीस दोष हुए ॥

* जगच्चिन्तामणयो जगन्नाथा जगद्गुरवो जगद्रक्षणा जगद्बन्धवो जगत्सार्थवाहा जगद्भावविचक्षणा अष्टापदसंस्थापितरूपाः कर्माष्टकविनाशनाश्चतुर्विंशतिरपि जिनवरा जयन्तु अप्रतिहतशासनाः ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'जगचिंतामणि' जगत् में चिन्तामणि रत्न के समान, 'जगहनाह' जगत् के स्वामी, 'जगगुरु' जगत् के गुरु, 'जगरक्खण' जगत् के रक्षक, 'जगबंधव' जगत् के बन्धु—हितैषी, 'जगसत्थवाह' जगत् के सार्थवाह—अगुए, 'जगभावविअक्खण' जगत् के भावों को जानने वाले 'अट्ठावयसंठविअरूव' अष्टापद पर्वत पर जिन की प्रतिमायें स्थापित हैं, 'कम्मट्ठविणासण' आठ कर्मों का नाश करने वाले 'अप्पडिहयसासण' अबाधित उपदेश करने वाले [ऐसे] 'चउवीसंपि' चौबीसों 'जिणवर' जिनेश्वर देव 'जयंतु' जयवान् रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—[चौवीस तीर्थकरों की स्तुति] जो जगत् में चिन्तामणि रत्न के समान वाञ्छित वस्तु के दाता हैं, जो तीन जगत् के नाथ हैं, जो समस्त जगत् के शिक्षा-दायक गुरु हैं, जो जगत् के सभी प्राणियों को कर्म से छुड़ाकर उनकी रक्षा करने वाले हैं, जो जगत् के हितैषी होने के कारण बन्धु के समान हैं, जो जगत् के प्राणिगण को परमात्म-पद के उच्च ध्येय की ओर खींच ले जाने के कारण उसके सार्थवाह—नेता हैं, जो जगत् के संपूर्ण भावों को—पदार्थों को पूर्णतया जानने वाले हैं, जिनकी प्रतिमायें अष्टापद पर्वत के ऊपर स्थापित हैं, जो आठ कर्मों का नाश करने वाले हैं और जिनका शासन सब जगह अस्खलित है उन चौबीस तीर्थङ्करों की जय हो ॥ १ ॥

* कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं पढमसंघयणि
उक्कोसय सत्तरिसय जिणवराण विहरंत लब्भइ;
नवकोडिहिं केवलीण, कोडिसहस्स नव साहु गम्मइ ।
संपइ जिणवर वीस, मुणि बिहुं कोडिहिं वरनाण,
समणह कोडिसहसदुअ थुणिज्जइ निच्च विहाणि ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं' सब कर्मभूमियों में [मिलकर] 'पढमसंघयणि' प्रथम संहनन वाले 'विहरंत' विहरमाण 'जिणवराण' जिनेश्वरों की 'उक्कोसय' उत्कृष्ट [संख्या] 'सत्तरिसय' एक सौ सत्तर की १७० 'लब्भइ' पायी जाती है, [तथा] 'केवलीण' सामान्य केवलज्ञानियों की [संख्या] 'नवकोडिहिं' नव करोड़ [और] 'साहु' साधुओं की [संख्या] 'नव' नव 'कोडिसहस्स' हजार करोड़ 'गम्मइ' पायी

---

* कर्म्मभूमिषु कर्म्मभूमिषु प्रथमसंहननिनां उत्कृष्टतः सप्ततिशतं जिनवराणां विहरतां लभ्यते, नवकोट्यः केवलिनां, कोटिसहस्राणि नव साधवो गम्यन्ते । सम्प्रति जिनवराः विंशतिः, मुनयो द्वे कोटी वरज्ञानिनः, श्रमणानां कोटिसहस्रद्विकं स्तूयते नित्यं विभाते ।

१—पाँच भरत, पाँच ऐरवत, और महाविदेह की १६० विजय—कुल १७० विभाग कर्मक्षेत्र के हैं; उन सब में एक एक तीर्थङ्कर होने के समय उत्कृष्ट संख्या पायी जाती है जो दूसरे श्रीअजितनाथ तीर्थङ्कर के जमाने में थी ।

जाती है। ‘ संपइ ’ वर्तमान समय में ‘ जिणवर ’ जिनेश्वर ‘ वीस ’ बीस हैं, ‘ वरनाण ’ प्रधान ज्ञान वाले—केवलज्ञानी ‘ मुणि ’ मुनि ‘ बिहुं ’ दो ‘ कोडिहिं ’ करोड़ हैं, [और] ‘ समणह ’ सामान्य श्रमण—मुनि ‘ कोडिसहसदुअ ’ दो हजार करोड़ हैं; [उनकी] ‘ निच्चं ’ सदा ‘ विहाणि ’ प्रातःकाल में ‘ थुणिज्जइ ’ स्तुति की जाती है ॥ २ ॥

भावार्थ—[तीर्थङ्कर, केवली और साधुओं की स्तुति] सब कर्म भूमियों में—पाँच भरत, पाँच ऐरवत, और पाँच महाविदेह में—विचरते हुए तीर्थङ्कर अधिक से अधिक १७० पाये जाते हैं। वे सब प्रथम संहनन वाले ही होते हैं। सामान्य केवली उत्कृष्ट नव करोड़ और साधु, उत्कृष्ट नव हजार करोड़—९० अरब—पाये जाते हैं। परन्तु वर्तमान समय में उन सब की संख्या जघन्य है; इसलिये तीर्थङ्कर सिर्फ २०, केवलज्ञानी मुनि दो करोड़ और अन्य साधु दो हजार करोड़—२० अरब— हैं। इन सब की मै हमेशा प्रातःकाल में स्तुति करता हूँ ॥२॥

१—जम्बूद्वीप के महाविदेह की चार, धातकी खण्ड के दो महाविदेह की आठ और पुष्करार्ध के दो महाविदेह की आठ—इन बीस विजयों मे एक एक तीर्थङ्कर नियम से होते ही है; इस कारण उनकी जघन्य संख्या बीस की मानी हुई है जो इस समय है।

* जयउ सामिय जयउ सामिय रिसह सत्तुंजि, उज्जित पहु नेमिजिण, जयउ वीर सच्चउरिमंडण, भरुअच्छहिं मुणिसुव्वय, मुहरिपास। दुह-दुरिअखंडण अवर विदेहिं तित्थयरा, चिहुं दिसिविदिसि जिं के वि तीआणागयसंपइअ वंदुं जिण सव्वेवि ॥३॥

अन्वयार्थ—'जयउ सामिय जयउ सामिय' हे स्वामिन्! आपकी जय हो, आपकी जय हो। 'सत्तुंजि' शत्रुञ्जय पर्वत पर स्थित 'रिसह' हे ऋषभदेव प्रभो! 'उज्जित' उज्जयन्त—गिरिनार-पर्वत—पर स्थित 'पहु नेमिजिण' हे नेमिजिन प्रभो! 'सच्चउरिमंडण' सत्यपुरी—साँचोर[1]—के मण्डन 'वीर' हे वीर प्रभो! 'भरुअच्छहिं' भृगुकच्छ—भरुच[2]—में स्थित 'मुणिसुव्वय' हे मुनिसुव्रत प्रभो! तथा 'मुहरि' मुहरी—टीटोई[3]—गांव में स्थिति 'पास' हे पार्श्वनाथ प्रभो! 'जयउ' आपकी जय हो। 'विदेहिं' महा-

---

* जयतु स्वामिन् जयतु स्वामिन्! ऋषभ शत्रुञ्जये। उज्जयन्ते प्रभो नेमिजिन। जयतु वीर सत्यपुरीमण्डन। भृगुकच्छे मुनिसुव्रत। मुखरि-पार्श्व। दुःख-दुरित-खण्डनाः अपरे विदेहे तीर्थकराः, चतसृषु दिक्षु विदिक्षु ये केऽपि अतीतानागतसाम्प्रतिकाः वन्दे जिनान् सर्वानपि ॥३॥

१—यह जोधपुर स्टेट में है। जोधपुर—बीकानेर रेलवे, बाड़मोर स्टेशन से जाया जाता है।

२—यह शहर गुजरात मे बड़ौदा और सूरत के बीच नर्मदा नदी के तट पर स्थित है। (बी. बी. एन्ड सी. आई रेलवे)

३—यह तीर्थ इस समय इडर स्टेट मे खंडहर रूप में है। इसके जीर्ण मन्दिर की प्रतिमा पास के टीटोई गॉव में स्थापित की गई है।

विदेह क्षेत्र में 'दुह-दुरिअखंडण' दुःख और पाप का नाश करने वाले [तथा] 'चिहुं' चार 'दिसिविदिसि' दिशाओं और विदिशाओं में 'तीआणागयसंपइअ' भूत, भावी और वर्तमान 'जिं केवि' जो कोई 'अवर' अन्य 'तित्थयरा' तीर्थंकर हैं, 'जिण सव्वेवि' उन सब जिनेश्वरों को 'वंदुं' वन्दन करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—[कुछ खास स्थानों में प्रतिष्ठित तीर्थंकरों की महिमा और जिन-वन्दना] । शत्रुञ्जय पर्वत पर प्रतिष्ठित हे आदि नाथ विभो ! गिरिनार पर विराजमान हे नेमिनाथ भगवन् ! सत्यपुरी की शोभा बढाने वाले हे महावीर परमात्मन् !, भरुच के भूषण हे मुनिसुव्रत जिनेश्वर ! और मुहरि गाँव के मण्डन हे पार्श्वनाथ प्रभो !, आप सब की निरन्तर जय हो। महाविदेह क्षेत्र में, विशेष क्या, चारों दिशाओं में और चारों विदिशाओं में जो जिन हो चुके हैं, जो मौजूद हैं, और जो होने वाले हैं, उन सभों को मैं वन्दन करता हूँ । सभी जिन, दुःख और पाप का नाश करने वाले हैं ॥३॥

*** सत्ताणवइ सहस्सा, लक्खा छप्पन्न अट्ठ कोडीओ ।**
बत्तिसय बासिआइं, तिअलोए चेइए वंदे ॥४॥

टीटोई अमनगर से जाया जाता है। (अमदावाद-प्रान्तिज रेलवे, गुजरात)।

* सप्तनवतिं सहस्राणि लक्षाणि षट्पञ्चाशतमष्ट कोटीः ।
द्वात्रिंशतं शतानि द्व्यशीतिं त्रिकलोके चैत्यानि वन्दे ॥४॥

अन्वयार्थ—'तिअलोए' तीन लोक में 'अट्ठकोडीओ' आठ करोड़, 'छप्पन्न' छप्पन 'लक्खा' लाख 'सत्ताणवइ' सत्तानवे 'सहस्सा' हजार 'बत्तिसय' बत्तीस सौ 'बासिआइं' ब्यासी 'चेइए' चैत्य-जिन-प्रासाद हैं [उनको] 'वंदे' वन्दन करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—[तीनों लोक के चैत्यों को वन्दन]। स्वर्ग, मृत्यु और पातल इन तीनों लोक के संपूर्ण चैत्यों की संख्या आठ करोड़, छप्पन लाख सत्तानवे हजार, बत्तीस सौ, और ब्यासी (८५७००२८२) है; उन सब को मैं वन्दन करता हूँ ॥४॥

† **पनरस कोडिसयाइं, कोडी बायाल लक्ख अडवन्ना।**
छत्तीस सहस असिइं, सासयबिंबाइं पणमामि ॥५॥

अन्वयार्थ—'पनरस कोडिसयाइं' पन्द्रह सौ करोड़ 'बायाल' बयालीस 'कोडी' करोड़ 'अडवन्ना' अट्ठावन 'लक्खा' लाख 'छत्तीस सहस' छत्तीस हजार 'असिइं' अस्सी 'सासय-बिंबाइं' शाश्वत- कभी नाश नहीं पाने वाले-बिम्बों को-जिन प्रतिमाओं को 'पणमामि' प्रणाम करता हूँ ॥५॥

भावार्थ—सभी शाश्वत बिम्बों को प्रणाम करता हूँ। शास्त्र में उनकी संख्या पन्द्रह सौ बयालीस करोड़, अट्ठावन

---

† पञ्चदश कोटिशतानि कोटीर्द्विचत्वारिंशतं लक्षाणि अष्टपञ्चाशतं।
षट्त्रिंशतं सहस्राणि अशीतिं शाश्वतबिम्बानि प्रणमामि ॥५॥

लाख, छत्तीस हजार, और अस्सी (१५४२५८३६०८०) बतलाई है ॥ ५ ॥

१२—जं किंचि सूत्र ।

*** जं किंचि नाम तित्थं, सग्गे पायालि माणुसे लोए ।**
जाइं जिणबिंबाइं, ताइं सव्वाइं वंदामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'सग्गे' स्वर्ग 'पायालि' पाताल [और] 'माणु से' मनुष्य 'लोए' लोक में 'जं' जो 'किंचि' कोई 'तित्थं' तीर्थ 'नाम' प्रसिद्ध हो तथा 'जाइं' जो 'जिणबिंबाइं' जिन-बिम्ब हों 'ताइं' उन 'सव्वाइं' सब को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—[जिन-बिम्बों को नमस्कार]। स्वर्ग-लोक, पाताललोक और मनुष्य-लोक में—ऊर्ध्व, अधो और मध्यम लोक में—जो तीर्थ[1] और जिन-प्रतिमाएँ हैं उन सब को मैं वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

१३--नमुत्थुणं सूत्र ।

† नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं, आइगराणं तित्थ-

---

* यत्किञ्चिन्नाम तीर्थं, स्वर्गे पाताले मानुषे लोके ।
यानि जिनविम्बानि तानि सर्वाणि वन्दे ॥१॥

१—वर्तमान कुछ तीर्थों के नामः—शत्रुञ्जय, गिरिनार, तारंगा, शङ्खेश्वर, कुंभारिया, आबू, राणकपुर, केसरियाजी, वामणवाडा, मांडवगढ़, अन्तरीक्ष, मक्षी, हस्तिनापुर, इलाहाबाद, बनारस, अयोध्या, संमेतशिखर, राजगृह, काकंदी, क्षत्रियकुण्ड, पावापुरी, चम्पापुरी इत्यादि ।

† नमोऽस्तु अर्हद्भ्यो भगवद्भ्य आदिकरेभ्य स्तीर्थकरेभ्यः स्वयंसंबु-

यराण सयं-संबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं पुरिस-वर-पुंडरीआणं पुरिस-वर-गंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं लोग-नाहाणं लोग-हिआणं लोग-पईवाणं लोग-पज्जोअ-गराणं अभय-दयाणं चक्खु-दयाणं मग्ग-दयाणं सरण-दयाणं बोहि-दयाणं, धम्म-दयाणं धम्म-देसयाणं धम्म-नायगाणं धम्म-सारहीणं धम्म-वर-चाउरंत-चक्क-वट्टीणं, अप्पडिहय-वर-नाण दंसण-धराणं विअट्टछउमाणं, जिणाणं जावयाणं तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं, सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुण-रावित्ति सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संपत्ताणं।

नमो जिणाणं जिअभयाणं।

अन्वयार्थ—'नमुत्थुणं' नमस्कार हो 'अरिहंताणं भगवं-ताणं' अरिहंत भगवान् को [कैसे हैं वे भगवान् सो कहते हैं:—] 'आइगराणं' धर्म की शुरूआत करने वाले,

---

द्धेभ्यः पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवर पुण्डरीकेभ्यः पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यः लोकोत्तमेभ्यः लोकनाथेभ्यः लोकहितेभ्य लोकप्रदीपेभ्यः लोकप्रद्योतकरेभ्यः, अभयदयेभ्यःचक्षुर्दयेभ्यः मार्गदयेभ्यः शरणदयेभ्यः बोधिदयेभ्यः धर्मनायकेभ्यः धर्मसारथिभ्यः धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिभ्यः अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यः व्यावृत्तच्छद्मभ्यः, जिनेभ्यो ज्ञापकेभ्यः तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यः बुद्धेभ्यो बोधकेभ्यः मुक्तेभ्यो मोचकेभ्यः सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यःशिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्या-बाधमपुनरावृत्ति सिद्धिगति नामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः नमो जिनेभ्यः जितभयेभ्यः।

'तित्थयराणं' धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, 'सयंसं-बुद्धाणं' अपने आप ही बोध को पाये हुए, 'पुरिसुत्तमाणं' पुरुषों में श्रेष्ठ, 'पुरिस-सीहाणं' पुरुषों में सिंह के समान, 'पुरिसवर-पुंडरीआणं' पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान, 'पुरिसवर-गंधहत्थीणं' पुरुषों में प्रधान गन्धहस्ति के समान, 'लोगुत्तमाणं' लोगों में उत्तम, 'लोग-नाहाणं' लोगों के नाथ, 'लोग-हि आणं' लोगों का हित करने वाले, 'लोग-पईवाणं' लोगों के लिये दीपक के समान, 'लोग-पज्जोअ-गराणं' लोगों में उद्द्योत करने वाले, 'अभय-दयाणं' अभय देने वाले, 'चक्खु-दयाणं' नेत्र देने वाले, 'मग्ग-दयाणं' धर्म-मार्ग के दाता, 'सरण-दयाणं' शरण देने वाले, 'बोहि-दयाणं' बोधि अर्थात् सम्यक्त्व देने वाले, 'धम्म-दयाणं' धर्म्म के दाता, 'धम्म-देसयाणं' धर्म के उपदेशक, 'धम्म-नायगाणं' धर्म के नायक 'धम्म-सारहीणं' धर्म के सारथि, 'धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं' धर्म में प्रधान तथा चार गति का अन्त करने-वाले अतएव चक्रवर्ती के समान, 'अप्पडिहय-वरनाणदंसण-धराणं' अप्रतिहत तथा श्रेष्ठ ऐसे ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले, 'विअट्ट-छउमाणं' छद्म अर्थात् घाति-कर्म-रहित, 'जिणाणं जावयाणं' [राग द्वेष को] स्वयं जीतने वाले, औरों को जितानेवाले, 'तिन्नाणं तारयाणं' [संसार से] स्वयं तरे हुए दूसरों को तारनेवाले 'बुद्धाणं बोहयाणं' स्वयं बोध को पाये हुए दूसरों को बोध प्राप्त कराने वाले, 'मुत्ताणं मोअगाणं'

[बन्धन से] स्वयं छुटे हुए दूसरों को छुडाने वाले, " सव्वन्नूणं ' सर्वज्ञ, ' सव्वदरिसीणं ' सर्वदर्शी [तथा] ' सिवं ' निरुपद्रव, ' अयलं ' स्थिर, ' अरुअं ' रोग-रहित, ' अणंतं ' अन्त-रहित, ' अक्खयं ' अक्षय, " अव्वाबाहं ' बाधा-रहित, ' अपुणरावित्ति ' पुनरागमन रहित [ऐसे] ' सिद्धि गइ-नामधेयं ठाणं ' सिद्धिगति नामक स्थान को अर्थात् मोक्ष को ' संपत्ताणं ' प्राप्त करने वाले ।

'नमो ' नमस्कार हो ' जिअभयाणं ' भय को जीतने वाले , जिणाणं ' जिन भगवान् को ॥

जे अ अइआ सिद्धा, जे अ भविस्संतिणागए काले ।
संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—' जे ' जो ' सिद्धा ' सिद्ध ' अईआ ' भूत-काल में हो चुके हैं, ' जे ' जो ' अणागए ' भविष्यत् ' काले ' कालमें ' भविस्संति ' होंगे ' अ ' और [जो] ' संपइ ' वर्तमान काल में ' वट्टमाणा ' विद्यमान है ' सव्वे ' उन सब को ' तिविहेण ' तीन प्रकार से अर्थात् मन वचन काया से ' वंदामि ' वन्दन करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—अरिहंतों को मेरा नमस्कार हो; जो अरिहंत, भगवान् अर्थात् ज्ञानवान् हैं; धर्म की आदि करने वाले हैं, साधु साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, दूसरे के उपदेश के सिवाय ही बोध को प्राप्त हुए हैं, सब

ये च अतीताः सिद्धाः ये च भविष्यन्ति अनागते काले ।
सम्प्रति च वर्तमानाः सर्वान् त्रिविधेन वन्दे ॥ १ ॥

पुरुषों में उत्तम हैं, पुरुषों में सिंह के समान निडर हैं, पुरुषों में कमल के समान अलिप्त हैं, पुरुषों में प्रधान गन्धहस्ति के समान सहनशील हैं, लोगों में उत्तम हैं, लोगों के नाथ हैं, लोगों के हितकारक हैं, लोक में प्रदीप के समान प्रकाश करने वाले हैं, लोक में अज्ञान अन्धकार का नाश करने वाले हैं, दुःखियों को अभयदान देने वाले हैं, अज्ञान से अन्ध ऐसे लोगों को ज्ञानरूप नेत्र देने वाले हैं, मार्गभ्रष्ट को अर्थात् गुमराह को मार्ग दिखाने वाले हैं, शरणागत को शरण देने वाले हैं, सम्यक्त्व प्रदान करने वाले हैं, धर्म-हीन को धर्म-दान करने वाले हैं, जिज्ञासुओं को धर्म का उपदेश करने वाले हैं, धर्म के नायक—अगुए हैं; धर्म के सारथि—संचालक हैं; धर्म में श्रेष्ठ हैं तथा चक्रवर्ती के समान चतुरन्त हैं अर्थात् जैसे चार दिशाओं की विजय करने के कारण चक्रवर्ती चतुरन्त कहलाता है वैसे अरिहंत भी चार गतियों का अन्त करने के कारण चतुरन्त कहलाते हैं, सर्वपदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को अर्थात् केवलज्ञान-केवलदर्शन को धारण करने वाले हैं, चार घाति-कर्मरूप आवरण से मुक्त हैं, स्वयं राग-द्वेष को जीतने वाले और दूसरों को भी जिताने वाले हैं, स्वयं संसार के पार पहुँच चुके हैं और दूसरों को भी उस के पार पहुँचाने वाले हैं, स्वयं ज्ञान को पाये हुए हैं और दूसरों को भी ज्ञान प्राप्त कराने वाले हैं, स्वयं मुक्त हैं और दूसरों को भी मुक्ति प्राप्त कराने वाले हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं तथा उपद्रव-रहित,

रहित, अचल, रोगरहित, अनन्त, अक्षय, व्याकुलता-रहित और पुनरागमन-रहित ऐसे मोक्ष स्थान को प्राप्त हैं।

सब प्रकार के भयों को जीते हुए जिनेश्वरों को नमस्कार हो।

जो सिद्ध अर्थात् मुक्त हो चुके हैं, जो भविष्य में मुक्त होने वाले हैं तथा वर्तमान में मुक्त हो रहे हैं उन सब—त्रैकालिक सिद्धों को मैं मन, वचन और शरीर से वन्दन करता हूँ ॥१०॥

१४—जावंति चेइआइं सूत्र।

* जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअ लोए अ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ॥१॥

अन्वयार्थ—'उड्ढे' ऊर्ध्वलोक में 'अहे अ' अधोलोक में 'अ' और 'तिरिअलोए' तिरछे लोक में 'तत्थ' जहाँ कहीं 'संताइं' वर्त्तमान 'जावंति' जितने 'चेइआइं' जिन-बिम्ब हों 'ताइं' उन 'सव्वाइं' सब को 'इह' इस जगह 'संतो' रहता हुआ [मैं] 'वंदे' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—[सर्व-चैत्य-स्तुति] ऊर्ध्वलोक अर्थात् ज्योतिर्लोक और स्वर्ग लोक, अधोलोक यानि पातल में बसने वाले

---

* यावन्ति चैत्यानि, ऊर्ध्वे चाधश्च तिर्यग्लोके च।
सर्वाणि तानि वन्दे, इह संस्तत्र सन्ति ॥१॥

नागकुमारादि भुवनपतियों का लोक और मध्यम लोक यानि इस मनुष्य लोक में जितनी जिन--प्रतिमाएँ हैं उन सब को मैं यहां अपने स्थान में रहा हुआ वन्दन करता हूँ ॥१॥

१५--जावंत केवि साहू सूत्र ।

* जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं ॥१॥

अन्वयार्थ---'भरह' भरत, 'एरवय' ऐरवत 'अ' और 'महाविदेहे' महाविदेह क्षेत्र में 'जावंत' जितने [और] 'के वि' जो कोई 'साहू' साधु हों 'तिविहेण' त्रि-करणपूर्वक 'तिदंड-विरयाणं' तीन दण्ड से विरत 'तेसिं' उन 'सव्वेसिं' सभों को [मैं] 'पणओ' प्रणत हूँ । ॥१॥

भावार्थ---[सर्व-साधु-स्तुति]। जो तीन दण्ड से त्रि-करण-पूर्वक अलग हुए हैं अर्थात् मन, वचन, काया के अशुभ व्यापार को न स्वयं करते हैं, न दूसरों से करवाते हैं और न करते हुए को अच्छा समझते हैं उन सब साधुओं को मैं नमन करता हूँ ॥१॥

---

* यावन्तः केऽपि साधवः भरतैरवतमहाविदेहे च ।
सर्वेभ्यस्तेभ्यः प्रणतः त्रिविधेन त्रिदण्डविरतेभ्यः ॥

१६--परमेष्ठि--नमस्कार ।

नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः ॥

अर्थ—श्रीअरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओं को नमस्कार हो ॥

१७--उवसग्गहरं स्तोत्र ।

* उवसग्गहरं-पासं, पासं वंदामि कम्म-घणमुक्कं ।
विसहर-विस-निन्नासं, मंगल-कल्लाण-आवासं ॥१॥

---

१ यह स्तोत्र चतुर्दशपूर्वधारी आचार्य भद्रबाहु का बनाया हुआ कहा जाता है । इस के बारे में ऐसी कथा प्रचलित है कि इन आचार्य का एक वराहमिहिर नाम का भाई था । वह किसी कारण से ईर्ष्यावश हो कर जैन साधुपन छोड दूसरे धर्म का अनुयायी हो गया था और ज्योतिषशास्त्र द्वारा अपना महत्त्व लोगों को बतला कर जैन साधुओं की निन्दा किया करता था । एक बार एक राजा की सभा में भद्रबाहु ने उसकी ज्योतिषशास्त्र-विषयक एक भूल बतलाई । इससे वह और भी अधिक जैन-धर्म का द्वेषी बन गया । अन्त में मर कर वह किसी हलकी योनि का देव हुआ और वहां पर पूर्वजन्म का स्मरण करने पर जैन-धर्म के ऊपर का उसका द्वेष फिर जागरित हो गया । इस द्वेष में अन्ध होकर उसने जैन संघ में मारी फैलानी चाही । तब भद्रबाहु ने उस मारी के निवारणार्थ इस स्तोत्र की रचना कर सब जैनों को इसका पाठ करना बतलाया । इसके पाठ से वह उपद्रव दूर हो गया । आदि वाक्य इसका 'उवसग्गहरं' होने से यह 'उपसर्गहर स्तोत्र' कहलाता है ।

† उपसर्गहर-पार्श्वम् पार्श्वं वन्दे कर्मघनमुक्तम् ।
विषधरविषनिर्णाशं मङ्गलकल्याणावासम् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'कम्म-घण-मुक्कं' कर्मों के समूह से छुटे हुए 'विसहरविस-निन्नासं' साँप के जहर का नाश करने वाले, 'मंगल-कल्लाण-आवासं' मंगल तथा आरोग्य के स्थान भूत [और] 'उवसग्ग-हरंपासं उपसर्गों को हरण करने वाले पार्श्व नामक यक्ष के स्वामी [ऐसे] 'पासं' श्रीपार्श्वनाथ भगवान्‌को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—उपसर्गों को दूर करने वाला पार्श्व नामक यक्ष जिनका सेवक है, जो कर्मों की राशि से मुक्त हैं, जिनके स्मरण मात्र से विषैले साँप का ज़हर नष्ट हो ज़ाता है और जो मंगल तथा कल्याण के अधार हैं ऐसे भगवान् श्री पार्श्वनाथ को मैं वन्दन करता हूँ ॥१॥

*** विसहर-फुलिंगमंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।**
तस्स गह-रोग-मारी, दुट्ठजरा जंति उवसामं ॥२॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'मणुओ' मनुष्य 'विसहर-फुलिंग-मंतं' विषधर स्फुलिङ्ग नामक मन्त्र को 'कंठे' कण्ठ में 'सया' सदा 'धारेइ' धारण करता है 'तस्स' उसके 'गह' ग्रह, 'रोग' रोग, 'मारी' हैजा और 'दुट्ठजरा' दुष्ट--कुपित—ज्वर [आदि] 'उवसामं' उपशान्ति 'जंति' पाते हैं ॥२॥

---

* विषधरस्फुलिङ्ग-मन्त्रं, कण्ठे धारयति यः सदा मनुजः ।
तस्य ग्रहरोगमारीदुष्टज्वरा यान्ति उपशमम् ॥२॥

भावार्थ—जो मनुष्य भगवान् के नाम-गर्भित 'विषधर-स्फुलिङ्ग' मन्त्र को हमेशा कण्ठ में धारण करता है अर्थात् पढ़ता है उसके प्रातिकूल ग्रह, कष्ट साध्य रोग, भयंकर मारी और दुष्ट ज्वर ये सभी उपद्रव शान्त हो जाते हैं ॥२॥

* चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ।
नर-तिरिएसु वि जीवा, पावंति न दुक्खदोगच्चं ॥३॥

अन्वयार्थ—'मंतो' मन्त्र 'दूरे' दूर 'चिट्ठउ' रहो 'तुज्झ' तुझ को किया हुआ 'पणामोवि' प्रणाम भी 'बहुफलो' बहुत फलदायक 'होइ' होता है, [क्योंकि उस से] 'जीवा' जीव 'नरतिरिएसु वि' मनुष्य, तिर्यंच गति में भी 'दुक्खदोगच्चं' दुःख-दरिद्रता 'न पावंति' नहीं पाते हैं ॥ ३ ॥

भावर्थ—हे भगवन्! विषधरस्फुलिङ्ग मन्त्र की बात तो दूर रही; सिर्फ तुझ को किया प्रणाम भी अनेक फलों को देता है, क्योंकि उस से मनुष्य तो क्या, तिर्यंच भी दुःख या दरिद्रता कुछ भी नहीं पाते ॥ ३ ॥

× तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ॥ ४ ॥

---

* तिष्ठतु दूरे मन्त्रः तव प्रणामोऽपि बहुफलो भवति।
नरतिरश्चोरपि जीवाः प्राप्नुवन्ति न दुःखदौर्गत्यम् ॥३॥

× तव सम्यक्त्वे लब्धे चिन्तामणिकल्पपादपाभ्याधिके।
प्राप्नुवान्ति अविघ्नेन, जीवा अजरामरं स्थानम् ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'चिंतामणिकप्पपायवब्भहिए' चिन्तामणि और कल्प वृक्ष से भी अधिक [ऐसे] 'सम्मत्ते' सम्यक्त्व को 'तुह' तुझ से 'लद्धे' प्राप्त कर लेने पर 'जीवा' जीव 'अविग्घेणं' विघ्न के सिवाय 'अयरामरं' जरा-मरण-रहित 'ठाणं' स्थान को 'पावंति' पाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सम्यक्त्व गुण, चिन्तामणि-रत्न और कल्पवृक्ष से भी उत्तम है । हे भगवन् ! उस गुण को तेरे आलम्बन से प्राप्त कर लेने पर जीव निर्विघ्नता से अजरामर पद को पाते हैं ॥४॥

† इअ संथुओ महायस ! भत्तिब्भर-निब्भरेण हिअएण ।
ता देव ! दिज्ज बोहिं, भवे-भवे पास-जिणचंद ॥५॥

अन्वयार्थ—' महायस ! ' हे महायशास्विन् ! [मैंने] 'इअ' इस प्रकार 'भत्ति-ब्भर-निब्भरेण' भक्ति के आवेग से परिपूर्ण ' हिअएण ' हृदय से 'संथुओ' [तेरी] स्तुति की 'ता' इस लिये 'पास-जिणचंद' हे पार्श्व-जिनचन्द्र 'देव' देव ! 'भवे भवे' हर एक भव में [मुझ को] 'बोहिं' सम्यक्त्व 'दिज्ज' दीजिये ॥ ५ ॥

भवार्थ—महायशस्विन् पार्श्वनाथ प्रभो ! इस प्रकार भक्ति-पूर्ण हृदय से तेरी स्तुति कर के मैं चाहता हूँ कि जन्म-जन्म में मुझ को तेरी कृपा से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो ॥ ५ ॥

---

† इति संस्तुतो महायशः ! भक्तिभरानिर्भरेण हृदयेन ।
तस्मात् देव ! देहि बोधिं भवे भवे पार्श्व जिनचन्द्र ॥ ५ ॥

१८—जय वीयराय सूत्र।

* जय वीयराय! जगगुरु!, होउ ममं तुह पभावओ भयवं!।
भव-निव्वेओ मग्गा—णुसरिआ इट्ठफलसिद्धी ॥ १ ॥
लोग विरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वय-णसेवणा आभवमखंडा ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—'वीयराय' हे वीतराग ! 'जगगुरु' हे जगद्गुरो ! 'जय' [तेरी] जय हो । 'भयवं' हे भगवन् ! 'तुह' तेरे 'पभावओ' प्रभाव से 'ममं' मुझ को 'भवनिव्वेओ' संसार से वैराग्य, 'मग्गणुसारिआ' मार्गानुसारिपन, 'इट्ठफलसिद्धी' इष्ट फल की सिद्धि, 'लोगविरुद्धच्चाओ' लोक-विरुद्ध कृत्य का त्याग

१—चैत्यवन्दन के अन्त में संक्षेप और विस्तार इस तरह दो प्रकार से प्रार्थना की जा सकती है। संक्षेप में प्रार्थना करनी हो तो " दुक्खखओ कम्मखओ " यह एक ही गाथा पढ़नी चाहिये और विस्तार से करनी हो तो " जय वीयराय " आदि तीन गाथाएँ। यह बात श्रीवादि-वेताल शान्तिसूरि ने अपने चैत्यवन्दन महाभाष्य में लिखी है। किन्तु इस से प्राचीन समय में प्रार्थना सिर्फ दो गाथाओं से की जाती थी क्योंकि श्री हरिभद्रसूरि ने चतुर्थ पञ्चाशक गा ३२-३४ में "जय वीयराय, लोग विरुद्धच्चाओ" इन दो गाथाओं से चैत्यवन्दन के अन्त में प्रार्थना करने की पूर्व परम्परा बतलाई है।

* जय वीतराग ! जगद्गुरो ! भवतु मम तव प्रभावतो भगवन् ।
भवनिर्वेदो मार्गानुसारिता इष्टफलसिद्धिः ॥१॥
लोकविरुद्धत्यागो गुरुजनपूजा परार्थकरणं च ।
शुभगुरुयोगः तद्वचनसेवनाऽऽभवमखण्डा ॥२॥

'गुरुजणपूआ' पूजनीय जनों की पूजा, 'परत्थकरणं' परोपकार का करना, 'सुहगुरुजोगो' पवित्र गुरु का सङ्ग 'च' और 'तव्वयणसेवणा' उनके वचन का पालन 'आभवं' जीवन पर्यन्त 'अखंडा' अखण्डित रूप से 'होउ' हो ॥ १—२ ॥

भावार्थ—हे वीतराग ! हे जगद्गुरो ! तेरी जय हो । संसार से वैराग्य, धर्म-मार्ग का अनुसरण, इष्ट फल की सिद्धि, लोकविरुद्ध व्यवहार का त्याग, बड़ों के प्रति बहुमान, परोपकार में प्रवृत्ति, श्रेष्ठ गुरु का समागम और उन के वचन का अखण्डित आदर—ये सब बातें हे भगवन् ! तेरे प्रभाव से मुझे जन्म-जन्म में मिलें ॥ १—२ ॥

* वारिज्जइ जइवि नियाण बंधणं वीयराय ! तुह समए ।
तहवि मम हुज्ज सेवा, भवे भवे तुम्ह चलणाणं ॥३॥

अन्वयार्थ—'वीयराय' हे वीतराग ! 'जइवि' यद्यपि 'तुह' तेरे 'समए' सिद्धान्त में 'नियाणबंधणं' निदान—नियाणा करने का 'वारिज्जइ' निषेध किया जाता है 'तहवि' तो भी 'तुम्ह' तेरे 'चलणाणं' चरणों की 'सेवा' सेवना 'मम' मुझको 'भवे भवे' जन्म-जन्म में 'हुज्ज' हो ॥३॥

---

* वार्यते यद्यपि निदानबन्धनं वीतराग ! तव समये ।
तथापि मम भवतु सेवा भवे-भवे तव चरणयोः ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे वीतराग ! यद्यपि तेरे सिद्धान्त में नियाणा करने की अर्थात् फल की चाह रखकर क्रिया-अनुष्ठान करने की मनाही है तो भी मैं उसको करता हूँ; और कुछ भी नहीं, पर तेरे चरणों की सेवा प्रति जन्म में मिले—यही मेरी एक मात्र अभिलाषा है ॥ ३ ॥

* दुक्खखओ कम्मखओ, समाहिमरणं च बोहिलाभो अ ।
संपज्जउ मह एअं, तुह नाह ! पणामकरणेणं ॥४॥

अन्वयार्थ— 'नाह' हे नाथ ! 'तुह' तुझको 'पणामकरणेणं' प्रणाम करने से 'दुक्खखओ' दुःख का क्षय, 'कम्मखओ' कर्म का क्षय, 'समाहिमरणं' समाधि-मरण 'च' और 'बोहिलाभो अ' सम्यक्त्व का लाभ 'एअं' यह [सब] 'मह' मुझको 'संपज्जउ' प्राप्त हो ॥४॥

भावार्थ—हे स्वामिन् ! तुझको प्रणाम करने से और कुछ भी नहीं; सिर्फ दुःख का तथा कर्म का क्षय; समभावपूर्वक मरण और सम्यक्त्व मुझे अवश्य प्राप्त हों ॥ ४ ॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥५॥

अन्वयार्थ—'सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं' सर्व मंगलों का मंगल 'सर्वकल्याणकारणं' सब कल्याणों का कारण; 'सर्वधर्माणां'

---

* दुःखक्षयः कर्मक्षयः समाधिमरणं च बोधिलाभश्च ।
संपद्यतां ममैतत्, तव नाथ ! प्रणामकरणेन ॥ ४ ॥

'सव धर्मों में 'प्रधानं' प्रधान [ऐसा] 'जैनं शासनम्' जिन-कथित शासन—सिद्धान्त 'जयति' विजयी हो रहा है ॥५॥

भावार्थ—लौकिक-लोकोत्तर सब प्रकार के मंगलों की जड़ द्रव्य-भाव सब प्रकार के कल्याणों का कारण और संम्पूर्ण धर्मों में प्रधान जो वीतराग का कहा हुआ श्रुत-धर्म है वही सर्वत्र जयवान् वर्तरहा है ॥ ५ ॥

१९--अरिहंतचेइयाणं सूत्र ।

*** अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए, पूअणवात्तियाए, सक्कारवत्तियाए, सम्माण-वत्तियाए, बोहिलाभवत्तियाए, निरुवसग्गवत्तियाए ॥**

अन्वयार्थ—'अरिहंतचेइयाणं' श्रीअरिहंत के चैत्यों के अर्थात् बिम्बों के 'वंदणवत्तियाए' वन्दन के निमित्त 'पूअणवत्तियाए' पूजन के निमित्त 'सक्कारवत्तियाए' सत्कार के निमित्त [और] 'सम्माणवत्तियाए' सम्मान के निमित्त [तथा] 'बोहिलाभवत्तियाए' सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त 'निरुवसग्गवत्तियाए' मोक्ष के निमित्त 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'करेमि' करता हूँ ॥ २ ॥

---

* अर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं ॥१॥ वन्दनप्रत्ययं, पूजनप्रत्ययं, सत्कारप्रत्ययं, सम्मानप्रत्ययं, बोधिलाभप्रत्ययं, निरुपसर्गप्रत्ययं ॥ २ ॥

† सद्धाए, मेहाए, धिईए, धारणाए, अणुप्पेहाए, वड्ढमाणीए, ठामि काउस्सग्गं ॥

अन्वयार्थ—'वड्ढमाणीए' बढ़ती हुई 'सद्धाए' श्रद्धा से 'मेहाए' बुद्धि से; 'धिईए' धृति से अर्थात् विशेष प्रीति से 'धारणाए' धारणा से अर्थात् स्मृति से 'अणुप्पेहाए' अनुप्रेक्षा से अर्थात् तत्व-चिंतन से 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठामि' करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—अरिहंत भगवान् की प्रतिमाओं के वन्दन, पूजन, सत्कार, और सम्मान करने का अवसर मिले तथा वन्दन आदि द्वारा सम्यक्त्व और मोक्ष प्राप्त हो इस उद्देश्य से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ॥

बढ़ती हुई श्रद्धा, बुद्धि, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा पूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ ॥

२०—कल्लाणकंदं स्तुति ।

* कल्लाणकंदं पढमं जिणिंदं,
संतिं तओ नेमिजिणं मुणिंदं ।

---

† श्रद्धया, मेधया, धृत्या, धारणया, अनुप्रेक्षया, वर्द्धमानया, तिष्ठामि कायोत्सर्गम् ॥ ३ ॥

* कल्याणकन्दं प्रथमं जिनेन्द्रं, शान्तिं ततो नेमिजिनं मुनीन्द्रम् ।
पार्श्वम् प्रकाशं सुगुणैकस्थानं, भक्त्या वन्दे श्रीवर्द्धमानम् ॥१॥

पासं पयासं सुगुणिक्कठाणं,
भत्तीइ वन्दे सिरिवद्धमाणं ॥१॥

अन्वयार्थ—'कल्लाणकन्दं' कल्याण के मूल 'पढमं' प्रथम 'जिणिंदं' जिनेन्द्र को 'संतिं' श्रीशान्तिनाथ को, 'मुणिंदं' मुनियों के इन्द्र 'नेमिजिणं' श्रीनेमिनाथ को, 'पयासं' प्रकाश फैलाने वाले 'पासं' श्रीपार्श्वनाथ को 'तओ' तथा 'सुगुणिक्कठाणं' सद्गुण के मुख्य स्थान-भूत 'सिरिवद्धमाणं' श्रीबर्द्धमान स्वामी को 'भत्तीइ' भक्ति पूर्वक 'वंदे' वन्दन करता हूँ ।

भावार्थ—[कुछ तीर्थङ्करों की स्तुति] कल्याण के कारण प्रथम जिनेश्वर श्रीआदिनाथ, श्रीशान्तिनाथ, मुनिओं में श्रेष्ठ श्रीनेमिनाथ, अज्ञान दूर कर ज्ञान के प्रकाश को फैलाने वाले श्रीपार्श्वनाथ और सद्गुणों के मुख्य आश्रय-भूत श्रीमहावीर इन पाँच तीर्थङ्करों को मैं भक्ति पूर्वक वन्दन करता हूँ ॥१॥

* अपारसंसारसमुद्दपारं,
पत्ता सिवं दिन्तु सुइक्कसारं ।
सव्वे जिणिंदा सुरविंदवंदा,
कल्लाणवल्लीण विसालकंदा ॥२॥

---

* अपारसंसारसमुद्रपारं प्राप्ताःशिवं ददतु शुच्येकसारम् ।
सर्वे जिनेन्द्राः सुरवृन्दवन्द्याः कल्याणवल्लीनां विशालकन्दाः ॥२॥

अन्वयार्थ—'अपारसंसारसमुद्दपारं' संसार रूप अपार समुद्र के पार को 'पत्ता' पाये हुए, 'सुरविंदवंदा' देवगण के भी वन्दन योग्य, 'कल्लाणवल्लीण' कल्याण रूप लताओं के 'विसाल कंदा' विशाल कन्द 'सव्वे' सब 'जिणिंदा' जिनेन्द्र 'सुइक-सारं' पवित्र वस्तुओं में विशेष सार रूप 'सिवं' मोक्ष को 'दिंतु' देवें ॥२॥

भावार्थ—[सब तीर्थङ्करों की स्तुति] संसार समुद्र के पार पहुँचे हुए, देवगण के भी वन्दनीय और कल्याण-परंपरा के प्रधान कारण ऐसे सकल जिन मुझ को परम पवित्र मुक्ति देवें ॥२॥

† निव्वाणमग्गेवरजाणकप्पं,
पणासियासेसकुवाइदप्पं ।
मयं जिणाणं सरणं बुहाणं,
नमामि निच्चं तिजगप्पहाणं ॥३॥

अन्वयार्थ—'निव्वाणमग्गे' मोक्ष-मार्ग के विषय में 'वर-जाणकप्पं' श्रेष्ठ वाहन के समान 'पणासियासेसकुवाईदप्पं' समस्त कदाग्रहियों के घमंड को । तोड़ने वाले, 'बुहाणं' पण्डितों के लिये 'सरणं' आश्रय भूत और 'तिजगप्पहाणं' तीन जगत् में प्रधान ऐसे 'जिणाणंमयं' जिनेश्वरों के मत को

† निर्वाण-मार्गे वरयानकल्पं प्रणाशिताऽऽशेषकुवादिदर्पम् ॥
मतं जिनानां शरणं बुधानां नमामि नित्यं त्रिजगत्प्रधानम् ॥ ३ ॥

सिद्धान्त को 'निच्चं' नित्य 'नमामि' नमन करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—[सिद्धान्त की स्तुति] जो मोक्ष मार्ग पर चलने के लिये अर्थात् सम्यग्दर्शन, साम्यग्ज्ञान और सम्मक् चरित्र का आराधन करने के लिये वाहन के समान प्रधान साधन है, जो मिथ्यावादियों के घमंड को तोड़ने वाला है और जो तीन लोक में श्रेष्ठ तथा विद्वानों का आधार भूत है, उस जैन सिद्धान्त को मैं नित्य प्रति नमन करता हूँ ॥ ३ ॥

* कुंदिंदुगोक्खीरतुसारवन्ना, सरोजहत्था कमले निसन्ना।
वाएसिरी पुत्थयवग्गहत्था, सुहाय सा अम्ह सया पसत्था ॥४॥

अन्वयार्थ—'कुंदिंदुगोक्खीरतुसारवन्ना' मोगरा के फूल, चन्द्र, गाय के दूध और बर्फ के समान वर्णवाली अर्थात् श्वेत, 'सरोजहत्था' हाथ में कमल धारण करने वाली 'कमले' कमल पर 'निसन्ना' बैठने वाली 'पुत्थयवग्गहत्था' हाथ में पुस्तकें धारण करने वाली [ऐसी] 'पसत्था' प्रशस्त—श्रेष्ठ 'सा' वह—प्रसिद्ध 'वाएसिरि' वागीश्वरी—सरस्वती देवी 'सया' हमेशा 'अम्ह' हमारे 'सुहाय' सुख के लिये हो ॥ ४ ॥

---

* कुन्देन्दुगोक्षीरतुषारवर्णा सरोजहस्ता कमले निषण्णा वागीश्वरी पुस्तकवर्गहस्ता सुखाय सा नः सदा प्रशस्ता ॥ ४ ॥

भावार्थ—[श्रुतदेवता की स्तुति] जो वर्ण में कुन्द के फूल, चन्द्र, गो-दुग्ध, तथा बर्फ के समान सफ़ेद है, जो कमल पर बैठी हुई है और जिसने एक हाथ में कमल तथा दूसरे हाथ में पुस्तकें धारण की हैं, वह सरस्वती देवी सदैव हमारे सुख के लिये हो ॥ ४ ॥

२१—संसार-दावानल[1] स्तुति।

संसारदावानलदाहनीरं, संमोहधूलीहरणेसमीरं।
मायारसादारणसारसीरं, नमामि वीरं गिरिसारधीरं॥१॥

अन्वयार्थ—'संसारदावानलदाहनीरं' संसार रूप दावानल के दाह के लिये पानी के समान, संमोह-धूली-हरणे-समीरं, मोह रूप धूल को हरने में पवन के समान 'मायारसादारणसारसीरं' माया रूप पृथ्वी को खोदने में पैने हल के समान [और] गिरिसारधीरं' पर्वत के तुल्य धीरज वाले 'वीरं' श्री महावीर स्वामी को 'नमामि' [मैं] नमन करता हूँ॥ १ ॥

१—इस स्तुति की भाषा सम संस्कृत–प्राकृत है।

अर्थात् यह स्तुति संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषा के श्लेष से रची हुई है। इसको श्री हरिभद्रसूरिने रचा है जो आठवीं शताब्दी में हो गये हैं और जिन्होंने नन्दी, पन्नवणा आदि आगम की टीकाएँ तथा षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्र वार्ता समुच्चय आदि अनेक दार्शनिक स्वतन्त्र महान् ग्रन्थ लिखे हैं।

भावार्थ—[श्रीमहावीर-स्तुति] मैं भगवान् महावीर को नमन करता हूं। जल जिस प्रकार दावानल के सन्ताप को शान्त करता है उसी प्रकार भगवान् संसार के सन्ताप को शान्त करते है, हवा जिस प्रकार धूलि को उड़ा देती है उसी प्रकार भगवान् भी मोह को नष्ट कर देते हैं; जिस प्रकार पैना हल पृथ्वी को खोद डालता है उसी प्रकार भगवान् माया को उखाड़ फेंकते हैं और जिस प्रकार सुमेरु चलित नहीं होता उसी प्रकार अति धीरज के कारण भगवान् भी चलित नहीं होते ॥ १ ॥

भावावनामसुरदानवमानवेन,
चूलाविलोलकमलावलिमालितानि ।
संपूरिताभिनतलोकसमीहितानि,
कामं नमामि जिनराज-पदानि तानि ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—' भावावनाम ' भाव पूर्वक नमन करने वाले ' सुरदानवमानवेन ' देव, दानव और मनुष्य के स्वामियों के ' चूलाविलोलकमलावलिमालितानि ' मुकुटों में वर्तमान चञ्चल कमलों की पङ्क्ति से सुशोभित, [और] 'संपूरिताभिनतलोकसमीहितानि' नमे हुए लोगों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले, 'तानि' प्रसिद्ध 'जिनराज-पदानि' जिनेश्वर के चरणों को 'कामं' अत्यन्त 'नमामि' नमन करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—[सकल-जिन की स्तुति] भक्ति पूर्वक नमन करने वाले देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और नरेन्द्रों के मुकुटों की कोमल

कमल-मालाओं से जो शोभायमान हैं, और भक्त लोगों की कामनाएँ जिन के प्रभाव से पूर्ण होती हैं, ऐसे सुन्दर और प्रभावशाली जिनेश्वर के चरणों को मैं अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक नमन करता हूँ ॥२॥

बोधागाधं सुपदपदवीनीरपूराभिरामं ।
जीवाहिंसाऽविरललहरीसंगमागाहदेहं ॥
चूलावेलं गुरुगममणीसंकुलं दूरपारं ।
सारं वीरागमजलनिधिं सादरं साधु सेवे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—'बोधागाधं' ज्ञान से अगाध—गम्भीर, 'सुपद-पदवीनीरपूराभिरामं' सुन्दर पदों की रचनारूप जल-प्रवाह से मनोहर, 'जीवाहिंसाऽविरललहरीसङ्गमागाहदेहं' जीवदया-रूप निरन्तर तरङ्गों के कारण कठिनाई से प्रवेश करने योग्य, 'चूला-वेलं' चूलिका रूप तटवाले 'गुरुगममणीसंकुलं' बड़े बड़े आलावा रूप रत्नों से व्याप्त [और] 'दूरपारं' जिसका पार पाना कठिन है [ऐसे] 'सारं' श्रेष्ठ 'वीरागमजलनिधिं' श्री-महावीर के आगम-रूप समुद्र की [मैं] 'सादरं' आदर-पूर्वक 'साधु' अच्छी तरह 'सेवे' सेवा करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—[आगम-स्तुति] इस श्लोक के द्वारा समुद्र के साथ समानता दिखा कर आगम की स्तुति की गई है ।

जैसे समुद्र गहरा होता है वैसे जैनागम भी अपरिमित ज्ञान वाला होने के कारण गहरा है । जल की प्रचुरता के कारण जिस प्रकार समुद्र सुहावना मालूम होता है वैसे ही

ललित पदों की रचना के कारण आगम भी सुहावना है। लगातार बड़ी बड़ी तरङ्गों के उठते रहने से जैसे समुद्र में प्रवेश करना कठिन है वैसे ही जीवदया-सम्बन्धी सूक्ष्म विचारों से परिपूर्ण होने के कारण आगम में भी प्रवेश करना अति कठिन है। जैसे समुद्र के बड़े बड़े तट होते हैं वैसे ही आगम में भी बड़ी बड़ी चूलिकाएँ हैं। जिस प्रकार समुद्र में मोती मूंगे आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ होती हैं इस प्रकार आगम में भी बड़े बड़े उत्तम गम—आलावे, (सदृश पाठ) हैं। तथा जिस प्रकार समुद्र का पार—सामना किनारा—बहुत ही दूरवर्ती होता है वैसे ही आगम का भी पार—पूर्ण रीति से मर्म-समझना—दूर (अत्यन्त मुश्किल) है । ऐसे आगम की मैं आदर तथा विधिपूर्वक सेवा करता हूँ ॥२॥

आमूलालोलधूलीबहुलपरिमलालीढलोलालिमाला-
झङ्कारारावसारामलदलकमलागारभूमिनिवासे !।

१—चूलिका का पर्याय अर्थात् दूसरा नाम उत्तर-तन्त्र है। शास्त्र के उस हिस्से को उत्तर-तन्त्र कहते हैं जिस में पूर्वार्ध मे कहे हुए और नहीं कहे हुए विषयों का संग्रह हो दशवैकालिक नि० गा० ३५९ पृ. २६९, आचाराङ्ग टीका पृ० ६८ नन्दि-वृत्ति पृ. २०६)

२—गम के तीन अर्थ देखे जाते हैं:—(१) सदृश पाठ (विशेषावश्यक भाष्य गाथा० ५४८) (२) एक सूत्र से होने वाले अनेक अर्थ बोध (३) एक सूत्र के विविध व्युत्पत्तिलभ्य अनेक अर्थ और अन्वय (नन्दि-वृत्ति पृ०२११- $\frac{२१२}{१}$ ।

छाया-संभार सारे ! वरकमलकरे ! तारहाराभिरामे !
वाणीसंदोहदेहे ! भवविरहवरं देहि मे देवि ! सारम् ॥४॥

अन्वयार्थ—'धूलीबहुलपरिमला' रज—पराग से भरी हुई सुगन्धि में 'आलीढ' मग्न [और] लोल चपल [ऐसी] 'अलि-माला' भौंरों की श्रेणियों की 'झङ्कार' गूँज के 'आराव' शब्द से 'सारं' श्रेष्ठ [तथा] 'आमूल' जड़ से लेकर 'आलोल' चञ्चल [ऐसे] 'अमलदल-कमल' स्वच्छ पत्र वाले कमल पर स्थित [ऐसे] 'अगारभूमि-निवासे' गृह की भूमि में निवास करने वाली 'छायासंभारसारे' कान्ति-पुञ्ज से शोभायमान 'वर-कमल-करे' हाथ में उत्तम कमल को धारण करने वाली 'तार-हाराभिरामे' स्वच्छहार से मनोहर [और] 'वाणीसंदोहदेहे' बारह अङ्ग रूप वाणी ही जिसका शरीर है ऐसी देवि—हेश्रुतदेवि ! 'मे' मुझ को 'सारं' सर्वोत्तम 'भवविरहवरं' संसार-विरह—मोक्ष का वर 'देहि' दें ॥ ४ ॥

भावार्थ—[श्रुतदेवी की स्तुति] जल के कल्लोल से मूल-पर्यन्त कंपायमान तथा पराग की सुगन्ध से मस्त हो कर चारों तरफ गूंजते रहने वाले भौंरों से शोभायमान ऐसे मनोहर कमल-पत्र के ऊपर आये हुए भवन में रहने वाली, कान्ति के समूह से दिव्य रूप को धारण करने वाली, हाथ में सुन्दर कमल को रखने वाली, गले में पहने हुये भव्य हार से दिव्य-

स्वरूप दिखाईदेने वाली, और द्वादशाङ्गी[1] वाणी की अधिष्ठात्री हे श्रुत-देवि ! तू मुझे संसार से पार होने का वरदान दे ॥४॥

२२—पुक्खर-वर-दीवड्ढे सूत्र ।

* पुक्खरवरदीवड्ढे, धायइसंडे अ जंबुदीवे अ ।
भरहेरवयविदेहे धम्माइगरे नमंसामि ॥१॥

अन्वयार्थ—'जंबुदीवे' जम्बूद्वीप के 'धायइसंडे' धातकी-खण्ड के 'अ' तथा 'पुक्खरवरदीवड्ढे' अर्ध पुष्करवर-द्वीप के 'भरहेरवयविदेहे' भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में 'धम्माइगरे' धर्म की आदि करने वालों को [मैं] 'नमंसामि' नमस्कार करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—जम्बूद्वीप, धातकी-खण्ड और अर्ध पुष्करवर-द्वीप के भरत, ऐरवत, महाविदेह क्षेत्र में धर्म की प्रवृत्ति करने वाले तीर्थङ्करों को मैं नमस्कार करता हूँ । ॥१॥

१—१ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ व्याख्या-प्रज्ञप्ति–भगवती, ६ ज्ञाता–धर्मकथा, ७ उपासकदशाङ्ग, ८ अन्तकृत्दशाङ्ग, ९ अनुत्तरोपपातिकदशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाक और १२ दृष्टिवाद, ये बारह अङ्ग कहलाते हैं । इन अङ्गों की रचना तीर्थङ्कर भगवान् के मुख्य शिष्य जो गणधर कहलाते हैं वे करते हैं । इन अङ्गों में गूंथी गई भगवान् की वाणी को 'द्वादशाङ्गी वाणी' कहते हैं ।

* पुष्करवरद्वीपार्धे धातकीषण्डे च जम्बूद्वीपे च ।
भरतैरवतविदेहे धर्मादिकरान्नमस्यामि ॥१॥

[तीन गाथाओं में श्रुत की स्तुति]

* तम-तिमिर-पडल-विद्धं-
सणस्स सुर-गणनरिंदमहियस्स ।
सीमाधरस्स वंदे,
पप्फोडिअ-मोह-जालस्स ॥२॥

अन्वयार्थ—'तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स' अज्ञानरूप अन्धकार के परदे का नाश करने वाले 'सुरगणनरिंदमहियस्स' देवगण और राजों के द्वारा पूजित, 'सीमाधरस्स' मर्यादा को धारण करने वाले [और] 'पप्फोडिअ-मोह-जालस्स' मोह के जाल को तोड़ देने वाले [श्रुत को] 'वंदे' मैं वन्दन करता हूँ ॥२॥

† जाई-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स ।
कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स ॥
को देवदाणवनरिंदगणच्चियस्स ।
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥३॥

अन्वयार्थ—'जाईजरामरणसोगपणासणस्स' जन्म, जरा, मरण और शोक को मिटाने वाले 'कल्लाणपुक्खल-

* तमस्तिमिरपटलविध्वंसनस्य सुरगणनरेन्द्रमहितस्य ।
सीमाधरस्य वन्दे प्रस्फोटितमोहजालस्य ॥२॥

† जातिजरामरणशोकप्रणाशनस्य ।
कल्याणपुष्कलविशालसुखावहस्य ॥
को देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य ।
धर्मस्य सारमुपलभ्य कुर्यात् प्रमादम् ॥३॥

विसालसुहावहस्स' कल्याणकारी और परम उदार सुख अर्थात् मोक्ष को देने वाले 'देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स' देवगण, दानवगण, और नरपतिगण के द्वारा पूजित, [ऐसे] 'धम्मस्स' धर्म के 'सारं' सार को 'उवलब्भ' पा कर 'पमायं' प्रमाद 'को' कौन 'करे' करेगा ? ॥३॥

† सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे ।
देवंनागसुवन्नकिन्नरगणस्सब्भूअभावाच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं ।
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥४॥

अन्वयार्थ—'भो' हे भव्यों ! [मैं] 'पयओ' बहुमानयुक्त हो कर 'सिद्धे' प्रमाण भूत 'जिणमये' जिनमत—जिन-सिद्धान्त को 'णमो' नमस्कार करता हूँ [जिस सिद्धान्त से] 'देवं-नाग-सुवन्न-किन्नरगण' देवों, नागकुमारों[1], सुवर्णकुमारों[2] और किन्नरों[3] के समूह द्वारा 'स्सब्भूअभावच्चिए' शुद्ध भावपूर्वक अर्चित

---

† सिद्धाय भोः ! प्रयतो नमो जिनमताय नन्दिः सदा संयमे ।
देवनागसुवर्णकिन्नरगणसद्भूतभावार्चिते ॥
लोको यत्र प्रतिष्ठितो जगदिदं त्रैलोक्यमर्त्यासुरं ।
धर्मो वर्धतां शाश्वतो विजयतो धर्मोत्तरं वर्धतां ॥४॥

१—ये भवनपति निकाय के देव-विशेष है । इन के गहनों में साँप का चिह्न है और वर्ण इन का सफ़ेद है ॥

२—ये भी भवनपति जाति के देव हैं इन के गहनों में गरुड़ का चिह्न और वर्ण इन का सुवर्ण की तरह गौर है ।(बृहत्संग्रहणी गा०४२–४४)।

३—ये व्यन्तर जाति के देव हैं । चिह्न इन का अशोक वृक्ष है जो

[ऐसे] 'संजमे' संयम में 'सया' सदा 'नंदी' वृद्धि होती है [तथा] 'जत्थ' जिस सिद्धान्त में 'लोगो' ज्ञान [और] 'तेलुक्कमच्चासुरं' मनुष्य असुरादि तीन लोकरूप 'इणं' यह 'जगं' जगत् 'पइट्ठिओ' प्रतिष्ठित है । [वह] 'सासओ' शाश्वत 'धम्मो' धर्म—श्रुतधर्म 'विजयओ' विजय-प्राप्ति द्वारा 'वड्ढउ' वृद्धि प्राप्त करे [और इस से] 'धम्मुत्तरं' चारित्र-धर्म भी 'वड्ढउ' वृद्धि प्राप्त करे ॥४॥

भावार्थ—मैं श्रुत धर्म को वन्दन करता हूँ; क्यों कि यह अज्ञानरूप अन्धकार को नष्ट करता है, इस की पूजा नृपगण तथा देवगण तक ने की है, यह सब को मर्यादा में रखता है और इस ने अपने आश्रितों के मोह जाल को तोड़ दिया है ॥२॥

जो जन्म जरा मरण और शोक का नाश करने वाला है जिस के आलम्बन से मोक्ष का अपरिमित सुख प्राप्त किया जा सकता है, और देवों, दानवों तथा नरपतियों नें जिस की पूजा की है ऐसे श्रुतधर्म को पाकर कौन बुद्धिमान् गाफ़िल रहेगा ? कोई भी नही ॥३॥

जिस का बहुमान किन्नरों, नागकुमारों, सुवर्णकुमारों और देवों तक ने यथार्थ भक्ति पूर्वक किया है, ऐसे संयम की वृद्धि जिन-कथित सिद्धान्त से ही होती है । सब प्रकार का ज्ञान भी

ध्वज में होता है। वर्ण प्रियङ्गु वृक्ष के समान है। (बृहत्संग्रहणी गा० ५८, ६१-६२)

जिनोक्त सिद्धान्त में ही निःसन्देह रीति से वर्तमान है। जगत के मनुष्य असुर आदि सब प्राणिगण जिनोक्त सिद्धान्त में ही युक्ति प्रमाण पूर्वक वर्णित हैं। हे भव्यों! ऐसे नय-प्रमाण-सिद्ध जैन सिद्धान्त को मैं आदर-साहित नमस्कार करता हूँ। वह शाश्वत सिद्धान्त उन्नत होकर एकान्त वाद पर विजय प्राप्त करे, और इस से चारित्र-धर्म की भी वृद्धि हो॥

सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदण-वत्तियाए इत्यादि० ॥

अर्थ—मैं श्रुत धर्म के वन्दन आदि निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ।

२३—सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र[1]।

[सिद्ध की स्तुति]

*** सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं।**
लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्वसिद्धाणं ॥१॥

१—इस सूत्र की पहली तीन ही स्तुतिओं की व्याख्या श्रीहरिभद्रसूरि ने की है; पिछली दो स्तुतिओं की नहीं। इस का कारण उन्होंने यह बतलाया है कि "पहली तीन स्तुतियाँ नियम पूर्वक पढ़ी जाती है, पर पिछली स्तुतियाँ नियम पूर्वक नहीं पढ़ी जातीं। इसलिये इन का व्याख्यान नहीं किया जाता" (आवश्यक टीका पृ० ७९०, ललितविस्तरा पृ० ११२)।

* सिद्धेभ्यो बुद्धेभ्यः पारगतेभ्यः परम्परागतेभ्यः ।
लोकाग्रमुपगतेभ्यो, नमः सदा सर्वसिद्धेभ्यः ॥१॥

अन्वयार्थ—'सिद्धाणं' सिद्धि पाये हुए 'बुद्धाणं' बोध पाये हुए 'पारगयाणं' पार पहुँचे हुए 'परंपरगयाणं' परंपरा से गुणस्थानों के क्रम से सिद्धि पद तक पहुँचे हुए 'लोअग्गं' लोक के अग्र भाग पर 'उवगयाणं' पहुँचे हुए 'सव्वसिद्धाणं' सब सिद्धजीवों को 'सया' सदा 'नमो' नमस्कार हो ॥१॥

भावार्थ—जो सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, पारगत हैं, क्रमिक आत्म विकास द्वारा मुक्ति-पद पर्यन्त पहुँचे हुए हैं और लोक के ऊपर के भाग में स्थित हैं उन सब मुक्त जीवों को सदा मेरा नमस्कार हो ॥१॥

[महावीर की स्तुति]

*** जो देवाणवि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।**
तं देवदेव-महिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥२॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'देवाणवि' देवों का भी 'देवो' देव है और 'जं' जिसको 'पंजली' हाथ जोड़े हुए 'देवा' देव 'नमंसंति' नमस्कार करते हैं 'देवदेवमहिअं' देवों के देव—इन्द्र द्वारा पूजित [ऐसे] 'तं' उस 'महावीरं' महावीर को 'सिरसा' सिर झुका कर 'वंदे' वन्दन करता हूँ ॥२॥

---

* यो देवानामपि देवो यं देवाः प्राञ्जलयो नमस्यान्ति ।
तं देवदेव- महितं शिरसा वन्दे महावीरम् ॥२॥

* इक्कोवि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥३॥

अन्वयार्थ—'जिणवरवसहस्स' जिनों में प्रधान भूत 'वद्धमाणस्स' श्रीवर्द्धमान को [किया हुआ] 'इक्कोवि' एक भी 'नमुक्कारो' नमस्कार 'नरं' पुरुष को 'वा' अथवा 'नारिं' स्त्री को 'संसारसागराओ' संसाररूप समुद्र से 'तारेइ' तार देता है ॥३॥

भावार्थ—जो देवों का देव है, देवगण भी जिस को हाथ जोड़ कर आदर पूर्वक नमन करते हैं और जिस की पूजा इन्द्र तक करते हैं उस देवाधिदेव महावीर को सिर झुका कर मैं नमस्कार करता हूँ ।

जो कोई व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री भगवान् महावीर को एक वार भी भाव पूर्वक नमस्कार करता है वह संसार रूप अपार समुद्र को तर कर परम पद को पाता है ॥२॥ ॥३॥

[अरिष्टनेमि की स्तुति]

† उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥४॥

---

* एकोऽपि नमस्कारो जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य ।
संसारसागरात्तारयति नरं वा नारीं वा ॥३॥

† उज्जयन्तशैलशिखरे दीक्षा ज्ञानं नैषेधिकी यस्य ।
तं धर्मचक्रवर्त्तिनमरिष्टनेमिं नमस्यामि ॥४॥

अन्वयार्थ—'उज्जितसेलसिहरे' उज्जयंत–गिरनार पर्वत के शिखर पर 'जस्स' जिस की 'दिक्खा' दीक्षा 'नाणं' केवल ज्ञान [और] 'निसीहिआ' मोक्ष हुए हैं 'तं' उस 'धम्मचक्कचट्टिं' धर्मचक्रवर्ती 'अरिट्ठनेमिं' श्रीअरिष्टनेमि को 'नमंसामि' नमस्कार करता हूँ ॥४॥

भावार्थ—जिस के दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष ये तीन कल्याणक गिरिनार पर्वत पर हुए है, जो धर्मचक्र का प्रवर्त्तक है उस श्री नेमिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥४॥

[२४ तीर्थङ्करों की स्तुति]

* चत्तारि अट्ठ दस दो, य वंदिया जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥५॥

अन्वयार्थ—'चत्तारि' चार 'अट्ठ' आठ 'दस' दस 'य' और 'दो' दो [कुल] 'चउव्वीसं' चौबीस 'जिणवरा' जिनेश्वर [जो] 'वंदिआ' वन्दित हैं, 'परमट्ठनिट्ठिअट्ठा' परमार्थ से कृतकृत्य हैं [और] 'सिद्धा' सिद्ध हैं वे 'मम' मुझको 'सिद्धिं' मुक्ति 'दिसंतु' देवें ॥५॥

भावार्थ—जिन्होंने परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त किया है और इससे जिनको कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं है वे चौबीस जिनेश्वर मुझको सिद्धि प्राप्त करने में सहायक हों ।

१—देखो आवश्यकनिर्युक्ति गा० २२९–२३१, २५४, ३०७।

* चत्वारोऽष्टदश द्वौच वन्दिता जिनवराश्चतुर्विंशतिः ।
परमार्थनिष्ठितार्थाः सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ॥५॥

इस गाथा में चार, आठ, दस, दो इस क्रम से कुल चौवीस की संख्या बतलाई है इसका अभिप्राय यह है कि अष्टापद पर्वत पर चार दिशाओं में उसी क्रम से चौवीस प्रतिमाएँ विराजमान हैं ॥५॥

२४--वेयावच्चगराणं सूत्र ।

* वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० इत्यादि० ॥

अन्वयार्थ—'वेयावच्चगराणं' वैयावृत्यकरनेवाले के 'संतिगराणं' शान्ति करने वाले [और] 'सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं' सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि पहुँचाने वाले [ऐसे देवों की आराधना के निमित्त] 'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'करेमि' करता हूँ ।

भावार्थ—जो देव, शासन की सेवा-शुश्रूषा करने वाले हैं, जो सब जगह शान्ति फैलाने वाले हैं और जो सम्यक्त्वी जीवों को समाधि पहुँचाने वाले हैं उनकी आराधना के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

---

* वैयावृत्यकराणां शान्तिकराणां सम्यग्दृष्टिसमाधिकराणां करोमि कायोत्सर्गम् ॥

२५—भगवान् आदि को वन्दन।

* भगवानहं[1], आचार्यहं, उपाध्यायहं, सर्वसाधुहं।

अर्थ—भगवान् को, आचार्य को, उपाध्याय को, और अन्य सब साधुओं को नमस्कार हो।

२६—देवसिअ पडिक्कमणे ठाउं।

इच्छाकारेण संदिसह भगवं देवसिअ पडिक्कमणे ठाउं ? इच्छं।

† सव्वस्सवि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ मिच्छा मि दुक्कडं।

अन्वयार्थ—'देवसिअ' दिवस-सम्बन्धी 'सव्वस्सवि' सभी 'दुच्चिंतिअ' बुरे चिंतन 'दुब्भासिअ' बुरे भाषण और 'दुच्चिट्ठिअ' बुरी चेष्टा से 'मि' मुझे [जो] 'दुक्कडं' पाप [लगा वह] 'मिच्छा' मिथ्या हो।

भावार्थ—दिवस में मैंने बुरे विचार से, बुरे भाषण से और बुरे कामों से जो पाप बांधा वह निष्फल हो।

---

* भगवद्भ्यः, आचार्येभ्यः, उपाध्यायेभ्यः, सर्वसाधुभ्यः।

१—'भगवानहं' आदि चारों पदों में जो 'हं' शब्द है वह अपभ्रंश भाषा के नियमानुसार छठी विभक्ति का बहुवचन है और चौथी विभक्ति के अर्थ में आया है।

† सर्वस्याऽऽपि दैवसिकस्य दुश्चिन्तितस्य दुर्भाषितस्य दुश्चेष्टितस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्।

२७—इच्छामि ठाइउं सूत्र ।

‡ इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं ।

अन्वयार्थ—'काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग 'ठाइउं' करने को 'इच्छामि' चाहता हूँ ।

* जो मे देवसिओ अइयारो कओ, काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छिअव्वो असावग-पाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए; तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हमणुव्वयाणं तिण्हं गुणव्वयाणं चउण्हं सिक्खावयाणं—बारसविहस्स सावगधम्मस्स—जं खंडिअं जं विराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥

अन्वयार्थ—'नाणे' ज्ञान में 'दंसणे' दर्शन में 'चरित्ताचरित्ते' देश विरति में 'सुए' श्रुत-धर्म में [और] 'सामाइए' सामायिक में 'देवसिओ' दिवस-सम्बन्धी 'काइओ' कायिक 'वाइओ' वाचिक

---

‡ इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गम् ।

२—'ठामि' यह पाठान्तर प्रचलित है किन्तु आवश्यकसूत्र पृ० ७७८ पर 'ठाइउं' पाठ है जो अर्थ-दृष्टि से विशेष सङ्गत मालूम होता है ।

* यो मया दैवसिकोऽतिचारः कृतः, कायिको वाचिको मानसिक उत्सूत्र उन्मार्गोऽकल्प्योऽकरणीयो दुर्ध्यातो दुर्विचिन्तितोऽनाचारोऽनेष्टव्योऽश्रावक प्रयोग्यो ज्ञाने दर्शने चारित्राचारित्रे श्रुते सामायिके; तिसृणां गुप्तीनां चतुर्णां कषायाणां पञ्चानामणुव्रतानां त्रयाणां गुणव्रतानां चतुर्णां शिक्षाव्रतानां द्वादश-विधस्य श्रावकधर्मस्य यत् खण्डितं यद्विराधितं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

[और] 'माणसिओ' मानसिक 'उस्सुत्तो' शास्त्रविरुद्ध 'उम्मग्गो' मार्ग-विरुद्ध 'अकप्पो' आचार-विरुद्ध 'अकरणिज्जो' नहीं करने योग्य 'दुज्झाओ' दुर्ध्यान—आर्त-रौद्र ध्यान—रूप 'दुव्विचिंतिओ' दुश्चिन्तित—अशुभ 'अणायारो' नही आचरने योग्य 'अणिच्छिअ-व्वो' नहीं चाहने योग्य 'असावग-पाउग्गो' श्रावक को नहीं करने योग्य 'जो' जो 'अइयारो' अतिचार 'मे' मैंने 'कओ' किया [उस का पाप मेरे लिये मिथ्या हो; तथा] 'तिण्हं गुत्तीणं' तीन गुप्तिओं की [और] 'पंचण्हमणुव्वयाणं' पाँच अणुव्रत 'तिण्हं-गुणव्वयाणं' तीन गुणव्रत 'चउण्हं सिक्खावयाणं' चार शिक्षाव्रत [इस तरह] 'बारसविहस्स' बारह प्रकार के 'सावगधम्मस्स' श्रावक धर्म की 'चउण्हं कसायाणं' चार कषायों के द्वारा 'जं' जो 'खंडिअं' खण्डना की हो [या] 'जं' जो 'विराहिअं' विराधना की हो 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो ॥

भावार्थ—मैं काउस्सग्ग करना चाहता हूँ; परन्तु इसके पहिले मैं इस प्रकार दोष की आलोचना कर लेता हूँ । ज्ञान, दर्शन, देशविरति-चारित्र, श्रुतधर्म और सामायिक के विषय में मैंने दिन में जो कायिक वाचिक मानसिक अतिचार सेवन किया हो उस का पाप मेरे लिये निष्फल हो । मार्ग अर्थात् परंपरा विरुद्ध तथा कल्प अर्थात् आचार-विरुद्ध प्रवृत्ति करना कायिक अतिचार है दुर्ध्यान या अशुभ चिन्तन करना मानसिक अति-

चार है । सब प्रकार के अतिचार अकर्तव्य रूप होने के कारण आचरने व चाहने योग्य नही हैं, इसी कारण उन का सेवन श्रावक के लिये अनुचित है ।

तीन गुप्तिओं का तथा बारह प्रकार के श्रावक धर्म का मैंने कषायवश जो देशभङ्ग या सर्वभङ्ग किया हो उस का भी पाप मेरे लिये निष्फल हो ।

२८—आचार की गाथायें ।

[पाँच आचार के नाम]

*** नाणम्मि दंसणम्मि अ, चरणंमि तवम्मि तह य विरियम्मि ।**
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ॥१॥

अन्वयार्थ—'नाणम्मि' ज्ञान के निमित्त 'दंसणम्मि' दर्शन—

१—यद्यपि ये गाथायें 'अतिचार की गाथायें' कहलाती हैं, तथापि इन मे कोई अतिचार का वर्णन नहीं है; सिर्फ आचार का वर्णन है. इसलिये 'आचार की गाथायें' यह नाम रक्खा गया है ।

'अतिचार की गाथायें' ऐसा नाम प्रचलित हो जाने का सबब यह जान पडता है कि पाक्षिक अतिचार में ये गाथायें आती हैं और इन में वर्णन किये हुए आचारों को लेकर उनके अतिचार का मिच्छा मि दुक्कडं दिया जाता है ।

* ज्ञाने दर्शने च चरणे, तपसि तथा च वीर्ये ।
आचरणमाचार इत्येष पञ्चधा भणितः ॥१॥

२—यही पांच प्रकार का आचार दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १८१ में वर्णित है ।

दंसणनाणचरित्ते तवआयारियवीरियारे ।
एसो भावायारो पंचविहो होइ नायव्वो ॥

सम्यक्त्व के निमित्त 'अ' और 'चरणंमि' चारित्र के निमित्त 'तवम्मि' तप के निमित्त 'तह य' तथा 'विरियम्मि' वीर्य के निमित्त 'आयरणं आचरण करना 'आयारो' आचार है 'इअ' इस प्रकार से—विषयभेद से 'एसो' यह आचार 'पंचहा' पाँच प्रकार का 'भणिओ कहा है ॥१॥

भावार्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य के निमित्त अर्थात् इन की प्राप्ति के उद्देश्य से जो आचरण किया जाता है वही आचार है। पाने योग्य ज्ञान आदि गुण मुख्यतया पाँच हैं इस लिये आचार भी पाँच प्रकार का माना जाता है ॥१॥

[ज्ञानाचार के भेद]

*** काले विणए बहुमाणे उवहाणे तह अनिण्हवणे।**
वंजणअत्थतदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥२॥

अन्वयार्थ—'नाणं' ज्ञान का 'आयारो' आचार 'अट्ठविहो' आठ प्रकार का है जैसे 'काले' काल का 'विणए' विनय का 'बहुमाणे बहुमान का 'उवहाणे' उपधान का 'अनिण्हवणे' अनिह्नव—नहीं छिपाने का 'वंजण' व्यञ्जन—अक्षर—का 'अत्थ' अर्थ का 'तह' तथा 'तदुभए' व्यञ्जन अर्थ दोनों का ॥२॥

भावार्थ—ज्ञान की प्राप्ति के लिये या प्राप्त ज्ञान की

---

* काले विनये बहुमाने, उपधाने तथा अनिह्नवने।
व्यञ्जनार्थतदुभये अष्टविधो ज्ञान-आचारः ॥२॥

रक्षा के लिये जो आचरण जरूरी है वह ज्ञानाचार कहलाता है। उस के स्थूल दृष्टि से आठ भेद हैं:—

(१) जिस जिस समय जो जो आगम पढ़ने की शास्त्र में आज्ञा है उस उस समय उसे पढ़ना कालाचार है।

(२) ज्ञानिओं का तथा ज्ञान के साधन—पुस्तक आदि का विनय करना विनयाचार है।

(३) ज्ञानियों का व ज्ञान के उपकरणों का यथार्थ आदर करना बहुमान है।

(४) सूत्रों को पढ़ने के लिये शास्त्रानुसार जो तप किया जाता है वह उपधान है।

(५) पढ़ाने वाले को नहीं छिपाना—किसीसे पढ़कर मैं इस से नहीं पढ़ा इस प्रकार का मिथ्या भाषण नहीं करना—अनिह्नव है।

(६) सूत्र के अक्षरों का वास्तविक उच्चारण करना व्यञ्जनाचार है।

१—उत्तराध्ययन आदि कालिक श्रुत पढ़ने का समय दिन तथा रात्रि का पहला और चौथा प्रहर बतलाया गया है। आवश्यक आदि उत्कालिक सूत्र पढ़ने के लिये तीन संध्या रूप काल वेला छोड़ कर अन्य सब समय योग्य माना गया है।

(७) सूत्रका सत्य अर्थ करना अर्थाचार है ।

(८) सूत्र और अर्थ दोनों को शुद्ध पढ़ना, समझना तदुभयाचार है ।

[दर्शनाचार के भेद]

*** निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ।**
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥३॥

अन्वयार्थ—'निस्संकिय' निःशङ्कपन 'निक्कंखिय' काङ्क्षा राहितपन 'निव्वितिगिच्छा' निःसंदेहपन 'अमूढदिट्ठी' मोह-रहित दृष्टि 'उववूह' बढ़ावा—गुणों की प्रशंसा करके उत्साह बढ़ाना 'थिरीकरणे' स्थिर करना 'वच्छल्ल' वात्सल्य 'अ' और 'पभावणे' प्रभावना [ये] 'अट्ठ' आठ [दर्शनाचार हैं] ॥३॥

भावार्थ—दर्शनाचार के आठ भेद हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) श्रीवीतराग के वचन में शङ्काशील न बने रहना निःशङ्कपन है ।

(२) जो मार्ग वीतराग-कथित नहीं है उस की चाह न रखना काङ्क्षाराहितपन है ।

---

* निःशङ्कितं निष्काङ्क्षितं, निर्विचिकित्साऽमूढदृष्टिश्च ।
उपबृंहः स्थिरीकरणं, वात्सल्यं प्रभावनाऽष्ट ॥ ३ ॥

(३) त्यागी महात्माओं के वस्त्र-पात्र उन की त्याग-वृत्ति के कारण मलिन हों तो उन्हें देख कर घृणा न करना या धर्म के फल में संदेह न करना निर्विचिकित्सा–निःसंदेहपन है ।

(४) मिथ्यात्वी के बाहरी ठाठ को देख कर सत्य मार्ग में डावाँडोल न होना अमूढ़दृष्टिता है ।

(५) सम्यक्त्व वाले जीव के थोड़े से गुणों की भी हृदय से सराहना करना और इस के द्वारा उसको धर्म-मार्ग में प्रोत्साहित करना उपबृंहण है ।

(६) जिन्होंने धर्म प्राप्त नहीं किया है उन्हें धर्म प्राप्त कराना या धर्म-प्राप्त व्यक्तियों को धर्म से चलित देख कर उस पर स्थिर करना स्थिरीकरण है ।

(७) साधर्मिक भाइयों का अनेक तरह से हित विचारना वात्सल्य है ।

(८) ऐसे कामों को करना जिनसे धर्म-हीन मनुष्य भी वीतराग के कहे हुए धर्म का सच्चा महत्त्व समझने लगे प्रभावना है ।

इनको दर्शनाचार इस लिये कहा है कि इनके द्वारा दर्शन (सम्यक्त्व) प्राप्त होता है या प्राप्त सम्यक्त्व की रक्षा होती है ॥ ३ ॥

[चारित्राचार के भेद]

*** पणिहाण-जोग-जुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।**
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'पणिहाणजोगजुत्तो' प्रणिधानयोग से युक्त होना—योगों को एकाग्र करना 'चरित्तायारो' चारित्राचार 'होइ' है। 'एस' यह [आचार] 'पंचहिं' पाँच 'समिईहिं' समितिओं से [और] 'तीहिं' तीन 'गुत्तीहिं' गुप्तिओं से 'अट्ठविहो' आठ प्रकार का 'नायव्वो' जानना चाहिए ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रणिधानयोगपूर्वक—मनोयोग, वचनयोग, काययोग की एकाग्रतापूर्वक—संयम पालन करना चारित्राचार है। पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ ये चारित्राचार के आठ भेद हैं; क्योंकि यही चारित्र साधने के मुख्य अङ्ग हैं और इन के पालन करने में योग की स्थिरता आवश्यक है ॥४॥

[तपआचार के भेद]

† बारसविहम्मि वि तवे, सब्भिंतर-बाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाइ अणाजीवी, नायव्वो सो तवायारो ॥५॥

---

* प्रणिधानयोगयुक्तः, पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिर्गुप्तिभिः
एष चारित्राचारोऽष्टविधो भवति ज्ञातव्यः ॥४॥

† द्वादशविधेऽपि तपसि, साभ्यन्तरबाह्ये कुशलदिष्टे ।
अग्लान्यनाजीवी, ज्ञातव्यः स तप-आचारः ॥५॥

अन्वयार्थ—'कुसलदिट्ठे' तीर्थङ्कर या केवली के कहे हुए 'सब्भिंतर-बाहिरे' आभ्यन्तर तथा बाह्य मिला कर 'बारसविहम्मि' बारह प्रकार के 'तवे' तप के विषय में 'अगिलाइ' ग्लानि—खेद—न करना [तथा] 'अणाजीवी' आजीविका न चलाना 'सो' वह 'तवायारो' तपआचार 'नायव्वो' जानना चाहिये ॥५॥

भावार्थ—तीर्थङ्करों ने तप के छह आभ्यन्तर और छह बाह्य इस प्रकार कुल बारह भेद कहे हैं । इनमें से किसी प्रकार का तप करने में कायर न होना या तप से आजीविका न चलाना अर्थात् केवल मूर्छा-त्याग के लिये तप करना तपआचार है ॥५॥

*** अणसणमूणोअरिया, वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।**
काय-किलेसो संली-णया य बज्झो तवो होइ ॥६॥

अन्वयार्थ—'अणसणं' अनशन 'ऊणोअरिया' ऊनोदरता 'वित्तीसंखेवणं' वृत्तिसंक्षेप 'रसच्चाओ' रस-त्याग 'काय-किलेसो' कायक्लेश 'य' और 'संलीणया' संलीनता 'बज्झो' बाह्य 'तवो' तप 'होइ' है ॥६॥

भावार्थ—बाह्य तप के नाम और स्वरूप इस तरह हैं:—

१—जैसे जैन शास्त्र में 'कुशल' शब्द का सर्वज्ञ ऐसा अर्थ किया गया है। वैसे ही योगदर्शन में उसका अर्थ सर्वज्ञ या चरमशरीरी व क्षीणक्लेश किया हुआ मिलता है ।[योगदर्शन के पाद २ सूत्र ४ तथा २७ का भाष्य।]

* अनशनमूनोदरता, वृत्तिसंक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च बाह्यं तपो भवति ॥६॥

(१) थोड़े या बहुत समय के लिये सब प्रकार के भोजन का त्याग करना अनशन है।

(२) अपने नियत भोजन-परिमाण से दो चार कौर कम खाना ऊनोदरता [ऊणोदरी] है।

(३) खाने, पीने, भोगने की चीजों के परिमाण को घटा देना वृत्ति-संक्षेप है।

(४) घी, दूध, आदि रस को या उसकी आसक्ति को त्यागना रस-त्याग है।

(५) कष्ट सहने के लिये अर्थात् सहनशील बनने के लिये केशलुञ्चन आदि करना कायक्लेश है।

(६) विषयवासनाओं को न उभारना या अङ्ग-उपाङ्गों की कुचेष्टाओं को रोकना संलीनता है।

ये तप बाह्य इसलिये कहलाते हैं कि इन को करने वाला मनुष्य बाह्य दृष्टि में—सर्व साधारण की दृष्टि में तपस्वी समझा जाता है ॥६॥

* पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गो वि अ, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥७॥

अन्वयार्थ—'पायच्छित्तं' प्रायश्चित्त 'विणओ' विनय

---

* प्रायश्चित्तं विनयो, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यानमुत्सर्गोऽपि चाभ्यन्तरतस्तपो भवति ॥७॥

'वेयावच्चं' वैयावृत्य 'सज्झाओ' स्वाध्याय 'झाणं' ध्यान 'तहेव' तथा 'उस्सग्गो वि अ' उत्सर्ग भी 'अब्भिंतरओ' आभ्यन्तर 'तवो' तप 'होइ' है ॥७॥

भावार्थ—आभ्यन्तर तप के छह भेद नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) किये हुए दोष को गुरु के सामने प्रकट कर के उनसे पाप-निवारण के लिये आलोचना लेना और उसे करना प्रायश्चित्त है।

(२) पूज्यों के प्रति मन वचन और शरीर से नम्र भाव प्रकट करना विनय है।

(३) गुरु, वृद्ध, ग्लान आदि की उचित भक्ति करना अर्थात् अन्न-पान आदि द्वारा उन्हें सुख पहुँचाना वैयावृत्य है।

(४) वाचना, पृच्छा, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा द्वारा शास्त्राभ्यास करना स्वाध्याय है।

(५) आर्त-रौद्र ध्यान को छोड़ धर्म या शुक्ल ध्यान में रहना ध्यान है।

(६) कर्म-क्षय के लिये शरीर का उत्सर्ग करना अर्थात् उस पर से ममता दूर करना उत्सर्ग या कायोत्सर्ग है।

ये तप आभ्यन्तर इसलिये माने जाते हैं कि इनका आचरण करने वाला मनुष्य सर्व साधारण की दृष्टि में तपस्वी नहीं समझा जाता है परन्तु शास्त्रदृष्टि से वह तपस्वी अवश्य है ॥७॥

[वीर्याचार का स्वरूप]

† अणिगूहिअ-बलविरिओ, परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजइ अ जहाथामं, नायव्वो वीरिआयारो ॥८॥

अन्वयार्थ—'जो' जो 'अणिगूहिअ-बलविरिओ' कायबल तथा मनोबल को बिना छिपाये 'आउत्तो' सावधान होकर 'जहुत्तं' शास्त्रोक्तरीति से 'परक्कमइ' पराक्रम करता है 'अ' और 'जहाथामं' शक्ति के अनुसार 'जुंजइ' प्रवृत्ति करता है [उसके उस आचरण को] 'वीरिआयारो' वीर्याचार 'नायव्वो' जानना ॥८॥

२९-सुगुरु-वन्दन सूत्र ।

---

† अनिगूहितबलवीर्यः, पराक्रामति यो यथोक्तमायुक्तः ।
युङ्क्ते च यथास्थाम ज्ञातव्यो वीर्याचारः ॥८॥

१—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और रत्नाधिक—पर्यायज्येष्ठ—(आवश्यकनिर्युक्ति गा० ११९५) ये पाँच सुगुरु हैं। इनको वन्दन करने के समय यह सूत्र पढ़ा जाता है, इसलिये इसको 'सुगुरु-वन्दन' कहते हैं। इस के द्वारा जो वन्दन किया जाता है वह उत्कृष्ट द्वादशावर्त्त-वन्दन है। खमासमण सूत्र द्वारा जो वन्दन किया जाता है वह मध्यम थोभ-वन्दन कहा जाता है। थोभ-वन्दन का निर्देश आवश्यक निर्युक्ति गा० ११२७ में है। सिर्फ मस्तक नमा कर जो वन्दन किया जाता है वह जघन्य फिट्टा-वन्दन है। ये तीनों वन्दन गुरु-वन्दन-भाष्य में निर्दिष्ट हैं।

सुगुरु-वन्दन के समय २५ आवश्यक (विधान) रखने चाहिये, जिनके न रखने से वन्दन निष्फल हो जाता है; वे इस प्रकार हैं:—

*** इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए । अणुजाणह मे मिउग्गहं । निसीहि अहोकायं कायसंफासं । खमणिज्जो भे किलामो । अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ? जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ?**

'इच्छामि खमासमणो' से 'अणुजाणह' तक बोलने में दोनों बार आधा अङ्ग नमाना—यह दो अवनत, जनमते समय बालक की या दीक्षा लेने के समय शिष्य की जैसी मुद्रा होती है वैसी अर्थात् कपाल पर दो हाथ रख कर नम्र मुद्रा करना—यह यथाजात, 'अहोकायं', 'कायसंफासं', 'खमणिज्जो भे किलामो', 'अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो ? 'जत्ता भे ? जवणिज्जं च भे ? इस क्रम से छह छह आवर्त्त करने से दोनों वन्दन में बारह आवर्त्त (गुरु के पैर पर हाथ रख कर फिर सिर से लगाना यह आवर्त्त कहलाता है) अवग्रह में प्रविष्ट होने के बाद खामणा करने के समय शिष्य तथा आचार्य के मिलाकर दो शिरोनमन, इस प्रकार दूसरे वन्दन में दो शिरोनमन, कुल चार शिरोनमन, वन्दन करने के समय मन वचन और शरीर को अशुभ व्यापार से रोकने रूप तीन गुप्तियाँ 'अणुजाणह मे मिउग्गहं' कह कर गुरु से आज्ञा पाने के बाद अवग्रह मे दोनों बार प्रवेश करना यह दो प्रवेश, पहला वन्दन कर के 'आवस्सिआए' यह कह कर अवग्रह से बाहर निकल जाना यह निष्क्रमण। कुल २५। आवश्यक निर्युक्ति गा० १२०२-४।

* इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या। अनुजानीत मे मितावग्रहं। निषिध्य (नैषेधिक्या प्रविश्य) अधःकायं कायसंस्पर्श (करोमि)। क्षमणीयः भवद्भिः क्लमः। अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः ? यात्रा भवतां ? यापनीयं च भवतां ?

* खामेमि खमासमणो ! देवसिअं वइक्कमं । आवस्सिआए पडिक्कमामि । खमासमणाणं देवसिआए आसायणाए तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदु-क्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइ-क्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमा समणो ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

अन्वयार्थः—'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'निसीहि-आए' शरीर को पाप-क्रिया से हटा कर [मैं] 'जावणिज्जाए' शक्ति के अनुसार 'वंदिउं' वन्दन करना 'इच्छामि' चाहता हूँ। [इस लिए] 'मे' मुझ को 'मिउग्गहं' परिमित अवग्रह की 'अणुजाणह' आज्ञा दीजिये। 'निसीहि' पाप-क्रिया को रोक कर के 'अहोकायं' [आपके] चरण का 'कायसंफासं' अपनी काया से--उत्तमाङ्ग से स्पर्श [करता हूं] । [मेरे छूने से] 'भे' आपको 'किलामो' बाधा हुई [वह] 'खमणिज्जो' क्षमा

---

* क्षमयामि क्षमाश्रमण ! दैवसिकं व्यतिक्रमं । आवश्यक्याः प्रतिक्रामामि । क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयास्त्रिंशदन्यतरया यत्किंचिन्मिथ्या-भूतया मनोदुष्कृतया वचोदुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया (क्रोधयुक्तया) मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया आशा-तनया यो मया अतिचारः कृतः तस्य क्षमाश्रमण ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

के योग्य है । 'भे' आप ने 'अप्पकिलंताणं' अल्प ग्लान अवस्था में रह कर 'दिवसो' दिवस 'बहुसुभेण' बहुत आराम से 'वइक्कंतो' बिताया ? 'भे' आपकी 'जत्ता' संयम रूप यात्रा [निर्बाध है ?] 'च' और 'भे' आपका शरीर 'जवणिज्जं' मन तथा इन्द्रियों की पीडा से रहित है ?

'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'देवसिअं' दिवस-सम्बन्धी 'वइक्कमं' अपराध को 'खामेमि' खमाता हूँ [और] 'आवस्सिआए' आवश्यक क्रिया करने में जो विपरीत अनुष्ठान हुआ उससे 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ । 'खमासमणाणं' आप क्षमाश्रमण की 'देवासिआए' दिवस सम्बन्धिनी 'तित्तीसन्नयराए' तेतीस में से किसी भी 'आसायणाए' आशातना के द्वारा [और] 'जं किंचि मिच्छाए' जिस किसी मिथ्याभाव से की हुई 'मणदुक्कडाए' दुष्ट मन से की हुई 'वयदुक्कडाए' दुर्वचन से की हुई 'कायदुक्कडाए' शरीर की दुष्ट चेष्टा से की हुई 'कोहाए' क्रोध से की हुई 'माणाए' मान से की हुई 'मायाए' माया से की हुई 'लोभाए' लोभ से की हुई 'सव्वकालिआए' सर्वकाल-सम्बन्धिनी 'सव्वमिच्छोवयाराए' सब प्रकार के मिथ्या उपचारों से पूर्ण 'सव्वधम्माइक्कमणाए' सब प्रकार के धर्म का उल्लङ्घन करनेवाली 'आसायणाए' आशातना के द्वारा 'मे' मैंने 'जो' जो 'अइयारो' आतिचार 'कओ' किया 'खमासमणो' हे क्षमाश्रमण ! 'तस्स' उससे 'पडिक्कमामि' निवृत्त होता हूँ 'निंदामि' उसकी

निन्दा करता हूँ 'गरिहामि' विशेष निन्दा करता हूँ [और अब] 'अप्पाणं' आत्मा को 'वोसिरामि' पाप-व्यापारों से हटा लेता हूँ।

भावार्थ—हे क्षमाश्रमण गुरो! मै शरीर को पाप-प्रवृत्ति से अलग कर यथाशक्ति आपको वन्दन करना चाहता हूँ। (इस प्रकार शिष्य के पूछने पर यदि गुरु अस्वस्थ हों तो 'त्रिविधेन' ऐसा शब्द कहते हैं जिसका मतलब संक्षिप्त रूप से वन्दन करने की आज्ञा समझी जाती है। जब गुरु की ऐसी इच्छा मालूम दे तब तो शिष्य संक्षेप ही से वन्दन कर लेता है। परन्तु यदि गुरु स्वस्थ हों तो 'छंदसा' शब्द कहते है जिसका मतलब इच्छानुसार वन्दन करने की संमति देना माना जाता है। तब शिष्य प्रार्थना करता है कि) मुझ को अवग्रह में—आप के चारों ओर शरीर-प्रमाण क्षेत्र में—प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये। ('अणुजाणामि' कह कर गुरु आज्ञा देवें तब शिष्य 'निसीहि' कहता है अर्थात् वह कहता है कि) मैं 'अन्य' व्यापार को छोड़ अवग्रह में प्रवेश कर विधिपूर्वक बैठता हूँ। (फिर वह गुरु से कहता है कि आप मुझको आज्ञा दीजिये कि मै) अपने मस्तक से आपके चरण का स्पर्श करूँ। स्पर्श करने में मुझ से आपको कुछ बाधा हुई उसे क्षमा कीजिये। क्या आपने अल्पग्लान अवस्था में रह कर अपना दिन बहुत कुशलपूर्वक व्यतीत किया? (उक्त प्रश्न का उत्तर गुरु 'तथा' कह कर देते हैं; फिर शिष्य पूछता है कि) आप की तप-संयम

यात्रा निर्बाध है ? (उत्तर में गुरु 'तुब्भंपि वट्टइ' कह कर शिष्य से उस की संयम-यात्रा की निर्विघ्नता का प्रश्न करते हैं। शिष्य फिर गुरु से पूछता है कि) क्या आप का शरीर सब विकारों से रहित और शक्तिशाली है ? (उत्तर में गुरु 'एवं' कहते हैं)

(अब यहां से आगे शिष्य अपने किये हुए अपराध की क्षमा माँग कर अतिचार का प्रतिक्रमण करता हुआ कहता है कि) हे क्षमाश्रमण गुरो ! मुझ से दिन में या रात में आपका जो कुछ भी अपराध हुआ हो उस की मैं क्षमा चाहता हूँ। (इसके बाद गुरु भी शिष्य से अपने प्रमाद-जन्य अपराध की क्षमा माँगते हैं। फिर शिष्य प्रणाम कर अवग्रह से बाहर निकल आता है; बाहर निकलता हुआ यथास्थित भाव को क्रिया द्वारा प्रकाशित करता हुआ वह 'आवस्सिआए' इत्यादि पाठ कहता है।) आवश्यक क्रिया करने में मुझ से जो अयोग्य विधान हुआ हो उस का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। (सामान्यरूप से इतना कह कर फिर विशेष रूप से प्रतिक्रमण के लिये शिष्य कहता है कि) हे क्षमाश्रमण गुरो! आप की तेतीस में से किसी भी दैवसिक या रात्रिक आशातना के द्वारा मैंने जो अतिचार सेवन किया उसका प्रतिक्रमण करता हूँ; तथा किसी मिथ्याभाव से होने वाली, द्वेषजन्य, दुर्भाषणजन्य, लोभजन्य, सर्वकाल-सम्ब-

---

१—ये आशातनाएँ आवश्यक सूत्र पृ० ७२३ और समवायाङ्ग सूत्र पृ० ५८ में वर्णित हैं।

न्धिनी, सब प्रकार के मिथ्या व्यवहारों से होने वाली और सब प्रकार के धर्म के अतिक्रमण से होने वाली आशातना के द्वारा मैंने अतिचार सेवन किया उसका भी प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् फिर से ऐसा न करने का निश्चय करता हूँ, उस दूषण की निन्दा करता हूँ, आप गुरु के समीप उसकी गर्हा करता हूँ और ऐसे पाप-व्यापार से आत्मा को हटा लेता हूँ ॥२९॥

[दुबारा पढ़ते समय 'आवास्सिआए' पद नहीं कहना। रात्रिक प्रतिक्रमण में 'राइवइक्कंता', चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में 'चउमासी वइक्कंता', पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खो वइक्कंतो', सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'संवच्छरो वइक्कंतो', ऐसा पाठ पढ़ना ।]

३०--देवसिअं आलोउं सूत्र ।

* इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! देवसिअं आलोउं ! इच्छं । आलोएमि जो मे इत्यादि ।

भावार्थ—हे भगवन् ! दिवस-सम्बन्धी आलोचना करने के लिये आप मुझको इच्छा--पूर्वक आज्ञा दीजिए; (आज्ञा मिलने पर) 'इच्छं'—उसको मैं स्वीकार करता हूँ। बाद 'जो मे' इत्यादि पाठ का अर्थ पूर्ववत् जानना ।

---

* इच्छाकारेण संदिशथ भगवन् ! दैवसिकं आलोचयितुं । इच्छामि । आलोचयामि यो मया इत्यादि ।

३१--सातलाख ।

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेउकाय, सात लाख वाउकाय, दस लाख प्रत्येक-वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण-वनस्पतिकाय, दो लाख दो इन्द्रिय वाले, दो लाख तीन इन्द्रिय वाले, दो लाख चार इन्द्रिय वाले, चार लाख देवता, चार लाख नारक, चार लाख तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य । कुल चौरासी लाख जीवयोनियों[1] में से किसी जीव का मन हनन किया, कराया या करते हुए का अनुमोदन किया वह सब मन वचन काया करके मिच्छा मि दुक्कडं ।

३२--अठारह पापस्थान ।

पहला प्राणातिपात, दूसरा मृषावाद, तीसरा अदत्तादान, चौथा मैथुन, पांचवाँ परिग्रह, छठा क्रोध, सातवाँ मान, आठवाँ माया, नववाँ लोभ दशवाँ राग, ग्यरहवाँ द्वेष, बारहवाँ कलह, तेरहवाँ अभ्याख्यान, चौदहवाँ पैशुन्य, पन्द्रहवाँ रति-अरति, सोलहवाँ परपरिवाद, सत्रहवाँ मायामृषावाद, अठारहवाँ मिथ्यात्वशल्य; इन पापस्थानों में से किसी का मैंने सेवन किया कराया या करते हुए का अनुमोदन किया, वह सब मिच्छा मि दुक्कडं ।

---

१ योनि उत्पत्ति-स्थान को कहते है । वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की समानता होने से अनेक उत्पत्ति-स्थानों को भी एक योनि कहते हैं । (देखो योनिस्तव ।)

३३–सव्वस्सवि।

सव्वस्सवि देवसिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ, इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! इच्छं। तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

इस का अर्थ पूर्ववत् जानना।

३४–वंदित्तु–श्रावक का प्रतिक्रमण सूत्र।

*वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावगधम्माइआरस्स ॥१॥

---

* वन्दित्वा सर्वसिद्धान्, धर्माचार्यांश्च सर्वसाधूंश्च।
इच्छामि प्रतिक्रमितुं, श्रावकधर्मातिचारस्य ॥ १ ॥

१—गुण प्रकट होने पर उसमें आने वाली मलिनता को अतिचार कहते हैं। अतिचार और भङ्ग में क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रकट हुए गुण के लोप को—सर्वथा तिरोभाव को—भङ्ग कहते हैं और उस के अल्प तिरोभाव को अतिचार कहते हैं। शास्त्र में भङ्ग को 'सर्व-विराधना' और अतिचार को 'देश-विराधना' कहा है। अतिचार का कारण कषाय का उदय है। कषाय का उदय तीव्र-मन्दादि अनेक प्रकार का होता है। तीव्र उदय के समय गुण प्रकट ही नहीं होता, मन्द उदय के समय गुण प्रकट तो होता है किन्तु बीच २ में कभी २ उस में मालिन्य हो आता है। इसी से शास्त्र में काषायिक शक्ति को विचित्र कहा है। उदाहरणार्थ—अनन्तानुबान्धिकषाय का उदय सम्यक्त्व को प्रकट होने से रोकता है और कभी उसे न रोक कर उस में मालिन्य मात्र पैदा करता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्याना-

अन्वयार्थ—'सव्वसिद्धे' सब सिद्धों को 'धम्मायरिए' धर्माचार्यों को 'अ' और 'सव्वसाहू अ' सब साधुओं को 'वंदित्तु' वन्दन कर के 'सावगधम्माइआरस्स' श्रावक-धर्मसंबन्धी अतिचार से 'पडिक्कमिउं' निवृत्त होना 'इच्छामि' चाहता हूँ ॥१॥

भावार्थ—सब सिद्धों को, धर्माचार्यों को और साधुओं को वन्दन कर के श्रावक-धर्मसम्बन्धी अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ ॥१॥

[सामान्य व्रतातिचार की आलोचना]

*** जो मे वयाइआरो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ ।**
सुहुमो अ बायरो वा, तं निंदे तं च गरिहामि ॥२॥

अन्वयार्थ—'नाणे' ज्ञान के विषय में 'दंसणे' दर्शन के

वरणकषाय देश-विरति को प्रकट होने से रोकता भी है और कदाचित् उसे न रोक कर उसमें मालिन्य मात्र पैदा करता है। [पञ्चाशक टीका, पृ० ९] इस तरह विचारने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यक्त गुण की मलिनता या उसके कारणभूत कषायोदय को ही अतिचार कहना चाहिये। तथापि शङ्का, काङ्क्षा आदि या वध-बन्ध आदि बाह्य प्रवृत्तिओं को अतिचार कहा जाता है, सो परम्परा से; क्योंकि ऐसी प्रवृत्तिओं का कारण, कषाय का उदय ही है। तथाविध कषाय का उदय होने ही से शङ्का आदि में प्रवृत्ति या वध, बन्ध आदि कार्य में प्रवृत्ति होती देखी जाती है।

१—अरिहन्त तथा सिद्ध। २—आचार्य तथा उपाध्याय।

* यो मे व्रतातिचारो, ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे च ।
सूक्ष्मो वा बादरो वा, तं निन्दामि तं च गर्हे ॥२॥

विषय में 'चरित्ते' चारित्र के विषय में 'तह' तथा 'अ' च शब्द से तप, वीर्य आदि के विषय में 'सुहुमो' सूक्ष्म 'वा' अथवा 'बायरो' बादर—स्थूल 'जो' जो 'वयाइआरो' व्रतातिचार 'मे' मुझको [लगा] 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' और 'तं' उसकी 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—इस गाथा में, समुच्चयरूप से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप आदि के अतिचारों की, जिनका वर्णन आगे किया गया है, आलोचना की गई है ॥२॥

† दुविहे परिग्गहम्मि, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे ।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥३॥

अन्वयार्थ—'दुविहे' दो तरह के 'परिग्गहम्मि' परिग्रह के लिये 'सावज्जे' पाप वाले 'बहुविहे' अनेक प्रकार के 'आरंभे' आरम्भों को 'कारावणे' कराने में 'अ' और 'करणे' करने में [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब 'देसिअं' दिवस—सम्बन्धी [दूषण] से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥३॥

भावार्थ—सचित्त [सजीव वस्तु] का संग्रह और अचित्त [अजीव वस्तु] का संग्रह ऐसे जो दो प्रकार के परिग्रह हैं, उनके निमित्त सावद्य—आरम्भ वाली प्रवृत्ति की गई हो, इस गाथा में उसकी समुच्चयरूप से आलोचना है ॥३॥

---

† द्विविधे परिग्रहे, सावद्ये बहुविधे चाऽऽरम्भे ।
कारणे च करणे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥३॥

* जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥४॥

अन्वयार्थ—'अप्पसत्थेहिं' अप्रशस्त 'चउहिं' चार 'कसा-एहिं' कषायों से 'व' अर्थात् 'रागेण' राग से 'व' या 'दोसेण' द्वेष से 'इंदिएहिं' इन्द्रियों के द्वारा 'जं' जो [पाप] 'बद्धं' बाँधा 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ, 'च' और 'तं' उसकी 'गरि-हामि' गर्हा करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—क्रोध, मान, माया और लोभ स्वरूप जो चार अप्रशस्त (तीव्र) कषाय हैं, उन के अर्थात् राग और द्वेष के वश होकर अथवा इन्द्रियों के विकारों के वश होकर जो पाप का बन्ध किया जाता है, उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥४॥

† आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे [य] अणाभोगे।
आभिओगे अ निओगे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥५॥

अन्वयार्थ—'अणाभोगे' अनुपयोग से 'अभिओगे' दबाव से 'अ' और 'निओगे' नियोग से 'आगमणे' आने में 'निग्गमणे' जाने में 'ठाणे' ठहरने में 'चंकमणे' घूमने में जो 'देसिअं' दैनिक [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥५॥

---

* यद्बद्धमिन्द्रियैः, चतुर्भिः कषायैरप्रशस्तैः।
रागेण वा द्वेषेण वा, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥४॥

† आगमने निर्गमने, स्थाने चङ्क्रमणेऽनाभोगे।
अभियोगे च नियोगे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥५॥

भावार्थ—उपयोग न रहने के कारण, या राजा आदि किसी बड़े पुरुष के दबाव के कारण, या नौकरी आदि की पराधीनता के कारण मिथ्यात्व पोषक स्थान में आने जाने से अथवा उसमें ठहरने घूमने से सम्यग्दर्शन में जो कोई दूषण लगता है, उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥५॥

[सम्यक्त्व के अतिचारों की आलोचना]

‡ **संका कंख विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु ।**
सम्मत्तस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥६॥ *

अन्वयार्थ—'संका' शङ्का 'कंख' काङ्क्षा 'विगिच्छा' फल में सन्देह 'पसंस' प्रशंसा 'तह' तथा 'कुलिंगीसु' कुलिङ्गियों का 'संथवो' परिचय; [इन] 'सम्मत्तस्स' सम्यक्त्व-सम्बन्धी 'अइआरे' अतिचारों से 'देसिअं' दैवसिक [जो पाप लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ ६ ॥

---

‡ शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा, प्रशंसा तथा संस्तवः कुलिङ्गिषु।
सम्यक्त्वस्यातिचारान्,प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥६॥

* सम्यक्त्व तथा बारह व्रत आदि के जो अतिचार इस जगह गाथाओं में हैं वे ही आवश्यक, उपासकदशा और तत्त्वार्थ सूत्र मे भी सूत्र-बद्ध हैं। उन में से सिर्फ आवश्यक के ही पाठ, जानने के लिये, यहां यथास्थान लिख दिये गये हैंः—

सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा— संका कंखा वितिगिच्छा परपासंडपसंसा परपासंडसंथवे ।

[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८११/१]

भावार्थ—सम्यक्त्व में मलिनता करने वाले पाँच अति-चार हैं जो त्यागने योग्य हैं, उनकी इस गाथा में आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) [1]वीतराग के वचन पर निर्मूल शङ्का करना शङ्का-तिचार, (२) अहितकारी मत को चाहना काङ्क्षातिचार, (३) धर्म का फल मिलेगा या नहीं, ऐसा सन्देह करना या निःस्पृह त्यागी महात्माओं के मलिन वस्त्र-पात्र आदि को देख उन पर घृणा करना विचिकित्सातिचार, (४) मिथ्यात्वियों की प्रशंसा करना जिससे कि मिथ्याभाव की पुष्टि हो कुलिङ्गिप्रशंसातिचार, और (५) बनावटी भेस पहन कर धर्म के बहाने लोगों को धोखा देने वाले पाखण्डियों का परिचय करना कुलिङ्गिसंस्तवातिचार ॥६॥

[आरम्भजन्य दोषों की आलोचना]

*** छक्कायसमारंभे, पयणे अ पयावणे अ जे दोसा ।**
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ॥७॥

अन्वयार्थ—'अत्तट्ठा' अपने लिये 'परट्ठा' पर के लिये 'य' और 'उभयट्ठा' दोनों के लिये 'पयणे' पकाने में 'अ' तथा 'पयावणे' पकवाने में 'छक्कायसमारंभे' छह काय के आरम्भ से

१–शङ्का आदि से तत्त्वरुचि चलित हो जाती है, इसलिये वे सम्यक्त्व के अतिचार कहे जाते हैं ।

* षट्कायसमारम्भे, पचने च पाचने च ये दोषाः ।
आत्मार्थं च परार्थं, उभयार्थं चैव तन्निन्दामि ॥७॥

'जं' जो 'दोसा' दोष [लगे] 'तं' उनकी 'चेव' अवश्य 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥७॥

भावार्थ—अपने लिये या पर के लिये या दोनों के लिये कुछ पकाने, पकवाने में छह काय की विराधना होने से जो दोष लगते हैं उनकी इस गाथा में आलोचना है ॥७॥

[सामान्यरूप से बारह व्रत के आतिचारों की आलोचना]

† पंचण्हमणुव्वयाणं, गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे ।
सिक्खाणं च चउण्हं, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥८॥

अन्वयार्थ—'पंचण्हं' पाँच 'अणुव्वयाणं' अणुव्रतों के 'तिण्हं' तीन 'गुणव्वयाणं' गुणव्रतों के 'च' और 'चउण्हं' चार 'सिक्खाणं' शिक्षाव्रतों के 'अइआरे' अतिचारों से [जो कुछ] 'देसिअं' दैनिक [दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥८॥

भावार्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों के तथा तप-संलेखना आदि के अतिचारों को सेवन करने से जो दूषण लगता है उसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥८॥

---

† पञ्चानामणुव्रताना, गुणव्रताना च त्रयाणामतिचारान् ।
शिक्षाणां च चतुर्णां, प्रतिक्रामामि दैवासिकं सर्वम् ॥८॥

१ -श्रावक के पहले पांच व्रत महाव्रत की अपेक्षा छोटे होने के कारण 'अणुवृत' कहे जाते हैं; ये 'देश मूलगुणरूप' हैं । अणुवृतों के लिये गुणकारक अर्थात् पुष्टिकारक होने के कारण छठे आदि तीन व्रत 'गुणव्रत' कहलाते हैं । और शिक्षा की तरह बार बार सेवन करने योग्य होने के कारण नुववें आदि

[पहले अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** पढमे अणुव्वयम्मि, थूलगपाणाइवायविरईओ ।**
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥९॥
वह बंध छविच्छेए, अइभारे भत्तपाणवुच्छेए ।
पढमवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१०॥ †

चार व्रत 'शिक्षाव्रत' कहे जाते हैं। गुणव्रत और शिक्षाव्रत 'देश-उत्तरगुणरूप' हैं पहले आठ वृत यावत्कथित हैं-अर्थात् जितने काल के लिये ये व्रत लिये जाते हैं उतने काल तक इनका पालन निरन्तर किया जाता है । पिछले चार इत्वारिक हैं—अर्थात् जितने काल के लिये ये वृत लिये जॉय उतने काल तक उनका पालन निरन्तर नही किया जाता, सामायिक और देशावकाशिक ये दो प्रतिदिन लिये जाते हैं और पौषध तथा अतिथिसंविभाग ये दो व्रत अष्टमी चतुर्दशी पर्व आदि विशेष दिनों में लिये जाते हैं । [आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८३८]

* प्रथमेऽणुवृते, स्थूलकप्राणातिपातविरातितः ।
आचरितमप्रशस्तेऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥९॥
वधो बन्धश्छविच्छेदः, अतिभारो भक्तपानव्यवच्छेदः ।
प्रथमवृतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवासिकं सर्वम् ॥१०॥

१—पहले व्रत मे यद्यपि शब्दतः प्राणो के अतिपात—विनाशका ही प्रत्याख्यान किया जाता है, तथापि विनाश के कारणभूत वध आदि क्रियाओं का त्याग भी उस वृत में गर्भित है। वध, बन्ध आदि करने से प्राणी को केवल कष्ट पहुँचता है, प्राण-नाश नहीं होता । इस लिये बाह्य दृष्टि से देखने पर उस मे हिंसा नही है, पर कषायपूर्वक निर्दय व्यवहार किये जाने के कारण अन्तर्दृष्टि से देखने पर उस में हिसा का अंश है । इस प्रकार वध बन्ध आदि से प्रथम वृत का मात्र देशतः भङ्ग होता है । इस कारण वध, बन्ध आदि पहले वृत के अतिचार हैं । [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १०]

† थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणि-

अन्वयार्थ—'इत्थं' इस 'थूलग' स्थूल 'पाणाइवायविरईओ' प्राणातिपात विरतिरूप 'पढमे' पहले 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के प्रसङ्ग से 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया हो; [जैसे] 'वह' वध-ताड़ना, 'बंध' बन्धन, 'छविच्छेए' अङ्गच्छेद, 'अइभारे' बहुत बोझा लादना, 'भत्तपाणवुच्छेए' खाने पीने में रुकावट डालना; [इन] 'पढमवयस्स' पहले व्रत के 'अइआरे' अतिचारों के कारण जो कुछ 'देसिअं' दिन में [दूषण लगा हो उस] 'सव्वं' सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥९॥ १०॥

भावार्थ—जीव सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के हैं। उन सब की हिंसा से गृहस्थ श्रावक निवृत्त नही हो सकता। उसको अपने धन्धे में सूक्ष्म (स्थावर) जीवों को हिंसा लग ही जाती है, इसलिये वह स्थूल (त्रस) जीवों का पच्चक्खाण करता है। त्रस में भी जो अपराधी हों, जैसे चोर हत्यारे आदि उनकी हिंसा का पच्चक्खाण गृहस्थ नहीं कर सकता; इस कारण वह निरपराध त्रस जीवों की ही हिंसा का पच्चक्खाण करता है। निरपराध त्रस जीवों की हिंसा भी संकल्प और आरम्भ दो तरह से होती है। इसमें आरम्भजन्य हिंसा, जो खेती व्यापार आदि धन्धे में

यव्वा, तंजहा—बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए।

[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८१८]

हो जाती है उससे गृहस्थ बच नहीं सकता, इस कारण वह संकल्प हिंसा का ही अर्थात् हड्डी, दांत, चमड़े या मांस के लिये असुक प्राणी को मारना चाहिये, ऐसे इरादे से हिंसा करने का ही पच्चक्खाण करता है। संकल्प पूर्वक की जाने वाली हिंसा भी सापेक्ष निरपेक्षरूप से दो तरह की है। गृहस्थ को बैल, घोड़े आदि को चलाते समय या लड़के आदि को पढ़ाते समय कुछ हिंसा लग ही जाती है जो सापेक्ष है; इसलिये वह निरक्षेप अर्थात् जिसकी कोई भी जरूरत नही है ऐसी निरर्थक हिंसा का ही पच्चक्खाण करता है। यही स्थूल प्राणातिपात विरमणरूप प्रथम अणुव्रत है ।

इस व्रत में जो क्रियाएँ अतिचाररूप होने से त्यागने योग्य हैं उनकी इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों को चाबुक, लकड़ी आदि से पीटना, (२) उनको रस्सी आदि से बाँधना, (३) उन के नाक, कान आदि अङ्गों को छेदना, (४) उन पर परिमाण से अधिक बोझा लादना और (५) उनके खाने पीने में रुकावट पहुँचाना ॥९॥१०॥

[दूसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** बीए अणुव्वयम्मि, परिथूलगअलियवयणविरईओ ।**
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥११॥

---

* द्वितीयेऽणुव्रते, परिस्थूलकालीकविरतितः ।
आचरितमप्रशस्ते,ऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥ ११ ॥

* सहसा-रहस्सदारे, मोसुवएसे अ कूडलेहे अ ।
बीयवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१२॥ †

अन्वयार्थ—'परिथूलगअलियवयणविरईओ' स्थूल असत्य वचन की विरतिरूप 'इत्थ' इस 'बीए' दूसरे 'अणुव्वयंम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश होकर 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया हो [जैसे]:— 'सहसा' विना विचार किये किसी पर दोष लगाना 'रहस्स' एकान्त में बात चीत करने वाले पर दोष लगाना 'दारे' स्त्री की गुप्त बात को प्रकट करना 'मोसुवएसे' झूठा उपदेश करना 'अ' और 'कूडलेहे' वनावटी लेख लिखना' 'बीयवयस्स' दूसरे व्रत के 'अइआरे' अतिचारों से 'देसिअं' दिन में [जो दूषण लगा] 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥११॥१२॥

भावार्थ—सूक्ष्म और स्थूल दो तरह का मृषावाद है। हँसी दिल्लगी में झूठ बोलना सूक्ष्म मृषावाद है; इसका त्याग करना गृहस्थ के लिये कठिन है। अतः वह स्थूल मृषावाद का अर्थात् क्रोध या लालच वश सुशील कन्या को दुःशील और दुःशील कन्या को सुशील कहना, अच्छे पशु को बुरा और बुरे को अच्छा बतलाना, दूसरे की जायदाद को अपनी और अपनी

---

* सहसा-रहस्यदारे, मृषोपदेशे च कूटलेखे च ।
द्वितीयव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥१२॥

† थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—सहस्सब्भक्खाणे रहस्सब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसुवएसे कूडलेहकरणे ।
[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२०].

जायदाद को दूसरे की साबित करना, किसी की रक्खी हुई धरोहर को दबा लेना या झूँठी गवाही देना इत्यादि प्रकार के झूठ का त्याग करता है। यही दूसरा अणुव्रत है। इस व्रत में जो बातें अतिचार रूप हैं उन को दिखा कर इन दो गाथाओं में उन के दोषों की आलोचना की गई है। वे आतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) विना विचार किये ही किसी के सिर दोष मढ़ना, (२) एकान्त में बात चीत करने वाले पर दोषारोपण करना, (३) स्त्री की गुप्त व मार्मिक बातों को प्रकट करना, (४) असत्य उपदेश देना और (५) झूठे लेख (दस्तावेज) लिखना ॥११॥१२॥

[तीसरे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** तइए अणुव्वयम्मि, थूलगपरदव्वहरणविरईओ ।**
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥१३॥
तेनाहडप्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्धगमणे अ ।
कूडतुलकूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१४॥ ‡

* तृतीयेऽणुव्रते, स्थूलकपरद्रव्यहरणविरतितः ।
आचरितमप्रशस्ते, ऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥१३॥
स्तेनाहृतप्रयोगे, तत्प्रतिरूपे विरुद्धगमने च ।
कूटतुलाकूटमाने, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥१४॥

‡ थूलादत्तादानवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—तेनाहडे तक्करपओगे विरुद्धरज्जाइक्कमणे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे ।

[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२२/१]

अन्वयार्थ—'थूलगपरदव्वहरणविरईओ' स्थूल पर-द्रव्यहरण विरतिरूप 'इत्थ' इस 'तइए' तीसरे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश हो कर 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया; [जैसे] 'तेनाहडप्पओगे' चोर की लाई हुई वस्तु का प्रयोग करना—उसे खरीदना, 'तप्पडिरूवे' असली वस्तु दिखा कर नकली देना, 'विरुद्धगमणे' राज्य-विरुद्ध प्रवृत्ति करना, 'कूडतुल' झूठी तराजू रखना, 'अ' और 'कूडमाणे' छोटा बडा नाप रखना; इससे लगे हुए 'सव्वं' सब 'देसिअं' दिवस सम्बन्धी दोष से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥१३॥१४॥

भावार्थ—सूक्ष्म और स्थूलरूप से अदत्तादान दो प्रकार का है। मालिक की संमति के विना भी जिन चीजों को लेने पर लेने वाला चोर नही समझा जाता ऐसी ढेला-तृण आदि मामूली चीजों को, उनके स्वामी की अनुज्ञा के लिये विना, लेना सूक्ष्म अदत्तादान है। इसका त्याग गृहस्थ के लिये कठिन है, इसलिये वह स्थूल अदत्तादान का अर्थात् जिन्हें मालिक की आज्ञा के विना लेने वाला चोर कहलाता है ऐसे पदार्थों को उनके मालिक की आज्ञा के विना लेने का त्याग करता है; यह तीसरा अणुव्रत है। इस व्रत में जो अतिचार लगते हैं उनके दोषों की इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) चोरी का माल खरीद कर चोर को सहायता पहुँचाना, (२) बढ़िया नमूना दिखा कर उसके बदले घटिया चीज़ देना या

मिलावट कर के देना, (३) चुंगी आदि महसूल विना दिये किसी चीज को छिपा कर लाना ले जाना या मनाही किये जाने पर भी दूसरे देश में जाकर राज्यविरुद्ध हलचल करना, (४) तराजू, बाँट आदि सही सही न रख कर उन से कम देना ज्यादा लेना, (५) छोटे बड़े नाप रखकर न्यूनाधिक लेना देना ॥१३॥१४॥

[चौथे अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** चउत्थे अणुव्वयम्मि, निच्चं परदारगमणविरईओ।**
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥१५॥
अपरिग्गहिआ इत्तर,अणंगवीवाहतिव्वअणुरागे।
चउत्थवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं॥१६॥ ‡

अन्वयार्थ—'परदारगमणविरईओ' परस्त्रीगमन विरतिरूप 'इत्थ' इस 'चउत्थे' चौथे 'अणुव्वयम्मि' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमादवश होकर 'निच्चं' नित्य 'अप्पसत्थे' अप्रशस्त 'आयरिअं' आचरण किया। जैसेः—'अपरिग्गहिआ' नहीं व्याही हुई स्त्री के साथ सम्बन्ध, 'इत्तर' किसी की थोड़े वक्त तक रक्खी हुई स्त्री के साथ

---

* चतुर्थेऽणुव्रते, नित्यं परदारगमनविरतितः।
आचरितमप्रशस्ते,-ऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥१५॥
अपरिगृहीतेत्वरा,-नंगविवाहतीव्रानुरागे।
चतुर्थव्रतस्यातिचारान्, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥१६॥

‡ सदारसंतोसस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—अपरिग्गहिआगमणे इत्तरियपरिग्गहियागमणे अणंगकीडा परवीवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे।
[आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२३]

१—यह सूत्रार्थ पुरुष को लक्ष्य में रख कर है। स्त्रियों के लिये इससे उलटा समझना चाहिये। जैसे :—परपुरुषगमन विरतिरूप आदि।

सम्बन्ध, 'अणंग' काम क्रीडा 'वीवाह' विवाह सम्बन्ध, 'तिव्व-अणुरागे' काम भोग की प्रबल अभिलाषा, [इन] 'चउत्थवयस्स' चौथे वृत के 'अइआरे' अतिचारों से [लगे हुए] 'देसिअं' दिवस सम्बन्धी 'सव्वं' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ १५ ॥ १६ ॥

भावार्थ—मैथुन के सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दो भेद हैं। इन्द्रियों का जो अल्प विकार है वह सूक्ष्म मैथुन है और मन, वचन तथा शरीर से कामभोग का सेवन करना स्थूल मैथुन है। गृहस्थ के लिये स्थूल मैथुन के त्याग का अर्थात् सिर्फ अपनी स्त्री में संतोष रखने का या दूसरे की व्याही हुई अथवा रक्खी हुई ऐसी परस्त्रियों को त्यागने का विधान है। यही चौथा अणुव्रत है। इस वृत में लगने वाले अतिचारों की इन दो गाथाओं में आलोचना है। वे अतिचार ये हैं:—

१—चतुर्थ वृत के धारण करने वाले पुरुष तीन प्रकार के होते हैं-(१) सर्वथा ब्रह्मचारी, (२) स्वदारसंतोषी, (३) परदारत्यागी। पहले प्रकार के ब्रह्मचारी के लिये तो अपरिगृहीता-सेवन आदि उक्त पाँचों अतिचार हैं; परन्तु दूसरे तीसरे प्रकार के ब्रह्मचारी के विषय में मतभेद है। श्रीहरिभद्र सूरिजी ने आवश्यक सूत्र की टीका में चूर्णि के आधार पर यह लिखा है कि स्वदारसंतोपी को पाँचों अतिचार लगते हैं किन्तु परदारत्यागी को पिछले तीन ही, पहले दो नहीं [आवश्यक टीका, पृष्ठ ८२५]। दूसरा मत यह है कि स्वदारसंतोपो को पहला छोड़कर शेष चार अतिचार। तीसरा मत यह है कि परदारत्यागी को पाँच अतिचार लगते हैं, पर स्वदारसंतोषी को पिछले तीन अतिचार, पहले दो नहीं। [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १४-१५]। स्त्री के लिये पाँचों अतिचार विना मत-भेद के माने गये है। [पञ्चाशक टीका, पृष्ठ १५]

(१) क्वाँरी कन्या या वेश्या के साथ सम्बन्ध जोड़ना, (२) जिसको थोड़े वक्त के लिये किसी ने रक्खा हो; ऐसी वेश्या के साथ रमण करना, (३) सृष्टि के नियम विरुद्ध काम क्रीडा करना, (४) अपने पुत्र-पुत्री के सिवाय दूसरों का विवाह करना कराना और (५) कामभोग की प्रबल अभिलाषा करना ॥ १५ ॥ १६ ॥

[पाँचवें अणुव्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** इत्तो अणुव्वए पं,—चमम्मि आयरिअमप्पसत्थम्मि।**
परिमाणपरिच्छेए, इत्थ पमायप्पसंगेणं ॥१७॥
धण-धन्न-खित्त-वत्थू, रूप्प-सुवन्ने अ कुविअपरिमाणे।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥१८॥ ‡

अन्वयार्थ—'इत्तो' इसके बाद 'इत्थ' इस 'परिमाणपरिच्छेए' परिमाण करने रूप 'पंचमम्मि' पाँचवें 'अणुव्वए' अणुव्रत के विषय में 'पमायप्पसंगेणं' प्रमाद के वश होकर 'अप्पसत्थम्मि' अप्रशस्त "आयरिअं' आचरण हुआ; जैसेः—

---

* इतोऽणुव्रते पञ्चमे, आचारितमप्रशस्ते।
परिमाणपरिच्छेदे,ऽत्रप्रमादप्रसङ्गेन ॥ १७ ॥
धन-धान्य-क्षेत्र-वास्तु-रूप्य-सुवर्णे च कुप्यपरिमाणे।
द्विपदे चतुष्पदे च, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ १८ ॥

‡ इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच; धणधन्नपमाणाइक्कमे खित्तवत्थुपमाणाइक्कमे हिरन्नसुवन्नपमाणाइक्कमे दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे। [आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२५]

'धण' धन 'धन्न' धान्य—अनाज 'खित्त' खेत 'वत्थू' घर दूकान आदि 'रूप्प' चाँदी 'सुवन्ने' सोना 'कुविअ' कुप्य—ताँबा आदि धातुएँ 'दुपए' दो पैर वाले—दास, दासी, नौकर, चाकर आदि 'चउप्पयम्मि' गाय, भैंस आदि चौपाये [इन सबके] 'परिमाणे' परिमाण के विषय में 'देसिअं' दिवस सम्बन्धी लगे हुए 'सव्वं' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥१७॥१८॥

भावार्थ—परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अर्थात् किसी चीज पर थोड़ी भी मूर्च्छा न रखना, यह इच्छा का पूर्ण निरोध है, जो गृहस्थ के लिये असंभव है। इस लिये गृहस्थ संग्रह की इच्छा का परिमाण कर लेता है कि मैं अमुक चीज इतने परिमाण में ही रक्खूँगा, इससे अधिक नहीं; यह पाँचवाँ अणुव्रत है। इसके अतिचारों की इन दो गाथाओं में आलोचना की गई है। वे अतिचार ये हैं:—

(१) जितना धन-धान्य रखने का नियम किया हो उससे अधिक रखना, (२) जितने घर-खेत रखने की प्रतिज्ञा की हो उससे ज्यादा रखना, (३) जितने परिमाण में सोना चाँदी रखने का नियम किया हो उससे अधिक रख कर नियम का उल्लङ्घन करना, (४) ताँबा आदि धातुओं को तथा शयन आसन आदि को जितने परिमाण में रखने का प्रण किया हो उस से ज्यादा रखना और (५) द्विपद चतुष्पद को नियमित परिमाण से अधिक संग्रह कर के नियम का अतिक्रमण[1] करना ॥१७॥१८॥

१—नियत किये हुए परिमाण का साक्षात् अतिक्रमण करना अतिचार

नहीं, किन्तु भङ्ग है। अतिचार का मतलब इस प्रकार है:—

मंजूर करने से धन-धान्यपरिमाणातिचार लगता हैं। जैसे स्वीकृत परिमाण के उपरान्त धन-धान्य का लाभ देख कर किसी से यह कहना कि तुम इतना अपने पास रखो। मैं पीछे से—जब कि वृत की कालावधि पूर्ण हो जायगी—उसे ले लूंगा अथवा उस अधिक धन-धान्य को बाँध कर किसी के पास इस बुद्धि से रख देना कि पास की चीज कम होने पर ले लिया जायगा, अभी लेने में वृत का भङ्ग होगा; यह धन-धान्यपरिमाणातिचार है।

मिला देने से क्षेत्र-वास्तुपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत संख्या के उपरान्त खेत या घर की प्राप्ति होने पर व्रत-भङ्ग न हो इस बुद्धि से पहले के खेत की वाढ़ तोड़ कर उसमें नया खेत मिला देना और संख्या कायम रखना अथवा पहले के घर की भित्ती गिरा कर उसमें नया घर मिला कर घर की संख्या कायम रखना; यह क्षेत्र-वास्तुपरिमाणातिचार है।

सौंपने से सुवर्ण-रजतपरिमाणातिचार लगता है। जैसे कुछ कालावधि के लिये सोना-चाँदी के परिमाण का अभिग्रह लेने के बाद बीच में ही अधिक प्राप्ति होने पर किसी को यह कह कर अधिक भाग सौंप देना कि मैं इसे इतने समय के बाद ले लूंगा, अभी मुझे अभिग्रह है; यह सुवर्ण-रजतपरिमाणातिचार है।

नई घड़ाइ कराने से कुप्यपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत संख्या के उपरान्त ताँबा, पीतल आदि का बर्तन मिलने पर उसे लेने से वृत-भङ्ग होगा इस भय से दो बर्तनों को भँगा कर एक बनवा लेना और संख्या को कायम रखना; यह कुप्यपरिमाणातिचार है।

गर्भ के संबन्ध से द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिचार लगता है। जैसे स्वीकृत कालावधि के भीतर प्रसव होने से संख्या बढ़ जायगी और व्रत-भङ्ग होगा इस भय से द्विपद या चतुष्पदों को कुछ देर से गर्भ ग्रहण कराना जिससे कि व्रत की कालावधि में प्रसव होकर संख्या बढ़ने न पावे और कालावधि के बाद प्रसव होने से फायदा भी हाथ से न जाने पावे; यह द्विपद-चतुष्पदपरिमाणातिचार है। [धर्मसंग्रह, श्लोक ४८]

[छठे वृत के अतिचारों की आलोचना]

*** गमणस्स उ परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च।**
वुड्ढि सइअंतरद्धा, पढमम्मि गुणव्वए निंदे ॥१९॥ †

अन्वयार्थ—'उड्ढं' ऊर्ध्व 'अहे' अधो 'अ' और 'तिरिअं च' तिरछी [इन] 'दिसासु' दिशाओं में 'गमणस्स उ' गमन करने के 'परिमाणे' परिमाण की 'वुड्ढि' वृद्धि करना और 'सइअंतरद्धा' स्मृति का लोप होना (ये अतिचाररूप हैं) 'पढमम्मि' पहले 'गुणव्वए' गुण-वृत में (इन की मैं) 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥१९॥

भावार्थ—साधु संयम वाले होते हैं। वे जङ्घाचारण, विद्याचारण आदि की तरह कहीं भी जावें उनके लिये सब जगह समान है। पर गृहस्थ की बात दूसरी है, वह अपनी लोभ-वृत्ति को मर्यादित करने के लिये ऊर्ध्व-दिशा में अर्थात् पर्वत आदि पर, अधो-दिशा में अर्थात् खानि आदि में और तिरछी-दिशा में अर्थात् पूर्व, पश्चिम आदि चार दिशाओं तथा ईशान, अग्नि आदि चार विदिशाओं में जाने का परिमाण नियत कर लेता है कि मैं अमुक-दिशा में

---

* गमनस्य तु परिमाणे, दिक्षूर्ध्वमधश्च तिर्यक् च।
वृद्धिः स्मृत्यन्तर्धा, प्रथमे गुणव्रते निन्दामि ॥१९॥

† दिसिवयस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे तिरिअदिसिपमाणाइक्कमे खित्तवुड्ढी सइअंतरद्धा। [आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ८२७/१]

इतने योजन तक गमन करूँगा, इस से अधिक नंही । यह दिक् परिमाण रूप प्रथम गुण-व्रत अर्थात् छठां व्रत है। इस में लगने वाले अतिचारों की इस गाथा में आलोचना है । वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) ऊर्ध्व-दिशा में जितनी दूर तक जाने का नियम किया हो उससे आगे जाना, (२) अधो-दिशा में जितनी दूर जाने का नियम हो उससे आगे जाना, (३) तिरछी दिशा में जाने के लिये जितना क्षेत्र निश्चित किया हो उससे दूर जाना, (४) एक तरफ के नियमित क्षेत्र-प्रमाण को घटा कर दूसरी तरफ उतना बढ़ा लेना और वहाँ तक चले जाना, जैसे पूर्व और पश्चिम में सौ सौ कोस से दूर न जाने का नियम कर के आवश्यकता पड़ने पर पूर्व में नव्वे कोस की मर्यादा रख कर पश्चिम में एक सौ दस कोस तक चले जाना और (५) प्रत्येक दिशा में जाने के लिये जितना परिमाण निश्चित किया हो उसे भुला देना ॥१९॥

[सातवें वृत के अतिचारों की आलोचना]

*** मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अ फले अ गंधमल्ले अ ।**
उवभोगपरीभोगे, बीयम्मि गुणव्वए निंदे ॥२०॥

---

* मद्ये च मासे च, पुष्पे च फले च गन्धमाल्ये च ।
उपभोगपरिभोगयो,—द्वितीये गुण-व्रते निन्दामि ॥२०॥

*सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोलि दुप्पोलिअं च आहारे।
तुच्छोसहिभक्खणया, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२१॥†
इंगालीवणसाडी,-भाडीफोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव य दं,-तलक्खरसकेसविसविसयं ॥२२॥
एवं खु जंतपिल्लण,-कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं।
सरदहतलायसोसं, असईपोसं च वज्जिज्जा ॥२३॥÷

अन्वयार्थ—'बीयम्मि' दूसरे 'गुणव्वए' गुणव्रत में 'मज्ज-म्मि' मद्य-शराब 'मंसम्मि' मांस 'पुप्फे' फूल 'फले' फल 'अ' और 'गंधमल्ले' सुगन्धित द्रव्य तथा पुष्पमालाओं के 'उवभोग-परीभोगे' उपभोग तथा परिभोग की 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२०॥

---

* सचित्ते प्रतिबद्धे,ऽपक्वं दुष्पक्वं चाहारे।
तुच्छौषधिभक्षणता, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥२१॥
अङ्गारवनशकट,-भाटकस्फोटं सुवर्जयेत् कर्म।
वाणिज्यं चैव च दन्तलाक्षारसकेशविषाविषयम् ॥२२॥
एवं खलु यन्त्रपीलन,-कर्म निर्लाञ्छनं च दवदानम्।
सरोहृदतडागशोषं, असतीपोषं च वर्जयेत् ॥२३॥

† भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा-सच्चित्ताहारे सच्चित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्खणया दुप्पउलिओसहिभक्खणया।
[आव० सूत्र, पृ० ८३८]

÷ कम्मओणं समणोवासएणं इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं,तंजहा—इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे। दंतवाणिज्जे, लक्खवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे। जंतपीलणकम्मे, निल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईपोसणया।
[आव० सू०, पृ० ८३९]

'सच्चित्ते' सचित्त वस्तु के 'पडिबद्धे' सचित्त से मिली हुई वस्तु के 'अपोल' नहीं पकी हुई वस्तु के 'च' और 'दुप्पोलिअं' दुष्पक्व—आधी पकी हुई—वस्तु के 'आहोर' खाने से [तथा] 'तुच्छोसहिभक्खणया' तुच्छ वनस्पति के खाने से जो 'देसिअं' दिन में दूषण लगा 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥२१॥

'इंगाली' अङ्गार कर्म 'वण' वन कर्म 'साडी' शकट कर्म 'भाडी' भाटक कर्म 'फोडी' स्फोटक कर्म [इन पाँचों] 'कम्मं' कर्म को 'चेव' तथा 'दंत' दाँत 'लक्ख' लाख 'रस' रस 'केस' बाल 'य' और 'विसविसयं' ज़हर के 'वाणिज्जं' व्यापार को [श्रावक]'सुवज्जए' छोड़ देवे ॥२२॥

'एवं' इस प्रकार 'जंतपिल्लणकम्मं' यन्त्र से पीसने का काम 'निल्लंछणं' अङ्गों को छेदने का काम 'दवदाणं' आग लगाना, 'सरदहतलायसोसं' सरोवर, झील तथा तालाब को सुखाने का काम 'च' और 'असईपोसं' असती-पोषण [इन सब को सुश्रावक] 'खु' अवश्य 'वज्जिज्जा' त्याग देवे ॥२३॥

भावार्थ—सातवाँ वृत भोजन और कर्म दो तरह से होता है। भोजन में जो मद्य, मांस आदि बिलकुल त्यागने योग्य हैं उन का त्याग कर के बाकी में से अन्न, जल आदि एक ही बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का तथा वस्त्र, पात्र आदि बार बार उपयोग में आने वाली वस्तुओं का परिमाण कर लेना। इसी तरह कर्म में, अङ्गार कर्म आदि अतिदोष वाले कर्मों

का त्याग कर के बाकी के कामों का परिमाण कर लेना, यह उपभोग-परिभोग-परिमाणरूप दूसरा गुणवृत अर्थात् सातवाँ वृत है।

ऊपर की चार गाथाओं में से पहली गाथा में मद्य, मांस आदि वस्तुओं के सेवन मात्र की और पुष्प, फल, सुगन्धि द्रव्य आदि पदार्थों का परिमाण से ज्यादा उपभोग परिभोग करने की आलोचना की गई है। दूसरी गाथा में सावद्य आहार का त्याग करने वाले को जो अतिचार लगते हैं उनकी आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) सचित्त वस्तु का सर्वथा त्याग कर के उसका सेवन करना या जो परिमाण नियत किया हो उस से अधिक लेना, (२) सचित्त से लगी हुई अचित्त वस्तु का, जैसे:-वृक्ष से लगे हुए गोंद तथा बीज सहित पके हुए फल का या सचित्त बीज वाले खजूर, आम आदि का आहार करना, (३) अपक्क आहार लेना, (४) दुष्पक्व—अधपका आहार लेना और (५) जिनमें खाने का भाग कम और फेंकने का अधिक हो ऐसी तुच्छ वनस्पतियों का आहार करना।

तीसरी और चौथी गाथा में पन्द्रह कर्मादान जो बहुत सावद्य होने के कारण श्रावक के लिये त्यागने योग्य हैं उनका वर्णन है। वे कर्मादान ये हैं:—

(१) अङ्गार कर्म—कुम्हार, चूना पकाने वाले और भड़-भूँजे आदि के काम, जिनमें कोयला आदि इन्धन जलाने की खूब जरूरत पड़ती हो, (२) वन कर्म—बड़े बड़े जंगल खरीदने का तथा काटने आदि का काम, (३) शकट कर्म—इक्का बग्घी, बैल आदि भाँति भाँति के वाहनों को खरीदने तथा बेचने का धंधा करना, (४) भाटक कर्म—घोड़े, ऊँट, बैल आदि को किराये पर दे कर रोजगार चलाना, (५) स्फोटक कर्म—कुँआ, तालाब आदि को खोदने खुदवाने का व्यवसाय करना, (६) दन्त वाणिज्य—हाथी-दाँत, सीप, मोती आदि का व्यापार करना, (७) लाक्षा वाणिज्य—लाख, गोंद आदि का व्यापार करना, (८) रस वाणिज्य— घी, दूध आदिका व्यापार करना, (९) केश वाणिज्य—मोर, तोते आदि पक्षियों का, उनके पंखों का और चमरी गाय आदि के बालों का व्यापार चलाना, (१०) विष वाणिज्य—अफीम, संखिया आदि विषैले पदार्थों का व्यापार करना, (११) यन्त्रपीलन कर्म—चक्की, चरखा, कोल्हू आदि चलाने का धंधा करना, (१२) निर्लाञ्छन कर्म—ऊँट, बैल आदि की नाक को छेदना या भेड़, बकरी आदि के कान को चीरना, (१३) दवदान कर्म—जंगल, गाँव, गृह आदि में आग लगाना (१४) शोषण कर्म—झील, हौज, तालाब आदि को सुखाना और (१५) असतीपोषण कर्म—बिल्ली, न्यौला आदि हिंसक प्राणियों का पालन तथा दुराचारी मनुष्यों का पोषण करना ॥२०-२३॥

[आठवें वृत के अतिचारों की आलोचना]

*सत्थग्गिमुसलजंतग-तणकट्ठे मंतमूल भेसज्जे।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥ २४॥
न्हाणुव्वट्टणवन्नग,-विलेवणे सद्दरूवरसगंधे।
वत्थासण आभरणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ॥२५॥
कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरिअहिगरण भोगअइरित्ते।
दंडम्मि अणट्ठाए, तइयम्मि गुणव्वए निंदे ॥२६॥ †

अन्वयार्थ—'सत्थ' शस्त्र 'अग्गि' अग्नि 'मुसल' मूसल 'जंतग' यन्त्र—कल 'तण' घास 'कट्ठे' लकड़ी 'मंत' मन्त्र 'मूल' जड़ी [और] 'भेसज्जे' औषध 'दिन्ने' दिये जाने से 'वा' अथवा 'दवाविए' दिलाये जाने से 'देसिअं' दैनिक दूषण लगा हो 'सव्वं' उस सब से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥२४॥

'न्हाण' स्नान 'उव्वट्टण' उबटन 'वन्नग' गुलाल आदि रङ्गीन बुकनी 'विलेवणे' केसर, चन्दन आदि विलेपन 'सद्द' शब्द 'रूव' रूप 'रस' रस 'गंधे' गन्ध 'वत्थ' वस्त्र 'आसण' आसन

---

* शस्त्राग्निमुशलयन्त्रक,-तृणकाष्ठे मन्त्रमूलभैषज्ये।
दत्ते दापिते वा, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ २४ ॥
स्नानोद्वर्तनवर्णक,-विलेपने शब्दरूपरसगन्धे।
वस्त्रासनाभरणे, प्रतिक्रामामि दैवसिकं सर्वम् ॥ २५ ॥
कन्दर्पे कौकुच्ये, मौखर्येऽधिकरणभोगातिरिक्ते।
दण्डेऽनर्थे, तृतीये गुणव्रते निन्दामि ॥६॥

† अणत्थदंडवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच०, तंजहा—कंदप्पे कुक्कुइए मोहरिए संजुत्ताहिगरणे उवभोगपारिभोगाइरेगे। [आव० सूत्र, पृ० ८३०/१]

और 'आभरणे' गहने के [भोग से लगे हुए] 'देसिअं' दैनिक 'सव्वं' सब दूषण से 'पडिक्कमे' निवृत्त होता हूँ ॥ २५ ॥

'अणट्ठाए दंडम्मि' अनर्थदण्ड विरमण रूप 'तइयम्मि' तीसरे 'गुणव्वए' गुणवृत के विषय में [पाँच अतिचार हैं। जैसे:—]'कंदप्पे' कामविकार पैदा करने वाली बातें करना, 'कुक्कुइए' औरों को हँसाने के लिये भाँड़ की तरह हँसी, दिल्लगी करना या किसी की नकल करना, 'मोहरि' निरर्थक बोलना, 'अहिगरण' सजे हुए हथियार या औजार तैयार रखना, 'भोगअइरित्ते' भोगने की---वस्त्र पात्र आदि—चीजों को जरूरत से ज्यादा रखना; [इन की मैं] 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२६॥

भावार्थ—अपनी और अपने कुटुम्बियों की जरूरत के सिवा व्यर्थ किसी दोष-जनक प्रवृत्ति के करने को अनर्थदण्ड कहते है, इस से निवृत्त होना अनर्थदण्ड विरमण रूप तीसरा गुणवृत अर्थात् आठवाँ वृत है। अनर्थदण्ड चार प्रकार से होता है:—

(१) अपध्यानाचरण, यानी बुरे विचारों के करने से, (२) पापकर्मोपदेश, यानी पापजनक कर्मों के उपदेश से, (३) हिंसा-प्रदान, यानी जिनसे जीवों की हिंसा हो ऐसे साधनों के देने दिलाने से, (४) प्रमादाचरण, यानी आलस्य के कारण से। इन तीन गाथाओं में इसी अनर्थदण्ड की आलोचना की गई है।

जिन में से प्रथम गाथा में—छुरी, चाकू आदि शस्त्र का देना दिलाना; आग देना दिलाना; मूसल, चक्की आदि यन्त्र तथा घास लकड़ी आदि इन्धन देना दिलाना; मन्त्र, जड़ी, बूटी तथा

चूर्ण आदि औषध का प्रयोग करना कराना; इत्यादि प्रकार के हिंसा के साधनों की निन्दा की गई है।

दूसरी गाथा में—अयतना पूर्वक स्नान, उबटन का करना, अबीर, गुलाल आदि रङ्गीन चीजों का लगाना, चन्दन आदि का लेपन करना, बाजे आदि के विविध शब्दों का सुनना, तरह तरह के लुभावने रूप देखना, अनेक रसों का स्वाद लेना, भाँति भाँति के सुगान्धित पदार्थों का सूँघना, अनेक प्रकार के वस्त्र, आसन और आभूषणों में आसक्त होना, इत्यादि प्रकार के प्रमादाचरण की निन्दा की गई है।

तीसरी गाथा में—अनर्थदण्ड विरमण वृत के पाँच अतिचारों की आलोचना है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—(१) इन्द्रियों में विकार पैदा करने वाली कथायें कहना, (२) हँसी, दिल्लगी या नकल करना, (३) व्यर्थ बोलना, (४) शस्त्र आदि सजा कर तैयार करना और (५) आवश्यकता से अधिक चीजों का संग्रह करना ॥२४-२६॥

[नववें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सइविहूणे ।**
सामाइय वितह कए, पढमे सिक्खावए निंदे ॥२७॥

---

* त्रिविधे दुष्प्रणिधाने,-ऽनवस्थाने तथा स्मृतिविहीने ।
सामायिके वितथे कृते, प्रथमे शिक्षाव्रते निन्दामि ॥२७॥

† सामाइयस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—मणदुप्पणिहाणे वइदुप्पणिहाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्स सइअकरणया सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया [आव० सू०,पृ० ८३१]

अन्वयार्थ—'तिविहे' तीन प्रकार का 'दुप्पणिहाणे' दुष्प्रणिधान—मन वचन शरीर का अशुभ व्यापार—'अणवट्ठाणे' अस्थिरता 'तहा' तथा 'सइविहूणे' याद न रहना; [इन अतिचारों से] 'सामाइय' सामायिक रूप 'पढमे सिक्खावए' प्रथम शिक्षाव्रत 'वितहकए' वितथ—मिथ्या--किया जाता है, इस से इन की 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२७॥

भावार्थ—सावद्य प्रवृत्ति तथा दुर्ध्यान का त्याग कर के राग द्वेष वाले प्रसङ्गों में भी समभाव रखना, यह सामायिक रूप पहला शिक्षाव्रत अर्थात् नववाँ व्रत है। इस के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) मन को काबू में न रखना, (२) वचन का संयम न करना, (३) काया की चपलता को न रोकना, (४) अस्थिर बनना अर्थात् कालावधि के पूर्ण होने के पहले ही सामायिक पार लेना और (५) ग्रहण किये हुए सामायिक व्रत को प्रमाद वश भुला देना ॥२७॥

[दसवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

* आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गलक्खेवे ।
देसावगासिअम्मि, बीए सिक्खावए निंदे ॥२८॥ †

---

* आनयने प्रेषणे, शब्दे रूपे च पुद्गलक्षेपे ।
देशावकाशिके, द्वितीये शिक्षाव्रते निन्दामि ॥ २८ ॥

† देसावगासियस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा----आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए बहियापुग्गलपक्खेवे ।
[आव० सू०, पृ० ८३४]

अन्वयार्थ—'आणवणे' बाहर से कुछ मँगाने से, 'पेसवणे' बाहर कुछ भेजने से 'सद्दे' खखारने आदि के शब्द से 'रूवे' रूप से 'अ' और 'पुग्गलक्खेवे' ढेला आदि पुद्गल के फेंकने से 'देसावगासिअम्मि', देशावकाशिक नामक 'बीए' दूसरे 'सिक्खा-वए' शिक्षाव्रत में [दूषण लगा उसकी] 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२८॥

भावार्थ—छठे व्रत में जो दिशाओं का परिमाण और सातवें वृत में जो भोग उपभोग का परिमाण किया हो, उसका प्रतिदिन संक्षेप करना, यह देशावकाशिक रूप दूसरा शिक्षावृत अर्थात् दसवाँ वृत है। इस वृत के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं:—

(१) नियमित हद के बाहर से कुछ लाना हो तो वृत भङ्ग की धास्ती से स्वयं न जा कर किसी के द्वारा उसे मँगवा लेना, (२) नियमित हद के बाहर कोई चीज भेजनी हो तो वृत भङ्ग होने के भय से उस को स्वयं न पहुँचा कर दूसरे के मारफत भेजना, (३) नियमित क्षेत्र के बाहर से किसी को बुलाने की जरूरत हुई तो स्वयं न जा सकने के कारण खाँसी, खखार आदि कर के उस शख्स को बुला लेना, (४) नियमित क्षेत्र के बाहर से किसी को बुलाने की इच्छा हुई तो वृत भङ्ग के भय से स्वयं न जाकर हाथ, मुँह आदि अङ्ग दिखा कर उस व्यक्ति को आने

की सूचना दे देना, और (५) नियमित क्षेत्र के बाहर ढेला, पत्थर आदि फेंक कर वहाँ से अभिमत व्यक्ति को बुला लेना ॥२८॥

[ग्यारहवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** संथारुच्चारविही, पमाय तह चेव भोयणाभोए।**
पोसहविहिविवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ॥२९॥†

अन्वयार्थ—'संथार' संथारे की और 'उच्चार' लघुनीति-बड़ीनीति—पेशाब-दस्त की 'विही' विधि में 'पमाय' प्रमाद हो जाने से 'तह चेव' तथा 'भोयणाभोए' भोजन की चिन्ता करने से 'पोसहविहिविवरीए' पौषध की विधि विपरीत हुई उसकी 'तइए' तीसरे 'सिक्खावए' शिक्षाव्रत के विषय में 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥२९॥

भावार्थ—आठम चौदस आदि तिथियों में आहार तथा शरीर की शुश्रूषा का और सावद्य व्यापार का त्याग कर के ब्रह्मचर्य्य पूर्वक धर्मक्रिया करना, यह पौषधोपवास नामक तीसरा शिक्षाव्रत अर्थात् ग्यारहवाँ व्रत है। इस व्रत के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार ये हैं:—

---

* संस्तरोच्चारविधि,-प्रमादे तथा चैव भोजनाभोगे ।
पौषधविधिविपरीते, तृतीये शिक्षाव्रते निन्दामि ॥२९॥

† पोसहोववासस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारए, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथारए, अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमीओ, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमीओ, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपाल [ण] या [आव० सू०, पृ० ८३५]

(१) संथारे की विधि में प्रमाद करना अर्थात् उसका पडिलेहन प्रमार्जन न करना, (२) अच्छी तरह पडिलेहन प्रमार्जन न करना, (३) दस्त, पेशाब आदि करने की जगह का पडिलेहन प्रमार्जन न करना, (४) पडिलेहन प्रमार्जन अच्छी तरह न करना और (५) भोजन आदि की चिन्ता करना कि कब सबेरा हो और कब मैं अपने लिये अमुक चीज बनवाऊँ ॥२९॥

[बारहवें व्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएसमच्छरे चेव ।**
कालाइक्कमदाणे, चउत्थ सिक्खावए निंदे ॥३०॥†

अन्वयार्थ—'सच्चित्ते' सचित्त को 'निक्खिवणे' डालने से 'पिहिणे' सचित्त के द्वारा ढाँकने से 'ववएस' पराई वस्तु को अपनी और अपनी वस्तु को पराई कहने से 'मच्छरे' मत्सर—ईर्ष्या—करने से 'चेव' और 'कालाइक्कमदाणे' समय बीत जाने पर आमंत्रण करने से 'चउत्थ' चौथे 'सिक्खावए' शिक्षाव्रत में दूषण लगा उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥३०॥

भावार्थ—साधु, श्रावक आदि सुपात्र अतिथि को देश काल का विचार कर के भक्ति पूर्वक अन्न, जल आदि देना,

---

* सचित्ते निक्षेपणे, पिधाने व्यपदेशमत्सरे चैव ।
कालातिक्रमदाने, चतुर्थे शिक्षाव्रते निन्दामि ॥३०॥

† अतिहिसंविभागस्स समणो० इमे पंच०, तंजहा—सच्चित्तनिक्खेवणया, सच्चित्तपिहिणया, कालइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया य [आव० सू०,पृ०८३५

यह अतिथिसंविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत अर्थात् बारहवाँ व्रत है। इस के अतिचारों की इस गाथा में आलोचना की गई है। वे अतिचार इस प्रकार हैं :---

(१) साधु को देने योग्य अचित्त वस्तु में सचित्त वस्तु डाल देना, (२) अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढाँक देना, (३) दान करने के लिये पराई वस्तु को अपनी कहना और दान न करने के अभिप्राय से अपनी वस्तु को पराई कहना, (४) मत्सर आदि कषाय पूर्वक दान देना और (५) समय बीत जाने पर भिक्षा आदि के लिये आमन्त्रण करना ॥३०॥

* सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३१॥

अन्वयार्थ--'सुहिएसु' सुखियों पर 'दुहिएसु' दुःखियों पर 'अ' और 'अस्संजएसु' गुरु की निश्रा से विहार करने वाले सुसाधुओं पर तथा असंयतों पर 'रागेण' राग से 'व' अथवा 'दोसेण' द्वेष से 'मे' मैं ने 'जा' जो 'अणुकंपा' दया--भक्ति--की 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' तथा 'तं' उसकी 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥३२॥

---

* सुखितेषु च दुःखितेषु च, या मया अस्वयतेषु (असंयतेषु) अनुकम्पा।
रागेण वा द्वेषेण वा, तां निन्दामि ताञ्च गर्हे ॥३१॥

भावार्थ—जो साधु ज्ञानादि गुण में रत हैं या जो वस्त्र-पात्र आदि उपधि वाले हैं, वे सुखी कहलाते हैं। जो व्याधि से पीड़ित हैं, तपस्या से खिन्न हैं या वस्त्र-पात्र आदि उपधि से विहीन हैं, वे दुःखी कहे जाते हैं। जो गुरु की निश्रा से—उनकी आज्ञा के अनुसार—वर्तते हैं, वे साधु अस्वयत कहलाते है। जो संयम-हीन हैं, वे असंयत कहे जाते हैं। ऐसे सुखी, दुःखी, अस्वयत और असंयत साधुओं पर यह व्यक्ति मेरा सम्बन्धी है, यह कुलीन है या यह प्रतिष्ठित है इत्यादि प्रकार के ममत्व-भाव से अर्थात् राग-वश हो कर अनुकम्पा करना तथा यह कंगाल है, यह जाति-हीन है, यह घिनौना है, इस लिये इसे जो कुछ देना हो दे कर जल्दी निकाल दो, इत्यादि प्रकार के घृणाव्यञ्जक-भाव से अर्थात् द्वेष-वश हो कर अनुकम्पा करना। इसकी इस गाथा में आलोचना की गई है ॥ ३१ ॥

*** साहूसु संविभागो, न कओ तवचरणकरणजुत्तेसु ।**
संते फासुअदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥३२॥

अन्वयार्थ—'दाणे' देने योग्य अन्न आदि 'फासुअ' प्रासुक—अचित्त 'संते' होने पर भी 'तव' तप और 'चरणकरण' चरण-करण से 'जुत्तेसु' युक्त 'साहूसु' साधुओं का 'संविभागो' आतिथ्य 'न कओ' न किया 'तं' उसकी 'निंदे' निंदा करता हूँ 'च' और 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥ ३२ ॥

---

* साधुषु संविभागो, न कृतस्तपश्चरणकरणयुक्तेषु ।
सति प्रासुकदाने, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥३२॥

भावार्थ—देने योग्य अन्न-पान आदि अचित्त वस्तुओं के मौजूद होने पर तथा सुसाधु का योग भी प्राप्त होने पर प्रमाद-वश या अन्य किसी कारण से अन्न, वस्त्र, पात्रादिक से उनका सत्कार न किया जाय, इसकी इस गाथा में निन्दा की गई है ॥३२॥

[संलेखना व्रत के अतिचारों की आलोचना]

*** इहलोए परलोए, जीविअ मरणे अ आसंसपओगे।**
पंचविहो अइयारो, मा मज्झं हुज्ज मरणंते ॥३३॥†

अन्वयार्थ—'इहलोए' इस लोक की 'परलोए' परलोक की 'जीविअ' जीवित की 'मरणे' मरण की तथा 'अ' च-शब्द से कामभोग की 'आसंस' इच्छा 'पओगे' करने से 'पंचविहो' पाँच प्रकार का 'अइयारो' अतिचार 'मज्झं' मुझ को 'मरणंते' मरण के आन्तिम समय तक 'मा' मत 'हुज्ज' हो ॥३३॥

भावार्थ—(१) धर्म के प्रभाव से मनुष्य-लोक का सुख मिले ऐसी इच्छा करना (२) या स्वर्ग-लोक का सुख मिले ऐसी इच्छा करना, (३) संलेखना (अनशन) व्रत के बहुमान को देख कर जीने की इच्छा करना, (४) दुःख से घबड़ा कर मरण

---

* इहलोके परलोके, जीविते मरणे चाशंसाप्रयोगे ।
पञ्चविधोऽतिचारो, मा मम भवतु मरणान्ते ॥३३॥

† इमीए समणो० इमे पंच०, तंजहा—इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे ।

[आव० सू०, पृ० ८३९]

की इच्छा करना और (५) भोग की वाञ्छा करना; इस प्रकार संलेखना व्रत के पाँच अतिचार हैं। ये अतिचार मरण-पर्यन्त अपने व्रत में न लगें, ऐसी भावना इस गाथा में की गई है ॥३३॥

* काएण काइअस्स, पडिकमे वाइअस्स वायाए।
मणसा माणसिअस्स, सव्वस्स वयाइआरस्स ॥३४॥

अन्वयार्थ—'काइअस्स' शरीर द्वारा लगे हुए 'वाइअस्स' वचन द्वारा लगे हुए और 'माणसिअस्स' मन द्वारा लगे हुए 'सव्वस्स' सब 'वयाइआरस्स' व्रतातिचार का क्रमशः 'काएण' काय-योग से 'वायाए' वचन-योग से और 'मणसा' मनो-योग से 'पडिक्कमे' प्रतिक्रमण करता हूँ ॥३४॥

भावार्थ—अशुभ शरीर-योग से लगे हुए व्रतातिचारों का प्रतिक्रमण शुभ शरीर-योग[1] से, अशुभ वचन-योग से लगे हुए व्रतातिचारों[2] का प्रतिक्रमण शुभ वचन-योग[3] से और अशुभ मनो-योग से लगे हुए व्रतातिचारों[5] का प्रतिक्रमण शुभ मनो-योग[6] से करने की भावना इस गाथा में की गई है ॥३४॥

---

* कायेन कायिकस्य, प्रतिक्रामामि वाचिकस्य वाचा।
मनसा मानसिकस्य, सर्वस्य व्रतातिचारस्य ॥३४॥

१—बध, बन्ध आदि। २—कायोत्सर्ग आदि रूप। ३—सहसा-अभ्याख्यान आदि। ४—मिथ्या दुष्कृतदान आदि। ५—शङ्का, काङ्क्षा आदि। ६—अनित्यता आदि भावना रूप।

* वंदणवयसिक्खागा,-रवेसु सन्नाकसायदंडेसु ।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे ॥३५॥

अन्वयार्थ—'वंदणवयसिक्खा' वन्दन, व्रत और शिक्षा के 'गारवेसु' अभिमान से 'सन्ना' संज्ञा से 'कसाय' कषाय से या 'दंडेसु' दण्ड से 'गुत्तीसु' गुप्तियों में 'अ' और 'सामिईसु' समितियों में 'जो' जो 'अइयारो' अतिचार लगा 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ ॥३५॥

भावार्थ—वन्दन यानी गुरुवन्दन और चैत्यवन्दन, वूत यानी अणुवूतादि, शिक्षा यानी ग्रहण[2] और आसेवन[3] इस प्रकार की दो शिक्षाएँ, समिति-ईर्या, भाषा, एषणा इत्यादि पाँच समितियाँ, गुप्ति-

---

* वन्दनव्रतशिक्षागौरवेषु संज्ञाकषायदण्डेषु ।
गुप्तिषु च समितिषु च, योऽतिचारश्च तं निन्दामि ॥३५॥

१—वन्दन, व्रत और शिक्षा का अभिमान 'ऋद्धिगौरव' है ।

२—जघन्य अष्ट प्रवचन माता (पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ) और उत्कृष्ट दशवैकालिक सूत्र के षड्जीवानिकाय नामक चौथे अध्ययन तक अर्थ सहित सीखना 'ग्रहण शिक्षा' है । [आव० टी०, पृ० ८३३/१]

३—प्रातःकालीन नमुक्कार मन्त्र के जप से ले कर श्राद्धदिनकृत्य आदि ग्रन्थ में वर्णित श्रावक के सब नियमों का सेवन करना 'आसेवन शिक्षा' है ।
[श्राद्धप्रतिक्रमण वृत्ति, पृ० १९३/१]

४—विवेक युक्त प्रवृत्ति करना 'समिति' है। इस के पाँच भेद हैं:—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणसमिति, और पारिष्ठापनिका समिति । [आव० सू०, पृ० ६१५]

गुप्ति और समिति का आपस में अन्तर—गुप्ति प्रवृत्ति रूप भी है और निवृत्ति

मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियाँ, गौरव—ऋद्धिगौरव आदि तीन प्रकार के गौरव, संज्ञा—आहार, भय आदि चार प्रकार की संज्ञाएँ, कषाय-

---

रूप भी; समिति केवल प्रवृत्ति रूप है। इस लिये जो समितिमान् है वह गुप्तिमान् अवश्य है। क्यों कि समिति भी सत्प्रवृत्तिरूप आंशिक गुप्ति है, परन्तु जो गुप्तिमान् है वह विकल्प से समितिमान् है। क्यों कि सत्प्रवृत्ति रूप गुप्ति के समय समिति पाई जाती है, पर केवल निवृत्ति रूप गुप्ति के समय समिति नहीं पाई जाती। यही बात श्रीहरिभद्रसूरि ने 'प्रविचार अप्रविचार' ऐसे गूढ़ शब्दों से कही है। [आव० टी०, पृ० ४८३/१]

१—मन आदि को असत्प्रवृत्ति से रोकना और सत्प्रवृत्ति मे लगाना 'गुप्ति' है। इस के तीन भेद है, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। [समवायाङ्ग टीका, पृष्ठ ६/१]

२—अभिमान और लालसा को 'गौरव' कहते हैं। इस के तीन भेद हैं:-(१) धन, पदवी आदि प्राप्त होने पर उस का अभिमान करना और प्राप्त न होने पर उस की लालसा रखना 'ऋद्धिगौरव', (२) घी, दूध, दही आदि रसों की प्राप्ति होने पर उन का अभिमान करना और प्राप्त न होने पर लालसा करना 'रसगौरव' और (३) सुख व आरोग्य मिलने पर उस का अभिमान और न मिलने पर उस की तृष्णा करना 'सातागौरव' है। [समवायाङ्ग सूत्र ३ टी०, पृ० ८/१]

३—'संज्ञा' अभिलाषा को कहते हैं। इस के संक्षेप मे चार प्रकार हैं:—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। [समवायाङ्ग सूत्र ४]

४—संसार में भ्रमण कराने वाले चित्त के विकारों को कषाय कहते हैं। इन के संक्षेप में राग, द्वेष ये दो भेद या क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार भेद हैं। [समवायाङ्ग सूत्र ४]

क्रोध, मान इत्यादि चार कषाय और दण्ड[1]--मनोदण्ड आदि तीन दण्ड; इस प्रकार वन्दनादि जो विधेय (कर्तव्य) हैं उनके न करने से और गौरवादि जो हेय (छोड़ने लायक) हैं उनके करने से जो कोई अतिचार लगा हो, उसकी इस गाथा में निन्दा की गई है ॥३५॥

*** सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि ।**
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ ॥३६॥

अन्वयार्थ—'जइ वि' यद्यपि 'सम्मद्दिट्ठी' सम्यग्दृष्टि 'जीवो' जीव 'किंचि' कुछ 'पावं' पाप-व्यापार 'हु' अवश्य 'समायरइ' करता है [तो भी] 'सि' उसको 'बंधो' कर्म-बन्ध 'अप्पो' अल्प 'होइ' होता है; 'जेण' क्यों कि वह 'निद्धंधसं' निर्दय-परिणाम-पूर्वक [कुछ भी] 'नि' नही 'कुणइ' करता है ॥३६॥

भावार्थ—सम्यक्त्वी गृहस्थ श्रावक को अपने अधिकार के अनुसार कुछ पापारम्भ अवश्य करना पड़ता है, पर वह जो कुछ करता है उस में उसके परिणाम कठोर (दया-हीन) नहीं होते; इस लिये उसको कर्म का स्थिति-बन्ध तथा रस-बन्ध औरों की अपेक्षा अल्प ही होता है ॥३६॥

१—जिस अशुभ योग से आत्मा दण्डित—धर्मभ्रष्ट—होता है, उसे दण्ड कहते हैं। इस के मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड ये तीन भेद हैं। [समवा० सूत्र ३]

* सम्यग्दृष्टिर्जीवो, यद्यपि खलु पापं समाचरति किञ्चित् ।
अल्पस्तस्य भवति बन्धो, येन न निर्दयं कुरुते ॥३६॥

‡ तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च ।
खिप्पं उवसामेई, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो ॥३७॥

अन्वयार्थ—[श्रावक] 'सपडिक्कमणं' प्रतिक्रमण द्वारा 'सप्परिआवं' पश्चात्ताप द्वारा 'च' और 'सउत्तरगुणं' प्रायश्चित्त-रूप उत्तरगुण द्वारा 'तं पि' उसको अर्थात् अल्प पाप-बन्ध को भी 'खिप्पं' जल्दी 'हु' अवश्य 'उवसामेई' उपशान्त करता है 'व्व' जैसे 'सुसिक्खिओ' कुशल 'विज्जो' वैद्य 'वाहिं' व्याधि को ॥३७॥

भावार्थ—जिस प्रकार कुशल वैद्य व्याधि को विविध उपायों से नष्ट कर देता है; इसी प्रकार सुश्रावक सांसारिक कामों से बँधे हुए कर्म को प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त द्वारा क्षय कर देता है ॥३७॥

† जहा विसं कुट्ठगयं, मंतमूलविसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं ॥३८॥
एवं अट्ठविहं कम्मं, रागदोससमज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ ॥३९॥

---

‡ तदपि खलु सप्रतिक्रमणं, सपरितापं सोत्तरगुणं च ।
क्षिप्रमुपशमयति, व्याधिमिव सुशिक्षितो वैद्यः ॥३७॥

† यथा विषं कोष्ठगतं, मन्त्रमूलविशारदाः ।
वैद्या घ्नन्ति मन्त्रै,-स्ततस्तद्भवति निर्विषम् ॥३८॥
एवमष्टविधं कर्म, रागद्वेषसमर्जितम् ।
आलोचयंश्च निन्दन्, क्षिप्रं हन्ति सुश्रावकः ॥३९॥

अन्वयार्थ—'जहा' जैसे 'मंतमूलविसारया' मन्त्र और जड़ी-बूटी के जानकार 'विज्जा' वैद्य 'कुट्ठगयं' पेट में पहुँचे हुए 'विसं' ज़हर को 'मंतेहिं' मन्त्रों से 'हणंति' उतार देते हैं 'तो' जिस से कि 'तं' वह पेट 'निव्विसं' निर्विष 'हवइ' हो जाता है ॥३८॥

'एवं' वैसे ही 'आलोअंतो' आलोचना करता हुआ 'अ' तथा 'निंदंतो' निन्दा करता हुआ 'सुसावओ' सुश्रावक 'रागदोस-समज्जिअं' राग और द्वेष से बँधे हुए 'अट्ठविहं' आठ प्रकार के 'कम्मं' कर्म को 'खिप्पं' शीघ्र 'हणइ' नष्ट कर डालता है ॥३९॥

भावार्थ—जिस प्रकार कुशल वैद्य उदर में पहुँचे हुए विष को भी मन्त्र या जड़ी-बूटी के जरिये से उतार देते हैं; इसी प्रकार सुश्रावक राग-द्वेष-जन्य सब कर्म को आलोचना तथा निन्दा द्वारा शीघ्र क्षय कर डालते हैं ॥३८॥३९॥

*** कयपावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ य गुरुसगासे ।**
होइ अइरेगलहुओ, ओहरिअभरु व्व भारवहो ॥४०॥

अन्वयार्थ—'कयपावो वि' पाप किया हुआ भी 'मणुस्सो' मनुष्य 'गुरुसगासे' गुरु के पास 'आलोइअ' आलोचना कर के तथा 'निंदिअ' निन्दा करके 'अइरेगलहुओ' पाप के बोझ से हलका 'होइ' हो जाता है 'व्व' जिस प्रकार कि 'ओहरिअभरु' भार के उतर जाने पर 'भारवहो' भारवाहक—कुली ॥४०॥

---

* कृतपापोऽपि मनुष्यः, आलोच्य निन्दित्वा च गुरुसकाशे ।
भवत्यतिरेकलघुको,ऽपहृतभर इव भारवाहकः ॥४०॥

भावार्थ—जिस प्रकार भार उतर जाने पर भारवाहक के सिर पर का बोझा कम हो जाता है, उसी प्रकार गुरु के सामने पाप की आलोचना तथा निन्दा करने पर शिष्य के पाप का बोझा भी घट जाता है ॥४०॥

† आवस्सएण एए,–ण सावओ जइ वि बहुरओ होइ ।
दुक्खाणमंतकिरिअं, काही अचिरेण कालेण ॥४१॥

अन्वयार्थ—'जइ वि' यद्यपि 'सावओ' श्रावक 'बहुरओ' बहु पाप वाला 'होइ' हो [तथापि वह] 'एएण' इस 'आवस्सएण' आवश्यक क्रिया के द्वारा 'दुक्खाणं' दुःखों का 'अंतकिरिअं' नाश 'अचिरेण' थोड़े ही 'कालेण' काल में 'काही' करेगा ॥४१॥

भावार्थ—यद्यपि अनेक आरम्भों के कारण श्रावक को कर्म का बन्ध बराबर होता रहता है तथापि प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रिया द्वारा श्रावक थोड़े ही समय में दुःखों का अन्त कर सकता है ॥४१॥

[याद नही आये हुए अतिचारों की आलोचना]

‡ आलोअणा बहुविहा, न य संभरिआ पडिक्कमणकाले ।
मूलगुणउत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि ॥४२॥

अन्वयार्थ—'आलोअणा' आलोचना 'बहुविहा' बहुत

---

† आवश्यकेनैतेन श्रावको यद्यपि बहुरजा भवन्ति ।
दुःखानामन्तक्रिया, करिष्यत्यचिरेण कालेन ॥४१॥

‡ आलोचना बहुविधा, न च स्मृता प्रतिक्रमणकाले ।
मूलगुणोत्तरगुणे, तन्निन्दामि तच्च गर्हे ॥४२॥

प्रकार की है, परन्तु 'पडिक्कमणकाले' प्रतिक्रमण के समय 'न संभरिआ' याद न आई 'य' इस से 'मूलगुण' मूलगुण में और 'उत्तरगुणे' उत्तरगुण में दूषण रह गया 'तं' उसकी 'निंदे' निन्दा करता हूँ 'च' तथा 'गरिहामि' गर्हा करता हूँ ॥४२॥

भावार्थ---मूलगुण और उत्तरगुण के विषय में लगे हुए अतिचारों की आलोचना शास्त्र में अनेक प्रकार की वर्णित है। उसमें से प्रतिक्रमण करते समय जो कोई याद न आई हो, उस की इस गाथा में निन्दा की गई है ॥४२॥

*** तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स--**

अब्भुट्ठिओमि आरा,-हणाए विरओमि विराहणाए।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥४३॥

अन्वयार्थ---'केवलि' केवलि के 'पन्नत्तस्स' कहे हुए 'तस्स' उस 'धम्मस्स' धर्म की--श्रावक-धर्म की--'आराहणाए' आराधना करने के लिए 'अब्भुट्ठिओमि' सावधान हुआ हूँ [और उसकी] 'विराहणाए' विराधना से 'विरओमि' हटा हूँ। 'तिविहेण' तीन प्रकार से--मन, वचन, काय से--'पडिक्कंतो' निवृत्त होकर 'चउव्वीसं' चौबीस 'जिणे' जिनेश्वरों को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥४३॥

भावार्थ--- मैं केवलि-कथित श्रावक-धर्म की आराधना के लिये तैयार हुआ हूँ और उसकी विराधना से विरत हुआ हूँ। मैं

---

* तस्य धर्मस्य केवलि-प्रज्ञप्तस्य--

अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायै विरतोऽस्मि विराधनायाः।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो, वन्दे जिनांश्चतुर्विंशतिम् ॥४३॥

सब पापों का त्रिविध प्रतिक्रमण कर के चौबीस तीर्थङ्करों को वन्दन करता हूँ ॥४३॥

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ।
सव्वाइँ ताइँ वंदे, इह संतो तत्थ संताइँ ॥४४॥

अर्थ—पूर्ववत् ।

जावंत के वि साहू, भरहेरवयमहाविदेहे अ ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंडविरयाणं॥४५॥

अर्थ—पूर्ववत् ।

* चिरसंचियपावपणा,-सणीइ भवसयसहस्समहणीए ।
चउवीसजिणविणिग्गय,-कहाइ वोलंतु मे दिअहा ।४६।

अन्वयार्थ—'चिरसंचियपावपणासणीइ' बहुत काल से इकट्ठे किये हुए पापों का नाश करने वाली 'भवसयसहस्समहणीए' लाखों भवों को मिटाने वाली 'चउवीसजिणविणिग्गय' चौबीस जिनेश्वरों के मुख से निकली हुई 'कहाइ' कथा के द्वारा 'मे' मेरे 'दिअहा' दिन 'वोलंतु' बीतें ॥४६॥

भावार्थ—जो चिरकाल-सञ्चित पापों का नाश करने वाली है, जो लाखों जन्म जन्मान्तरों का अन्त करने वाली है और जो सभी तीर्थङ्करों के पवित्र मुख-कमल से निकली हुई है, ऐसी सर्व-हितकारक धर्म-कथा में ही मेरे दिन व्यतीत हों ॥४६॥

---

* चिरसञ्चितपापप्रणाशन्या भवशतसहस्रमथन्या ।
चतुर्विंशतिजिनविनिर्गत,-कथया गच्छन्तु मम दिवसाः ॥४६॥

* मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ॥४७॥

अन्वयार्थ—'अरिहन्ता' अरिहन्त 'सिद्धा' सिद्ध भगवान् 'साहू' साधु 'सुअं' श्रुत–शास्त्र 'च' और 'धम्मो' धर्म 'मम' मेरे लिये 'मंगलं' मङ्गलभूत हैं, 'सम्मद्दिट्ठी' सम्यग्दृष्टि वाले 'देवा' देव [मुझको] 'समाहिं' समाधि 'च' और 'बोहिं' सम्यक्त्व 'दिंतु' देवें ॥४७॥

भावार्थ—श्रीअरिहन्त, सिद्ध, साधु, श्रुत और चारित्र-धर्म, ये सब मेरे लिये मङ्गल रूप हैं । मैं सम्यक्त्वी देवों से प्रार्थना करता हूँ कि वे समाधि तथा सम्यक्त्व प्राप्त करने में मेरे सहायक हों ॥४७॥

† पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं ।
असद्दहणे अ तहा, विवरीयपरूवणाए अ ॥४८॥

अन्वयार्थ—'पडिसिद्धाणं' निषेध किये हुए कार्य को 'करणे' करने पर 'किच्चाणं' करने योग्य कार्य को 'अकरणे' नहीं करने पर 'असद्दहणे' अश्रद्धा होने पर 'तहा' तथा 'विवरीय' विपरीत 'परूवणाए' प्ररूपणा होने पर 'पडिक्कमणं' प्रतिक्रमण किया जाता है ॥४८॥

---

* मम मङ्गलमर्हन्तः, सिद्धाः साधवः श्रुतं च धर्मश्च ।
सम्यग्दृष्टयो देवा, ददतु समाधिं च बोधिं च ॥४७॥

† प्रतिषिद्धानां करणे, कृत्यानामकरणे प्रतिक्रमणम् ।
अश्रद्धाने च तथा, विपरीतप्ररूपणायां च ॥४८॥

भावार्थ—इस गाथा में प्रतिक्रमण करने के चार कारणों का वर्णन किया गया है:—

(१) स्थूल प्राणातिपातादि जिन पाप कर्मों के करने का श्रावक के लिये प्रतिषेध किया गया है उन कर्मों के किये जाने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (२) दर्शन, पूजन, सामायिक आदि जिन कर्तव्यों के करने का श्रावक के लिये विधान किया गया है उन के न किये जाने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (३) जैन-धर्म-प्रतिपादित तत्त्वों की सत्यता के विषय में संदेह लाने पर अर्थात् अश्रद्धा उत्पन्न होने पर प्रतिक्रमण किया जाता है। (४) जैनशास्त्रों के विरुद्ध, विचार प्रतिपादन करने पर प्रतिक्रमण किया जाता है ॥४८॥

*** खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।**
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई ॥४९॥

अन्वयार्थ—[मैं] 'सव्वजीवे' सब जीवों को 'खामेमि' क्षमा करता हूँ। 'सव्वे' सब 'जीवा' जीव 'मे' मुझे 'खमंतु' क्षमा करें। 'सव्वभूएसु' सब जीवों के साथ 'मे' मेरी 'मित्ती' मित्रता है। 'केणई' किसी के साथ 'मज्झ' मेरा 'वेरं' वैरभाव 'न' नहीं है ॥४९॥

भावार्थ—किसी ने मेरा कोई अपराध किया हो तो मैं

---

* क्षमयामि सर्वजीवान्, सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनचित् ॥४९॥

उसको खमाता हूँ अर्थात् क्षमा करता हूँ। वैसे ही मैं ने भी किसी का कुछ अपराध किया हो तो वह मुझे क्षमा करे। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है, किसी के साथ शत्रुता नही है ॥४९॥

‡ एवमहं आलोइअ, निंदिय गरहिअ दुगंछिउं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ॥५०॥

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'अहं' मैं 'सम्मं' अच्छी तरह 'आलोइअ' आलोचना कर के 'निंदिय' निन्दा कर के 'गरहिअ' गर्हा करके और 'दुगंछिउं' जुगुप्सा कर के 'तिविहेण' तीन प्रकार—मन, वचन और शरीर—से 'पडिक्कंतो' निवृत्त हो कर 'चउव्वीसं' चौबीस 'जिणे' जिनेश्वरों को 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥५०॥

भावार्थ—मैं ने पापों की अच्छी तरह आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा की; इस तरह त्रिविध प्रतिक्रमण करके अब मैं अन्त में फिर से चौबीस जिनेश्वरों को वन्दन करता हूँ ॥५०॥

३५—अब्भुट्ठियो [गुरुक्षामणा] सूत्र ।

† इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! अब्भुट्ठिओऽहं,
अब्भिंतरदेवसिअं खामेउं ।

---

‡ एवमहमालोच्य, निन्दित्वा गर्हित्वा जुगुप्सित्वा सम्यक् ।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्तो, वन्दे जिनांश्चतुर्विंशतिम् ॥५०॥

† इच्छाकारेण संदिशथ भगवन् ! अभ्युत्थितोऽहमाभ्यन्तरदैवसिकं क्षमयितुम् ।

अन्वयार्थ---'अहं' मैं 'अब्भिंतरदेवासिअं' दिन के अन्दर किये हुए अपराध को 'खामेउं' खमाने के लिये 'अब्भुट्ठिओ' तत्पर हुआ हूँ, इस लिये 'भगवन्' हे गुरो ! [आप] 'इच्छाकारेण' इच्छा-पूर्वक 'संदिसह' आज्ञा दीजिए ।

*** इच्छं, खामेमि देवसिअं ।**

अन्वयार्थ--'इच्छं' आप की आज्ञा प्रमाण है । 'खामेमि देवसिअं' अब मै दैनिक अपराध को खमाता हूँ ।

‡ जं किंचि अपत्तिअं, परपत्तिअं, भत्ते, पाणे, विणये, वेआवच्चे, आलावे, संलावे, उच्चासणे, समासणे, अंतरभासाए, उवरिभासाए, जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह, अहं न जाणामि, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

अन्वयार्थ---हे गुरो ! 'जं किंचि' जो कुछ 'अपत्तिअं' अप्रीति या 'परपत्तिअं' विशेष अप्रीति [हुई उसका पाप निष्फल हो] तथा 'भत्ते' आहार में 'पाणे' पानी में 'विणये' विनय में 'वेआवच्चे' सेवा-शुश्रूषा में 'आलावे' एक बार बोलने में 'संलावे' बार बार बोलने में 'उच्चासणे' ऊँचे आसन पर बैठने में 'समासणे' बराबर के आसन पर बैठने में 'अंतरभासाए' भाषण के बीच बोलने में या 'उवरिभासाए' भाषण के बाद बोलने में 'मज्झ'

---

* इच्छामि । क्षमयामि दैवसिकम् ।

‡ यत्किञ्चिदप्रीतिकं, पराप्रीतिकं, भक्ते, पाने, विनये, वैयावृत्ये, आलापे, संलापे, उच्चासने, समासने, अन्तर्भाषायां, उपरिभाषायां, यत्किञ्चिन्मम विनयपरिहीनं सूक्ष्मं वा बादरं वा यूयं जानीथ, अहं न जाने, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

मुझ से 'सुहुमं' सूक्ष्म 'वा' अथवा 'बायरं' स्थूल 'जं किंचि' जो कुछ 'विनयपरिहीणं' अविनय हुई जिसको 'तुब्भे' तुम 'जाणह' जानते हो 'अहं' मैं 'न' नहीं 'जाणामि' जानता 'तस्स' उसका 'दुक्कडं' पाप 'मि' मेरे लिये 'मिच्छा' मिथ्या हो ।

भावार्थ---हे गुरो ! मुझ से जो कुछ सामान्य या विशेष रूप से अप्रीति हुई उसके लिये मिच्छा मि दुक्कडं । इसी तरह आपके आहार पानी के विषय में या विनय वैयावृत्य के विषय में; आपके साथ एक बार बात-चीत करने में या अनेक बार बात-चीत करने में, आपसे ऊँचे आसन पर बैठने में या बरावर के आसन पर बैठने में, आपके संभाषण के बीच या बाद बोलने में, मुझ से थोड़ी बहुत जो कुछ अविनय हुई, उसकी मैं माफी चाहता हूँ ।

---:o:---

३६--आयरिअउवज्झाए सूत्र ।

* आयरिअउवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे अ ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥१॥

अन्वयार्थ---'आयरिअ' आचार्य पर 'उवज्झाए' उपाध्याय पर 'सीसे' शिष्य पर 'साहम्मिए' साधर्मिक पर 'कुल' कुल पर 'अ' और 'गणे' गण पर 'मे' मैं ने 'जे केइ' जो कोई

---

* आचार्योपाध्याये, शिष्ये साधर्मिके कुलगणे च ।
ये मे केचित्कषायाः, सर्वांस्त्रिविधेन क्षमयामि ॥१॥

'कसाया' कषाय किये 'सव्वे' उन सब की 'तिविहेण' त्रिविध अर्थात् मन, वचन और काय से 'खामेमि' क्षमा चाहता हूँ ॥१॥

भावार्थ—आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक (समान धर्म वाला), कुल और गण; इन के ऊपर मै ने जो कुछ कषाय किये हों उन सब की उन लोगों से मै मन, वचन और काय से माफी चाहता हूँ ॥१॥

† सव्वस्स समणसंघ,-स्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥२॥

अन्वयार्थ—'सीसे' सिर पर 'अंजलि करिअ' अञ्जलि कर के 'भगवओ' पूज्य 'सव्वस्स' सब 'समणसंघस्स' मुनि-समुदाय से [अपने] 'सव्वं' सब [अपराध] को 'खमावइत्ता' क्षमा करा कर 'अहयं पि' मैं भी 'सव्वस्स' [उन के] सब अपराध को 'खमामि' क्षमा करता हूँ ॥२॥

भावार्थ—हाथ जोड़ कर सब पूज्य मुनिगण से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ, और मै भी उन के प्रति क्षमा करता हूँ ॥२॥

१—एक आचार्य की आज्ञा में रहने वाला शिष्य-समुदाय 'गच्छ' कहलाता है। ऐसे अनेक गच्छों का समुदाय 'कुल' और अनेक कुलों का समुदाय 'गण' कहलाता है। [धर्मसंग्रह उत्तर विभाग, पृष्ठ १२९]

† सर्वस्य श्रमणसङ्घस्य भगवतोऽञ्जलिं कृत्वा शीर्षे।
सर्वं क्षमयित्वा, क्षाम्यामि सर्वस्याहमपि ॥२॥

‡ सव्वस्स जीवरासि,-स्स भावओ धम्मनिहिआनियचित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥३॥

अन्वयार्थ—'सव्वस्स' सम्पूर्ण 'जीवरासिस्स' जीव राशि से 'सव्वं' [अपने] सब अपराध को 'खमावइत्ता' क्षमा करा कर 'धम्मनिहिआनियाचित्तो' धर्म में निज चित्त को स्थापन किये हुए 'अहयं पि' मैं भी 'सव्वस्स' [उन के] सब अपराध को 'भावओ' भाव-पूर्वक 'खमामि' क्षमा करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—धर्म में चित्त को स्थित कर के सम्पूर्ण जीवों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ, और स्वयं भी उन के अपराध को हृदय से क्षमा करता हूँ ॥३॥

३७--नमोऽस्तु वर्धमानाय ।

* इच्छामो अणुसट्ठिं, नमो खमासमणाणं ।

अर्थ—हम 'अणुसट्ठिं' गुरु-आज्ञा 'इच्छामो' चाहते हैं । 'खमासमणाणं' क्षमाश्रमणों को 'नमो' नमस्कार हो ।

नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः ।

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओं को नमस्कार हो ।

नमोऽस्तु वर्धमानाय, स्पर्धमानाय कर्मणा ।
तज्जयाऽवाप्तमोक्षाय, परोक्षाय कुतीर्थिनाम् ॥१॥

---

‡ सर्वस्य जीवराशेर्भावतो धर्मनिहितानिजचित्तः ।
सर्व क्षमयित्वा, क्षाम्यामि सर्वस्याहमपि ॥३॥

* इच्छामः अनुशास्ति, नमः क्षमाश्रमणेभ्यः ।

अन्वयार्थ—'कर्मणा' कर्म से 'स्पर्धमानाय' मुकाबिला करने वाले, और अन्त में 'तज्जयावाप्तमोक्षाय' उस पर विजय पा कर मोक्ष पाने वाले, तथा 'कुतीर्थिनाम्' मिथ्यात्वियों के लिये 'परोक्षाय' अगम्य, ऐसे 'वर्धमानाय' श्रीमहावीर को 'नमोऽस्तु' नमस्कार हो ॥१॥

भावार्थ—जो कर्म-वैरियों के साथ लड़ते लड़ते अन्त में उन को जीत कर मोक्ष को प्राप्त हुये हैं, तथा जिन का स्वरूप मिथ्यामतियों के लिये अगम्य है, ऐसे प्रभु श्रीमहावीर को मेरा नमस्कार हो ॥१॥

येषां विकचारविन्दराज्या, ज्यायःक्रमकमलावलिं दधत्या।
सदृशैरतिसङ्गतं प्रशस्यं, कथितं सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः॥२॥

अन्वयार्थ—'येषां' जिन के 'ज्यायःक्रमकमलावलिं' अति-प्रशंसा-योग्य चरण-कमलों की पङ्क्ति को 'दधत्या' धारण करने वाली, ऐसी 'विकचारविन्दराज्या' विकस्वर कमलों की पङ्क्ति के निमित्त से अर्थात् उसे देख कर [विद्वानों ने] 'कथितं' कहा है कि 'सदृशैः' सदृशों के साथ 'अतिसङ्गतं' अत्यन्त समागम होना 'प्रशस्यं' प्रशंसा के योग्य है, 'ते' वे 'जिनेन्द्राः' जिनेन्द्र 'शिवाय' मोक्ष के लिये 'सन्तु' हों ॥२॥

भावार्थ—बराबरी वालों के साथ अत्यन्त मेल का होना प्रशंसा करने योग्य है, यह कहावत जो सुनी जाती है, उसे जिनेश्वरों के सुन्दर चरणों को धारण करने वाली ऐसी देव-

सूचित खिले हुए कमलों की पङ्क्ति को देख कर ही विद्वानों ने प्रचलित किया है; ऐसे जिनेश्वर सब के लिये कल्याणकारी हों ॥२॥

कषायतापार्दितजन्तुनिर्वृतिं, करोति यो जैनमुखाम्बुदोद्गतः ।
स शुक्रमासोद्भववृष्टिसन्निभो, दधातु तुष्टिं मयि विस्तरो गिराम् ३

अन्वयार्थ—'यः' जो 'गिराम्' वाणी का 'विस्तरः' विस्तार 'जैनमुखाम्बुदोद्गतः' जिनेश्वर के मुखरूप मेघ से प्रगट हो कर 'कषायतापार्दितजन्तु' कषाय के ताप से पीडित जन्तुओं को 'निर्वृतिं' शान्ति 'करोति' करता है [और इसी से जो] 'शुक्रमासोद्भववृष्टिसन्निभः' ज्येष्ठ मास में होने वाली वृष्टि के समान है 'सः' वह 'मयि' मुझ पर 'तुष्टिं' तुष्टि 'दधातु' धारण करे ॥३॥

भावार्थ—भगवान् की वाणी ज्येष्ठ मास की मेघ-वर्षा के समान अतिशीतल है, अर्थात् जैसे ज्येष्ठ मास की वृष्टि ताप-पीडित लोगों को शीतलता पहुँचाती है, वैसे ही भगवान् की वाणी कषाय-पीडित प्राणियों को शान्ति-लाभ कराती है; ऐसी शान्त वाणी का मुझ पर अनुग्रह हो ॥३॥

३८—विशाललोचन ।

विशाललोचनदलं, प्रोद्यद्दन्तांशुकेसरम् ।
प्रातर्वीरजिनेन्द्रस्य, मुखपद्मं पुनातु वः ॥१॥

अन्वयार्थ—'विशाललोचनदलं' विशाल नेत्र ही जिस के पत्ते हैं, 'प्रोद्यद्दन्तांशुकेसरम्' अत्यन्त प्रकाशमान दाँत की किरणें ही

जिस के केसर है, ऐसा 'वीरजिनेन्द्रस्य' श्रीमहावीर जिनेश्वर का 'मुखपद्मं' मुखरूपी कमल 'प्रातः' प्रातःकाल में 'वः' तुम को 'पुनातु' पवित्र करे ॥१॥

भावार्थ—जिस में बड़ी बड़ी आँखें पत्तों की सी हैं, और चमकीली दाँतों की किरणें केसर की सी है, ऐसा वीर प्रभु का कमल-सदृश मुख प्रातःकाल में तुम सब को अपने दर्शन से पवित्र करे ॥१॥

येषामभिषेककर्म कृत्वा, मत्ता हर्षभरात्सुखं सुरेन्द्राः ।
तृणमपि गणयन्ति नैव नाकं, प्रातः सन्तु शिवाय ते जिनेन्द्राः॥२॥

अन्वयार्थ—'येषां' जिन के 'अभिषेककर्म' अभिषेक-कार्य को 'कृत्वा' कर के 'हर्षभरात्' हर्ष की अधिकता से 'मत्ताः' उन्मत्त हो कर 'सुरेन्द्राः' देवेन्द्र 'नाकं' स्वर्गरूप 'सुखं' सुख को 'तृणमपि' तिनके के बराबर भी 'नैव' नही 'गणयन्ति' गिनते हैं 'ते' वे 'जिनेन्द्राः' जिनेश्वर 'प्रातः' प्रातःकाल में 'शिवाय' कल्याण के लिये 'सन्तु' हों ॥२॥

भावार्थ—जिनेश्वरों का अभिषेक करने से इन्द्रों को इतना अधिक हर्ष होता है कि वे उस हर्ष के सामने अपने स्वर्गीय सुख को तृण-तुल्य भी नहीं गिनते है; ऐसे प्रभावशाली जिनेश्वर देव प्रातःकाल में कल्याणकारी हों ॥२॥

कलङ्कनिर्मुक्तममुक्तपूर्णतं, कुतर्कराहुग्रसनं सदोदयम् ।
अपूर्वचन्द्रं जिनचन्द्रभाषितं, दिनागमे नौमि बुधैर्नमस्कृतम्॥३॥

अन्वयार्थ—'कलङ्कनिर्मुक्तम्' निष्कलङ्क, 'अमुक्तपूर्णतं' पूर्णता-युक्त, 'कुतर्कराहुग्रसनं' कुतर्करूप राहु को ग्रास करने वाले, 'सदोदयम्' निरन्तर उदयमान और 'बुधैर्नमस्कृतम्' विद्वानों द्वारा प्रणत; ऐसे 'जिनचन्द्रभाषितं' जिनेश्वर के आगमरूप 'अपूर्वचन्द्रं' अपूर्व चन्द्र की 'दिनागमे' प्रातःकाल में 'नौमि' स्तुति करता हूँ ॥३॥

भावार्थ—जैन-आगम, चन्द्र से भी बढ़ कर है, क्यों कि चन्द्र में कलङ्क है, उस की पूर्णता कायम नही रहती, राहु उस को ग्रास कर लेता है, वह हमेशा उदयमान नहीं रहता, परन्तु जैनागम में न तो किसी तरह का कलङ्क है, न उस की पूर्णता कम होती है, न उस को कुतर्क दूषित ही करता है; इतनां ही नहीं बल्कि वह सदा उदयमान रहता है, इसी से विद्वानों ने उस को सिर झुकाया है; ऐसे अलौकिक जैनागम-चन्द्र की प्रातः-काल में मैं स्तुति करता हूँ ॥३॥

२९—श्रुतदेवता की स्तुति ।

* सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० ।

अर्थ—श्रुतदेवता—सरस्वती—वाग्देवता—की आराधना के निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ ।

* श्रुतदेवतायै करोमि कायोत्सर्गम् ।

* सुअदेवया भगवई, नाणावरणीअकम्मसंघायं।
तेसिं खवेउ सययं, जेसिं सुअसायरे भत्ती ॥१॥

अन्वयार्थ—'जेसिं' जिन की 'सुअसायरे' श्रुत-सागर पर 'सययं' निरन्तर 'भत्ती' भक्ति है 'तेसिं' उन के 'नाणावरणीअ-कम्मसंघायं' ज्ञानावरणीय कर्म-समूह को 'भगवई' पूज्य 'सुअदे-वया' श्रुतदेवता 'खवेउ' क्षय करे ॥१॥

भावार्थ—भगवती सरस्वती; उन भक्तों के ज्ञानावरणीय कर्म को क्षय करे, जिन की भक्ति सिद्धान्तरूप समुद्र पर अटल है ॥१॥

४०—क्षेत्रदेवता की स्तुति।

× खित्तदेवयाए करेमि काउस्सगं। अन्नत्थ०।

अर्थ—क्षेत्रदेवता की आराधना के निमित्त कायोत्सर्ग करता हूँ।

‡ जीसे खित्ते साहू, दंसणनाणेहिँ चरणसहिएहिं।
साहंति मुक्खमग्गं, सा देवी हरउ दुरिआइं ॥१॥

---

* श्रुतदेवता भगवती, ज्ञानावरणीयकर्मसंघातम्।
तेषां क्षपयतु सततं, येषां श्रुतसागरे भक्तिः ॥१॥

× क्षेत्रदेवतायै करोमि कायोत्सर्गम्।

‡ यस्याः क्षेत्रे साधवो, दर्शनज्ञानाभ्यां चरणसहिताभ्याम्।
साधयन्ति मोक्षमार्गं, सा देवी हरतु दुरितानि ॥१॥

अन्वयार्थ—'जीसे' जिस के 'खित्ते' क्षेत्र में 'साहू' साधु 'चरणसहिएहिँ' चारित्र-साहित 'दंसणनाणेहिं' दर्शन और ज्ञान से 'मुक्खमग्गं' मोक्षमार्ग को 'साहंति' साधते हैं 'सा' वह 'देवी' क्षेत्र-देवी 'दुरिआइं' पापों को 'हरउ' हरे ॥१॥

भावार्थ—साधुगण जिस के क्षेत्र में रह कर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र का साधन करते हैं, वह क्षेत्र-अधिष्ठायिका देवी विघ्नों का नाश करे ॥१॥

४१—कमलदल स्तुति[1]।

कमलदलविपुलनयना, कमलमुखी कमलगर्भसमगौरी ।
कमले स्थिता भगवती, ददातु श्रुतदेवता सिद्धिम् ॥१॥

अन्वयार्थ—'कमलदलविपुलनयना' कमल-पत्र-समान विस्तृत नेत्र वाली 'कमलमुखी' कमल-सदृश मुख वाली 'कमलगर्भसमगौरी' कमल के मध्य भाग की तरह गौर वर्ण वाली 'कमले स्थिता' कमल पर स्थित, ऐसी 'भगवती श्रुतदेवता' श्रीसरस्वती देवी 'सिद्धिम्' सिद्धि 'ददातु' देवे ॥१॥

भावार्थ—भगवती सरस्वती देवी सिद्धि देवे; जिस के नेत्र; कमल-पत्र के समान विशाल हैं, मुख कमलवत् सुन्दर है, वर्ण कमल के गर्भ की तरह गौर है तथा जो कमल पर स्थित है ॥१॥

१—स्त्रियाँ श्रुतदेवता की स्तुति के स्थान पर इस स्तुति को पढ़े ।

४२---अड्ढाइज्जेसु [मुनिवन्दन] सूत्र ।

† अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु, पनरससु कम्मभूमीसु, जावंत केवि साहू, रयहरणगुच्छपडिग्गहधारा, पंचमहव्वय-धारा अट्ठारससहस्ससीलंगधारा, अक्खय(क्खु)यायारचरित्ता,

---

† अर्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु, पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, यावन्तः केऽपि साधवो रजोहरणगुच्छकपतद्ग्रहधाराः, पञ्चमहाव्रतधाराः, अष्टादश-सहस्रशीलाङ्गधाराः, अक्षताचारचारित्राः, तान् सर्वान् शिरसा मनसा मस्तकेन वन्दे ॥१॥

१—शीलाङ्ग के १८००० भेद इस प्रकार किये हैं:—३ योग, ३ करण, ४ संज्ञाएँ, ५ इन्द्रियाँ, १० पृथ्वीकाय आदि (५ स्थावर, ४ त्रस और १ अजीव) और १० यति-धर्म, इन सब को आपस मे गुणने से १८००० भेद होते हैं। जैसे.—क्षान्तियुक्त, पृथ्वीकायसंरक्षक, श्रोत्रेन्द्रिय को संवरण करने वाला और आहार-संज्ञा रहित मुनि मन से पाप-व्यापार न करे। इस प्रकार क्षान्ति के स्थान मे आर्जव मार्दव आदि शेष ९ यति-धर्म कहने से कुल १० भेद होते हैं। ये दस भेद 'पृथ्वीकायसंरक्षक' पद के संयोग से हुए। इसी तरह जलकाय से ले कर अजीव तक प्रत्येक के दस दस भेद करने से कुल १०० भेद होते हैं। ये सौ भेद 'श्रोत्रेन्द्रिय' पद के संयोग से हुए। इसी प्रकार चक्षु आदि अन्य चार इन्द्रियों के सम्बन्ध से चार सौ भेद, कुल ५०० भेद। ये पाँच सौ भेद 'आहार-संज्ञा' पद के सम्बन्ध से हुए, अन्य तीन संज्ञाओं के सम्बन्ध से पन्द्रह सौ, कुल २००० भेद। ये दो हजार 'करण' पदकी योजना से हुए, कराना और अनुमोदन पदके सबन्ध से भी दो दो हजार भेद, कुल ६००० भेद। ये छह हज़ार भेद मन के सम्बन्ध से हुए; वचन और काय के संवन्ध से भी छह छह हजार, सब मिला कर १८००० भेद होते हैं।

जोए करणे सन्ना, इंदिय भोमाइ समणधम्मे य ।
सीलंगसहस्साणं अट्ठारससहस्स निप्फत्ती ॥

[दशवैकालिक-निर्युक्ति गाथा १७७, पृ० ९०/१]

ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥१॥

अन्वयार्थ—'अड्ढाइज्जेसु' अढ़ाई 'दीवसमुद्देसु' द्वीप-समुद्र के अन्दर 'पनरससु' पन्द्रह 'कम्मभूमीसु' कर्मभूमियों में 'रयहरणगुच्छपडिग्गहधारा' रजोहरण, गुच्छक और पात्र धारण करने वाले, 'पंचमहव्वयधारा' पाँच महाव्रत धारण करने वाले, 'अट्ठारससहस्ससीलंगधारा' अठारह हज़ार शीलाङ्ग धारण करने वाले और 'अक्खयायारचरित्ता' अखण्डित आचार तथा अखण्डित चारित्र वाले, 'जावंत' जितने और 'जे के वि' जो कोई 'साहू' साधु हैं 'ते' उन 'सव्वे' सब को 'मणसा' मन से—भाव-पूर्वक—'सिरसा मत्थएण' सिर के अग्रभाग से 'वंदामि' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—ढाई द्वीप और दो समुद्र के अन्दर पन्द्रह कर्म-भूमियों में द्रव्य[1]-भाव[2]-उभयलिङ्गधारी जितने साधु हैं उन सब को भाव-पूर्वक सिर झुका कर मैं वन्दन करता हूँ ॥१॥

—:o:—

४३—वरकनक सूत्र ।

वरकनकशङ्खविद्रुम,-मरकतघनसन्निभं विगतमोहम् ।
सप्ततिशतं जिनानां, सर्वामरपूजितं वन्दे ॥१॥

अन्वयार्थ—'वरकनकशङ्खविद्रुममरकतघनसन्निभं' श्रेष्ठ

१—गुच्छक, पात्र आदि द्रव्यलिङ्ग हैं । २—महाव्रत, शीलाङ्ग, आचार आदि भावलिङ्ग हैं ।

सुवर्ण, शङ्ख, प्रवाल—मूँगे, नीलम और मेघ के समान वर्ण वाले, 'विगतमोहम्' मोह-रहित और 'सर्वामरपूजितं' सब देवों के द्वारा पूजित, 'सप्ततिशतं' एक सौ सत्तर *(१७०) 'जिनानां' जिन-वरों को 'वन्दे' वन्दन करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—मैं १७० तीर्थङ्करों को वन्दन करता हूँ। ये सभी निर्मोह होने के कारण समस्त देवों के द्वारा पूजे जाते हैं। वर्ण इन सब का भिन्न भिन्न होता है—कोई श्रेष्ठ सोने के समान पीले वर्ण वाले, कोई शङ्ख के समान सफेद वर्ण वाले, कोई मूँगे के समान लाल वर्ण वाले, कोई मरकत के समान नील वर्ण वाले और कोई मेघ के समान श्याम वर्ण वाले होते हैं ॥१॥

:o:

४४—लघु-शान्ति स्तव ।

शान्तिं शान्तिनिशान्तं, शान्तं शान्ताऽशिवं नमस्कृत्य ।
स्तोतुः शान्तिनिमित्तं, मन्त्रपदैः शान्तये स्तौमि ॥१॥

---

* यह, एक समय में पाई जाने वाली तीर्थङ्करों की उत्कृष्ट संख्या है ।

१—इस की रचना नाडुल नगर मे हुई थी । शाकंभरी नगर में मारी का उपद्रव फैलने के समय शान्ति के लिये प्रार्थना की जाने पर बृहद्-गच्छीय श्रीमानदेव सूरि ने इस को रचा था । पद्मा, जया, विजया और अपरा-जिता, ये चारों देवियाँ उक्त सूरिकी अनुगामिनी थीं । इस लिये इस स्तोत्र के पढ़ने, सुनने और इस के द्वारा मन्त्रित जल छिड़कने आदि से शान्ति हो गई । इस को दैवसिक-प्रतिक्रमण में दाखिल हुए करीब पाँच सौ वर्ष हुए ।

अन्वयार्थ—'शान्तिनिशान्तं' शान्ति के मन्दिर, 'शान्तं' राग-द्वेष-रहित, 'शान्ताऽशिवं' उपद्रवों को शान्त करने वाले और 'स्तोतुः शान्तिनिमित्तं' स्तुति करने वाले की शान्ति के कारणभूत, 'शान्तिं' श्रीशान्तिनाथ को 'नमस्कृत्य' नमस्कार कर के 'शान्तये' शान्ति के लिये 'मन्त्रपदैः' मन्त्र-पदों से 'स्तौमि' स्तुति करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—श्रीशान्तिनाथ भगवान् शान्ति के आधार हैं, राग-द्वेष-रहित हैं, उपद्रवों के मिटाने वाले हैं और भक्त जन को शान्ति देने वाले हैं; इसी कारण मैं उन्हें नमस्कार कर के शान्ति के लिये मन्त्र-पदों से, उन की स्तुति करता हूँ ॥१॥

ओमितिनिश्चितवचसे, नमो नमो भगवतेऽर्हते पूजाम् ।
शान्तिजिनाय जयवते, यशस्विने स्वामिने दमिनाम् ॥२॥

अन्वयार्थ—'ओमितिनिश्चितवचसे' ॐ इस प्रकार के निश्चित वचन वाले, 'भगवते' भगवान्, 'पूजाम्' पूजा 'अर्हते' पाने के योग्य, 'जयवते' राग-द्वेष को जीतने वाले, 'यशस्विने' कीर्ति वाले और 'दमिनाम्' इन्द्रिय-दमन करने वालों—साधुओं—के

वृद्ध-परम्परा ऐसी है कि पहिले, लोग इस स्तोत्र को शान्ति के लिये साधु व यति के मुख से सुना करते थे। उदयपुर में एक वृद्ध यति वार वार इसके सुनाने से ऊव गये, तव उन्हों ने यह नियम कर दिया कि 'दुक्खक्खओ कम्मक्खओ' के कायोत्सर्ग के वाद—प्रतिक्रमण के अन्त में—इस शान्ति को पढ़ा जाय, ता कि सब सुन सकें। तभी से इस का प्रतिक्रमण मे समावेश हुआ है।

'स्वामिने' नाथ 'शान्तिजिनाय' श्रीशान्ति जिनेश्वर को 'नमो नमः' बार बार नमस्कार हो ॥२॥

भावार्थ—'ओ३म्' यह पद निश्चितरूप से जिन का वाचक है, जो भगवान् हैं, जो पूजा पाने के योग्य हैं, जो राग-द्वेष को जीतने वाले हैं, जो कीर्ति वाले है और जो जितेन्द्रियों के नायक हैं, उन श्रीशान्तिनाथ भगवान् को बार बार नमस्कार हो ॥२॥

सकलातिशेषकमहा,-सम्पत्तिसमन्विताय शस्याय ।
त्रैलोक्यपूजिताय च, नमो नमः शान्तिदेवाय ॥३॥

अन्वयार्थ—'सकलातिशेषकमहासम्पत्तिसमन्विताय' सम्पूर्ण अतिशयरूप महासम्पत्ति वाले, 'शस्याय' प्रशंसा-योग्य 'च' और 'त्रैलोक्यपूजिताय' तीन लोक में पूजित, 'शान्तिदेवाय' श्रीशान्तिनाथ को 'नमो नमः' बार बार नमस्कार हो ॥३॥

भावार्थ—श्रीशान्तिनाथ भगवान् को बार बार नमस्कार हो। वे अन्य सब सम्पत्ति को मात करने वाली चौंतीस अतिशयरूप महासम्पत्ति से युक्त हैं और इसी से वे प्रशंसा-योग्य तथा त्रिभुवन-पूजित हैं ॥३॥

सर्वामरसुसमूह,-स्वामिकसंपूजिताय निजिताय ।
भुवनजनपालनोद्यत,-तमाय सततं नमस्तस्मै ॥४॥
सर्वदुरितौघनाशन,-कराय सर्वाऽशिवप्रशमनाय ।
दुष्टग्रहभूतपिशाच,-शाकिनीनां प्रमथनाय ॥५॥

अन्वयार्थ—'सर्वाऽमरसुसमूहस्वामिकसंपूजिताय' देवों के सब समूह और उन के स्वामियों के द्वारा पूजित, 'निजिताय' अजित, 'भुवनजनपालनोद्यततमाय' जगत् के लोगों का पालन करने में अधिक तत्पर, 'सर्वदुरितौघनाशनकराय' सब पाप-समूह का नाश करने वाले, 'सर्वाशिवप्रशमनाय' सब अनिष्टों को शान्त करने वाले, 'दुष्टग्रहभूतपिशाचशाकिनीनां प्रमथनाय' दुष्ट ग्रह, दुष्ट भूत, दुष्ट पिशाच और दुष्ट शाकिनियों को दबाने वाले, 'तस्मै' उस [श्रीशान्तिनाथ] को 'सततं नमः' निरन्तर नमस्कार हो ॥४॥५॥

भावार्थ—जो सब प्रकार के देवगण और उन के नायकों के द्वारा पूजे गये हैं; जो सब से अजित हैं; जो सब लोगों का पालन करने में विशेष सावधान है; जो सब तरह के पाप-समूह को नाश करने वाले हैं; जो अनिष्टों को शान्त करने वाले हैं और जो दुष्ट ग्रह, दुष्ट भूत, दुष्ट पिशाच तथा दुष्ट शाकिनी के उपद्रवों को दबाने वाले हैं, उन श्रीशान्तिनाथ जिनेश्वर को निरन्तर नमस्कार हो ॥४॥५॥

यस्येतिनाममन्त्र,-प्रधानवाक्योपयोगकृततोषा ।
विजया कुरुते जनहित,-मिति च नुता नमत तं शान्तिम् ॥६॥

अन्वयार्थ—'नुता' स्तुति-प्राप्त 'विजया' विजया देवी 'यस्य' जिस के 'इतिनाममन्त्रप्रधानवाक्य' पूर्वोक्त नामरूप प्रधान मन्त्र-वाक्य के 'उपयोगकृततोषा' उपयोग से सन्तुष्ट हो कर 'जनहितं'

लोगों का हित 'कुरुते' करती है 'इति' इस लिये 'तं शान्तिम्' उस शान्तिनाथ भगवान् को 'नमत' तुम नमस्कार करो ॥६॥

भावार्थ—हे भव्यो ! तुम श्रीशान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करो । भगवान् का नाम महान् मन्त्र-वाक्य है । इस मन्त्र के उच्चारण से विजया देवी प्रसन्न होती है और प्रसन्न हो कर लोगों का हित करती है ॥६॥

भवतु नमस्ते भगवति!, विजये! सुजये! परापरैरजिते! ।
अपराजिते! जगत्यां, जयतीति जयावहे! भवति! ॥७॥

अन्वयार्थ—'जगत्यां' जगत् में 'जयति' जय पा रही है, 'इति' इसी कारण 'जयावहे' ! औरों को भी जय दिलाने वाली, 'परापरैः' बड़ों से तथा छोटों से 'अजिते' ! अजित, 'अपराजिते' ! पराजय को अप्राप्त, 'सुजये' ! सुन्दर जय वाली, 'भवति'! हे श्रीमति, 'विजये'! विजया 'भगवति!' देवि ! 'ते' तुझ को 'नमः' नमस्कार 'भवतु' हो ॥७॥

भावार्थ—हे श्रीमति विजया देवि ! तुझ को नमस्कार हो । तू श्रेष्ठ जय वाली है; तू छोटों बड़ों सब से अजित है; तू ने कहीं भी पराजय नहीं पाई है; जगत में तेरी जय हो रही है; इसी से तू दूसरों को भी जय दिलाने वाली है ॥७॥

सर्वस्यापि च सङ्घस्य, भद्रकल्याणमंगलप्रददे ।
साधूनां च सदा शिव,—सुतुष्टिपुष्टिप्रदे जीयाः ॥८॥

अन्वयार्थ—'सर्वस्यापि च सङ्घस्य' सकल संघ को

'भद्र-कल्याण-मंगल-प्रददे' सुख, शान्ति और मंगल देने वाली, 'च' तथा 'सदा' हमेशा 'साधूना' साधुओं के 'शिवसुतुष्टिपुष्टि-प्रदे' कल्याण और सन्तोष की पुष्टि करने वाली हे देवि! 'जीयाः' तेरी जय हो ॥८॥

भावार्थ—हे देवि! तेरी जय हो, क्यों कि तू चतुर्विध-संघ को सुख देने वाली, उसकी बाधाओं को हरने वाली और उस का मंगल करने वाली है तथा तू सदैव मुनियों के कल्याण, सन्तोष और धर्म-वृद्धि को करने वाली है ॥८॥

भव्यानां कृतसिद्धे!, निर्वृतिनिर्वाणजननि! सत्वानाम् ।
अभयप्रदाननिरते!, नमोऽस्तु स्वस्तिप्रदे! तुभ्यम् ॥९॥

अन्वयार्थ—'भव्यानां' भव्यों को 'कृतसिद्धे!' सिद्धि देने वाली; 'निर्वृतिनिर्वाणजननि!' शान्ति और मोक्ष देने वाली, 'सत्त्वानाम्' प्राणियों को 'अभयप्रदाननिरते!' अभय-प्रदान करने में तत्पर, और 'स्वास्तिप्रदे' कल्याण देने वाली हे देवि! 'तुभ्यम्' तुझ को 'नमोऽस्तु' नमस्कार हो ॥९॥

भावार्थ—हे देवि! तुझ को नमस्कार हो। तू ने भव्यों की कार्य-सिद्धि की है; तू शान्ति और मोक्ष को देने वाली है; तू प्राणिमात्र को अभय-प्रदान करने में रत है और तू कल्याण-कारिणी है ॥९॥

भक्तानां जन्तूनां, शुभावहे नित्यमुद्यते! देवि!
सम्यग्दृष्टीनां धृति,-रतिमतिबुद्धिप्रदानाय ॥१०॥

जिनशासननिरतानां, शान्तिनतानां च जगति जनतानाम् ।
श्रीसम्पत्कीर्तियशो,-वर्द्धनि ! जय देवि ! विजयस्व ॥११॥

अन्वयार्थ—'भक्तानां जन्तूनां' भक्त जीवों का 'शुभावहे!' भला करने वाली, 'सम्यग्दृष्टीनां' सम्यक्त्वियों को 'धृतिरतिमति-बुद्धिप्रदानाय' धीरज, प्रीति, मति और बुद्धि देने के लिये 'नित्यम्' हमेशा 'उद्यते!' तत्पर, 'जिनशासननिरतानां' जैन-धर्म में अनुराग वाले तथा 'शान्तिनतानां' श्रीशान्तिनाथ को नमे हुए 'जनतानाम्' जनसमुदाय की 'श्रीसम्पत्कीर्त्तियशोवर्द्धनि' लक्ष्मी, सम्पत्ति, कीर्त्ति और यश को बढ़ाने वाली 'देवि!' हे देवि ! 'जगति' जगत में 'जय' तेरी जय हो तथा 'विजयस्व' विजय हो ॥१०॥११॥

भावार्थ—हे देवि ! जगत् में तेरी जय-विजय हो । तू भक्तों का कल्याण करने वाली है; तू सम्यक्त्वियों को धीरज, प्रीति, मति तथा बुद्धि देने के लिये निरन्तर तत्पर रहती है और जो लोग जैन-शासन के अनुरागी तथा श्रीशान्तिनाथ भगवान् को नमन करने वाले हैं; उन की लक्ष्मी, सम्पत्ति तथा यश-कीर्त्ति को बढ़ाने वाली है ॥१०॥११॥

सलिलानलविषविषधर,-दुष्टग्रहराजरोगरणभयतः ।
राक्षसरिपुगणमारी,-चौरेतिश्वापदादिभ्यः ॥१२॥
अथ रक्ष रक्ष सुशिवं, कुरु कुरु शान्तिं च कुरु कुरु सदेति ।
तुष्टिं कुरु कुरु पुष्टिं, कुरु कुरु स्वस्तिं च कुरु कुरु त्वम् ॥१३॥

अन्वयार्थ—'अथ' अब 'सलिल' पानी, 'अनल' अग्नि, 'विष' जहर, 'विषधर' साँप, 'दुष्टग्रह' बुरे ग्रह, 'राज' राजा, 'रोग' बीमारी और 'रण' युद्ध के 'भयतः' भय से; तथा 'राक्षस' राक्षस, 'रिपुगण' वैरि-समूह, 'मारी' प्लेग, हेजा आदि रोग, 'चौर' चोर, 'ईति' अतिवृष्टि आदि सात ईतियों और 'श्वापदादिभ्यः' हिंसक प्राणी आदि से 'त्वम्' तू 'रक्ष रक्ष' बार बार रक्षा कर, 'सुशिवं' कल्याण 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'सदा' हमेशा 'शांतिं' शान्ति 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'इति' इस प्रकार 'तुष्टिं' परितोष 'कुरु कुरु' बार बार कर, 'पुष्टिं' पोषण 'कुरु कुरु' बार बार कर 'च' और 'स्वस्ति' मंगल 'कुरु कुरु' बार बार कर ॥१२॥१३॥

भावार्थ—हे देवि ! तू पानी, आग, विष, और सर्प से बचा। शनि आदि दुष्ट ग्रहों के, दुष्ट राजाओं के, दुष्ट रोग के और युद्ध के भय से तू बचा। राक्षसों से, रिपुओं से, महामारी से, चोरों से, अतिवृष्टि आदि सात ईतियों से और हिंसक प्राणियों से बचा। हे देवि ! तू मंगल, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और कल्याण यह सब सदा बार बार कर ॥१२॥१३॥

भगवति ! गुणवति ! शिवशान्ति,-
तुष्टिपुष्टिस्वस्तीह कुरु कुरु जनानाम् ।
ओमिति नमो नमो ह्राँ,
ह्रीँ ह्रूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट्[1] स्वाहा ॥१४॥

१—'फट् फट्' इत्यपि ।

अन्वयार्थ—'गुणवति!' हे गुणवाली 'भगवति!' भगवति! [तू] 'इह' इस जगत में 'जनानाम्' लोगों के 'शिवशान्तितुष्टिपुष्टिस्वति' कल्याण, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और कुशल को 'कुरु कुरु' बार बार कर। 'ओमिति' ओम्-रूप तुझ को 'ह्राँ ह्रीँ ह्रूँ ह्रः यः क्षः ह्रीँ फुट् फुट् स्वाहा' ह्राँ ह्रीँ इत्यादि मन्त्राक्षरों से 'नमोनमः' बार बार नमस्कार हो ॥१४॥

भावार्थ—गुणवाली हे भगवति! तू इस जगत में लोगों को सब तरह से सुखी कर। हे देवि! तू ओम्-स्वरूप—रक्षक-रूप या तेजोरूप है; इस लिये तुझ को ह्राँ ह्रीँ आदि दश[1] मन्त्रों द्वारा बार २ नमस्कार हो ॥१४॥

एवं यन्नामाक्षर,-पुरस्सरं सँस्तुता जयादेवी ।
कुरुते शान्तिं नमतां, नमो नमः शान्तये तस्मै ॥१५॥

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'यन्नामाक्षरपुरस्सरं' जिस के नामाक्षर-पूर्वक 'सँस्तुता' स्तवन की गई 'जयादेवी' जयादेवी 'नमतां' नमन करने वालों को 'शान्तिं' शान्ति 'कुरुते' पहुँचाती है; 'तस्मै' उस 'शान्तये' शान्तिनाथ को 'नमो नमः' पुनः पुनः नमस्कार हो ॥१५॥

भावार्थ—जिस के नाम का जप कर के सँस्तुत अर्थात् आ-ह्वान की हुई जया देवी भक्तों को शान्ति पहुँचाती है, उस प्रभावशाली शान्तिनाथ भगवान् को बार २ नमस्कार हो ॥१५॥

१–ऊपर के अक्षरों में पहिले सात अक्षर शान्तिमन्त्र के बीज हैं और शेष तीन विघ्न-विनाशकारी मन्त्र हैं।

इति पूर्वसूरिदर्शित,-मन्त्रपदविदर्भितः स्तवः शान्तेः ।
सलिलादिभयविनाशी, शान्त्यादिकरश्च भक्तिमताम् ॥१६॥

अन्वयार्थ—'इति' इस प्रकार 'पूर्वसूरिदर्शित' पूर्वाचार्यों के बतलाये हुए 'मन्त्रपदविदर्भितः' मन्त्र-पदों से रचा हुआ 'शान्तेः' श्रीशान्तिनाथ का 'स्तवः' स्तोत्र 'भक्तिमताम्' भक्तों के 'सलिलादिभयविनाशी' पानी आदि के भय का विनाश करने वाला 'च' और 'शान्त्यादिकरः' शान्ति आदि करने वाला है ॥१६॥

भावार्थ—पूर्वाचार्यों के कहे हुए मन्त्र-पदों को ले कर यह स्तोत्र रचा गया है । इस लिये यह भक्तों के सब प्रकार के भयों को मिटाता है और सुख, शान्ति आदि करता है ॥१६॥

यश्चैनं पठति सदा, शृणोति भावयति वा यथायोगम् ।
स हि शान्तिपदं यायात्, सूरिः श्रीमानदेवश्च ॥१७॥

अन्वयार्थ—'यः' जो [भक्त] 'एनं' इस स्तोत्र को 'सदा' हमेशा 'यथायोगम्' विधि-पूर्वक 'पठति' पढ़ता है, 'शृणोति' सुनता है 'वा' अथवा 'भावयति' मनन करता है 'सः' वह 'च और 'सूरिः श्रीमानदेवः' श्रीमानदेव सूरि 'शान्तिपदं' मुक्ति-पद को 'हि' अवश्य 'यायात्' प्राप्त करता है ॥१७॥

भावार्थ—जो भक्त इस स्तोत्र को नित्यप्रति विधि-पूर्वक पढ़ेगा, सुनेगा और मनन करेगा, वह अवश्य शान्ति प्राप्त करेगा। तथा इस स्तोत्र के रचने वाले श्रीमानदेव सूरि भी शान्ति पायँगे ॥१७॥

उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥१८॥

अन्वयार्थ—'जिनेश्वरे' जिनेश्वर को 'पूज्यमाने' पूजने पर 'उपसर्गाः' उपद्रव 'क्षयं' विनाश को 'यान्ति' प्राप्त होते हैं, 'विघ्नवल्लयः' विघ्नरूप लताएँ 'छिद्यन्ते' छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और 'मनः' चित्त 'प्रसन्नताम्' प्रसन्नता को 'एति' प्राप्त होता है ॥१८॥

भावार्थ—जिनेश्वर का पूजन करने से सब उपद्रव नष्ट हो जाते हैं, विघ्न-बाधाएँ निर्मूल हो जाती है और चित्त प्रसन्न हो जाता है ॥१८॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥१९॥

अर्थ—पूर्ववत्।

४५—चउक्कसाय सूत्र।

* चउक्कसायपडिमल्लुल्लूरणु, दुज्जयमयणबाणमुसुमूरणू।
सरसपिअंगुवण्णु गयगामिउ, जयउ पासु भुवणत्त्तयसामिउ॥१॥

अन्वयार्थ—'चउक्कसाय' चार कषायरूप 'पडिमल्ल' वैरी के 'उल्लूरणु नाश-कर्त्ता, 'दुज्जय' कठिनाई से जीते जाने वाले,

---

* चतुष्कषायप्रतिमल्लतोडनो, दुर्जयमदनबाणभञ्जनः।
सरसप्रियङ्गुवर्णो गजगामी, जयतु पार्श्वो भुवनत्रयस्वामी ॥१॥

'मयणबाण' काम-बाणों को 'मुसुमूरणू' तोड़ देने वाले, 'सरसपिअंगुवण्णु' नवीन प्रियङ्गु वृक्ष के समान वर्ण वाले, 'गयगामिउ' हाथी की सी चाल वाले और 'भुवणत्तयसामिउ' तीनों भुवन के स्वामी 'पासु' श्रीपार्श्वनाथ 'जयउ' जयवान् हो ॥१॥

भावार्थ—तीन भुवन के स्वामी श्रीपार्श्वनाथ स्वामी की जय हो। वे कषायरूप वैरिओं का नाश करने वाले हैं; काम के दुर्जय बाणों को खण्डित करने वाले हैं—जितेन्द्रिय हैं; नये प्रियङ्गु वृक्ष के समान नील वर्ण वाले हैं और हाथी-की-सी गम्भीर गति वाले हैं ॥१॥

† जसु तणुकंतिकडप्प सिणिद्धउ,
सोहइ फणिमणिकिरणालिद्धउ ।
नं नवजलहरतडिल्लयलंछिउ,
सो जिणु पासु पयच्छउ वंछिउ ॥२॥

अन्वयार्थ—'जसु' जिस के 'तणुकंतिकडप्प' शरीर का कान्ति-मण्डल 'सिणिद्धउ' स्निग्ध और 'फणिमणिकिरणालिद्धउ' साँप की मणियों की किरणों से व्याप्त है, [इस लिये ऐसा] 'सोहइ' शोभमान् हो रहा है कि 'नं' मानो 'तडिल्लयलंछिउ' बिजली की चमक-सहित 'नवजलहर' नया मेघ हो; 'सो' वह 'पासु' श्रीपार्श्वनाथ 'जिणु' जिनेश्वर 'वंछिउ' वाञ्छित 'पयच्छउ' देवे ॥२॥

---

† यस्य तनुकान्तिकलापः स्निग्धः, शोभते फणिमणिकिरणाश्लिष्टः ।
ननु नवजलधरस्तडिल्लतालाञ्छितः, स जिनः पार्श्वः प्रयच्छतु वाञ्छितम् ॥२॥

भावार्थ—भगवान् पार्श्वनाथ सब कामनाओं को पूर्ण करें । उन के शरीर का कान्ति-मण्डल चिकना तथा सर्प के मणियों की किरणों से व्याप्त होने के कारण ऐसा मालूम हो रहा है कि मानों बिजली की चमक से शोभित नया मेघ हो अर्थात् भगवान् का शरीर नवीन मेघ की तरह नील वर्ण और चिकना है तथा शरीर पर फैली हुई सर्प-मणि की किरणें बिजली की किरणों के समान चमक रही हैं ॥२॥

——:o:——

४६---भरहेसर की सज्झाय ।

† भरहेसर बाहुबली, अभयकुमारो अ ढंढणकुमारो ।
सिरिओ अणिआउत्तो, अइमुत्तो नागदत्तो अ ॥१॥
मेअज्ज थूलिभद्दो, वयररिसी नंदिसेण सिंहागिरी ।
कयवन्नो अ सुकोसल, पुंडरिओ केसि करकंडू ॥२॥
हल्ल विहल्ल सुदंसण, साल महासाल सालिभद्दो अ ।
भद्दो दसण्णभद्दो, पसण्णचंदो अ जसभद्दो ॥३॥

---

† भरतेश्वरो बाहुबली, अभयकुमारश्च टण्ढणकुमारः ।
श्रीयकोऽर्णिकापुत्रोऽतिमुक्तो नागदत्तश्च ॥१॥
मेतार्यः स्थूलभद्रो, वज्रर्षिर्नन्दिषेणः सिंहगिरिः ।
कृतपुण्यश्च सुकोशलः, पुण्डरीकः केशी करकण्डूः ॥२॥
हल्लो विहल्लः सुदर्शनः, शालो महाशालः शालिभद्रश्च
भद्रो दशार्णभद्रः, प्रसन्नचन्द्रश्च यशोभद्रः ॥३॥

‡ जंबुपहु वंकचूलो, गयसुकुमालो अवंतिसुकुमालो।
धन्नो इलाइपुत्तो, चिलाइपुत्तो अ बाहुमुणी ॥४॥
अज्जगिरि अज्जरक्खिअ, अज्जसु हत्थी उदायगो मणगो।
कालयसूरी संबो, पज्जुण्णो मूलदेवो अ ॥५॥
पभवो विण्हुकुमारो, अद्दकुमारो दढप्पहारी अ।
सिज्जंस कूरगडु अ, सिज्जंभव मेहकुमारो अ ॥६॥
एमाइ महासत्ता, दिंतु सुहं गुणगणेहिँ संजुत्ता।
जेसिं नामग्गहणे, पावपबंधा विलय जंति ॥७॥

अर्थ—भरत चक्रवर्ती, बाहुबली, अभयकुमार, ढण्ढणकुमार, श्रीयक, अन्निकापुत्र-आचार्य, अतिमुक्तकुमार, नागदत्त ॥१॥

मेतार्य मुनि, स्थूलिभद्र, वज्र-ऋषि, नन्दिषेण, सिंहगिरि, कृतपुण्यकुमार, सुकोशल मुनि, पुण्डरीक स्वामी, केशीअनगार, करकण्डू मुनि ॥२॥

हल्ल, विहल्ल, सुदर्शन श्रेष्ठी, शाल मुनि, महाशाल मुनि,

---

‡ जम्बूप्रभुर्वङ्कचूलो, गजसुकुमालोऽवन्तिसुकुमालः।
धन्य इलाचीपुत्रश्चिलातीपुत्रश्च बाहुमुनिः ॥४॥
आर्यगिरिरार्यरक्षित, आर्यसुहस्त्युदायनो मनकः।
कालिकसूरिः शाम्बः, प्रद्युम्नो मूलदेवश्च ॥५॥
प्रभवो विष्णुकुमार, आर्द्रकुमारो दृढप्रहारी च।
श्रेयांसः कूरगडुश्च, शय्यंभवो मेघकुमारश्च ॥६॥
एवमादयो महासत्त्वा, ददतु सुखं गुणगणैः संयुक्ताः।
येषां नामग्रहणे, पापप्रबन्धा विलयं यान्ति ॥७॥

शालिभद्र, भद्रबाहु स्वामी, दशार्णभद्र, प्रसन्नचन्द्र, यशोभद्र सूरि ॥३॥

जम्बूस्वामी, वङ्कचूल राजकुमार, गजसुकुमाल, अवन्तिसुकुमाल, धन्ना श्रेष्ठी, इलाचीपुत्र, चिलातीपुत्र, युगबाहु मुनि ॥४॥

आर्यमहागिरि, आर्यरक्षित सूरि, आर्यसुहस्ति सूरि, उदायन नरेश, मनकपुत्र, कालिकाचार्य, शाम्बकुमार, प्रद्युम्नकुमार, मूलदेव ॥५॥

प्रभवस्वामी, विष्णुकुमार, आर्द्रकुमार, दृढप्रहारी, श्रेयांसकुमार, कूरगड्डु साधु, शय्यंभव स्वामी और मेघकुमार ॥६॥

इत्यादि महापराक्रमी पुरुष, जो अनेक गुणों से युक्त हो गये हैं और जिन का नाम लेने से ही पाप-बन्धन टूट जाते हैं; वे हमें सुख देवें ॥७॥

*** सुलसा चंदनबाला, मणोरमा मयणरेहा दमयंती।**
नमयासुंदरी सीया, नंदा भद्दा सुभद्दा य ॥८॥
रायमई रिसिदत्ता, पउमावइ अंजणा सिरीदेवी।
जिट्ठ सुजिट्ठ मिगावइ, पभावई चिल्लणादेवी ॥९॥
बंभी सुंदरि रुप्पिणि, रेवइ कुंती शिवा जयंती अ।

---

* सुलसा चन्दनबाला, मनोरमा मदनरेखा दमयन्ती।
नर्मदासुन्दरी सीता, नन्दा भद्रा सुभद्रा च ॥८॥
राजीमती ऋषिदत्ता, पद्मावत्यञ्जना श्रीदेवी।
ज्येष्ठा सुज्येष्ठा मृगावती, प्रभावती चेल्लणादेवी ॥९॥
ब्राह्मी सुन्दरी रुक्मिणी, रेवती कुन्ती शिवा जयन्ती च।

* देवइ दोवइ धारणी, कलावई पुप्फचूला अ ॥१०॥
पउमावई य गौरी, गंधारी लक्खमणा सुसीमा य ।
जंबूवई सच्चभामा, रुप्पिणि कण्हट्ठ महिसीओ ॥११॥
जक्खा य जक्खदिन्ना, भूआ तह चेव भूअदिन्ना अ ।
सेणा वेणा रेणा, भयणीओ थूलिभद्दस्स ॥१२॥
इच्चाइ महासइओ, जयंति अकलंकसीलकलिआओ ।
अज्जवि वज्जइ जासिं, जसपडहो तिहुअणे सयले ॥१३॥

अर्थ—सुलसा, चन्दनबाला, मनोरमा, मदनरेखा, दमयन्ती नर्मदासुन्दरी, सीता, नन्दा, भद्रा, सुभद्रा ॥८॥

राजीमती, ऋषिदत्ता, पद्मावती, अञ्जनासुन्दरी, श्रीदेवी, ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा, मृगावती, प्रभावती, चेलणारानी ॥९॥

ब्राह्मी, सुन्दरी, रुक्मिणी, रेवती, कुन्ती, शिवा, जयन्ती, देवकी, द्रौपदी,धारणी, कलावती, पुष्पचूला ॥१०॥

(१) पद्मावती, (२) गौरी, (३) गान्धारी, (४) लक्ष्मणा, (५) सुषीमा, (६) जम्बूवती, (७) सत्यभामा और (८) रुक्मिणी, ये कृष्ण की आठ पट्टरानियाँ ॥११॥

---

* देवकी द्रौपदी धारणी, कलावती पुष्पचूला च ॥१०॥
पद्मावती च गौरी, गान्धारी लक्ष्मणा सुषीमा च ।
जम्बूवती सत्यभामा, रुक्मिणी कृष्णस्याष्ट महिष्यः ॥११॥
यक्षा च यक्षदत्ता, भूता तथा चैव भूतदत्ता च ।
सेणा वेणा रेणा, भगिन्यः स्थूलभद्रस्य ॥१२॥
इत्याद्यो महासत्यो, जयन्त्यकलङ्कशीलकलिताः ।
अद्यापि वाद्यते यासां, यशःपटहस्त्रिभुवने सकले ॥१३॥

(१) यक्षा, (२) यक्षदत्ता, (३) भूता, (४) भूतदत्ता, (५) सेणा, (६) वेणा और (७) रेणा, ये श्रीस्थूलभद्र मुनि की सात बहनें ॥१२॥

इत्यादि अनेक महासातियाँ पवित्र शील धारण करने वाली हो गई हैं। इन की जय आज भी वर्त रही है और कीर्ति-दुन्दुभि सकल लोक में बज रही है ॥१३॥

उक्त भरतादि का संक्षिप्त परिचय[1]।

सत्पुरुष।

१. भरत—प्रथम चक्रवर्ती और श्रीऋषभदेव का पुत्र। इस ने आरिसा (दर्पण) भवन में अँगुली में से अँगूठी गिर जाने पर अनित्यता की भावना भाते २ केवलज्ञान प्राप्त किया।

आव० नि० गा० ४३६, पृ०१६६।

२. बाहुबली—भरत का छोटा भाई। इस ने भरत को युद्ध में हराया और अन्त में दीक्षा ले कर मान-वश एक साल तक काउस्सग्ग में रहने के बाद अपनी बहिन ब्राह्मी तथा सुन्दरी के द्वारा प्रतिबोध पा कर केवलज्ञान पाया।

आव० नि० ३४९, भाष्य-गा० ३२-३५, पृ० १५३।

१—इस परिचय में जितनी व्यक्तियाँ निर्दिष्ट हैं, उन सब के विस्तृत जीवन-वृत्तान्त 'भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति' नामक ग्रन्थ मे हैं। परन्तु आगमादि प्राचीन ग्रन्थों में जिस २ का जीवन-वृत्त हमारे देखने में आया है, उस २ के परिचय के साथ उस २ ग्रन्थ का नाम, गाथा, पेज आदि यथासंभव लिख दिया गया है।

३. अभयकुमार—श्रेणिक का पुत्र तथा मन्त्री। इस ने पिता के अनेक कार्यों में भारी सहायता पहुँचाई। यह अपनी बुद्धि के लिये प्रसिद्ध है।

४. ढणढणकुमार—कृष्ण वासुदेव की ढणढणा रानी का पुत्र। इस ने अपने प्रभाव से आहार लेने का अभिग्रह (नियम) लिया था परन्तु किसी समय पिता की महिमा से आहार पाया मालूम करके उसे परठवते समय केवलज्ञान प्राप्त किया।

५. श्रीयक—स्थूलभद्र का छोटा भाई और नन्द का मन्त्री। यह उपवास में काल-धर्म कर के स्वर्ग में गया।

आव० नि० गा० १२८४, तथा पृ० ६९३-९४।

६. अन्निकापुत्र—इस ने पुष्पचूला साध्वी को केवलज्ञान पा कर भी वैयावृत्य करते जान कर 'मिच्छा मि दुक्कडं' दिया। तथ किसी समय गङ्गा नदी में नौका में से लोगों के द्वारा गिराये जाने पर भी क्षमा-भाव रख कर केवलज्ञान प्राप्त किया। इसी निमित्त से 'प्रयाग-तीर्थ' की उत्पत्ति हुई कही जाती है।

आ० नि० गा० ११८३ तथा पृ० ६९९/१-६९९/१।

७. अतिमुक्त मुनि—इस ने आठ वर्ष की छोटी उम्र में दीक्षा ली और बाल-स्वभाव के कारण तालाब में पात्री तैराई। फिर 'इरियावहियं' करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

अन्तकृत् वर्ग ६-अध्य० १५।

८. नागदत्त—दो हुए। इन में से एक अदत्तादानव्रत में अतिदृढ तथा काउसग्ग-बल में प्रसिद्ध था और इसी से इस ने राजा के द्वारा शूली पर चढ़ाये जाने पर शूली को सिंहासन के रूप में बदल दिया।

दूसरा नागदत्त—श्रेष्ठि-पुत्र हो कर भी सर्प-क्रीडा में कुशल था। इस को पूर्व जन्म के मित्र एक देव ने प्रतिबोधा, तब इस ने जातिस्मरणज्ञान पा कर संयम धारण किया।

९. मेतार्य—यह एक चाण्डालिनी का लड़का था, लेकिन किसी सेठ के घर पला था। यह परम दयाशील था, यहाँ तक कि किसी सुनार के द्वारा सिर बाँधे जाने से दोनो आँखें निकल आने पर भी प्राणों की परवा न करके सोने के जौ चुग जाने वाले क्रौञ्च पक्षी को सुनार के हाथ से इस ने बचाया, और केवल ज्ञान प्राप्त किया।

— आव० नि० गा० ८६७-७७० पृ० ३६७-६६।

१० स्थूलभद्र—नन्द के मन्त्री शकटाल के पुत्र और आचार्य संभूतिविजय के शिष्य। इन्हो ने एक वार पूर्व-परिचित कोशा नामक गणिका के घर चौमासा किया। वहाँ उस ने इन्हें बहुत प्रलोभन दिया। किन्तु ये उस के प्रलोभन में न आये, उलटा इन्होंने अपने ब्रह्मचर्य की दृढ़ता से उस को परम-श्राविका बनाया।

आव० नि० गा० १२८४ तथा पृ० ६९५/१- ६९८/१।

११. वज्रस्वामी—अन्तिम दश-पूर्व-धर, आकाशगामिनी विद्या तथा वैक्रिय लब्धि के धारक। इन्हों ने बाल्य-काल में ही जाति-स्मरणज्ञान प्राप्त किया और दीक्षा ली। तथा पदानुसारिणी लब्धि से ग्यारह अङ्ग को याद किया।

आव० नि० गा० ७६३-७६६, पृ० २९५/१-२९४/१।

१२. नन्दिषेण—दो हुए। इन में से एक तो श्रेणिक का पुत्र। जो लब्धिधारी और परमतपस्वी था। यह एक वार संयम से भ्रष्ट हो कर वेश्या के घर रहा, किन्तु वहाँ रह कर भी ज्ञान-बल से प्रतिदिन दस व्यक्तियों को धर्म प्राप्त कराता रहा और अन्त में इस ने फिर से संयम धारण किया।

दूसरा नन्दिषेण—यह वैयावृत्त्य करने में अतिदृढ था। किसी समय इन्द्र ने इस को उस दृढता से चलित करना चाहा, पर

यह एक घिनावनी बीमारी वाले साधु की सेवा करने में इतना दृढ़ रहा कि अन्त में इन्द्र को हार माननी पड़ी।

१३. सिंहगिरि—वज्रस्वामी के गुरु।—आव० पृ० २९३/१ ।

१४. कृतपुण्यक—श्रेष्ठि-पुत्र। इस ने पूर्व भव में साधुओं को शुद्ध दान दिया। इस भव में विविध सुख पाये और अन्त में दीक्षा ली। —आव० नि० गा० ८४६ तथा पृ० ३५३/२ ।

१५. सुकोशल—यह अपनी मा, जो मर कर बाघिनी हुई थी, उस के द्वारा चीरे जाने पर भी काउस्सग्ग से चलित न हुआ और अन्त में केवलज्ञानी हुआ।

१६ पुण्डरीक—यह इतना उदार था कि जब संयम से भ्रष्ट हो कर राज्य पाने की इच्छा से अपना भाई कण्डरीक घर वापिस आया तब उस को राज्य सौंप कर इस ने स्वयं दीक्षा ले ली।
—ज्ञाताधर्म० अध्ययन १९।

१७. केशी—ये श्रीपार्श्वनाथस्वामी की परम्परा के साधु थे। इन्हों ने प्रदेशी राजा को धर्म-प्रतिबोध दिया था और गौतमस्वामी के साथ बड़ी धर्म-चर्चा की थी। —उत्तराध्ययन अध्ययन २५।

१८. करकण्डू—चम्पा-नरेश दधिवाहन की पत्नी और चेडा महाराज की पुत्री पद्मावती का साध्वी अवस्था में पैदा हुआ पुत्र, जो चाण्डाल के घर बड़ा हुआ और पीछे मरे हुए साँड़ को देख कर बोध तथा जातिस्मरणज्ञान होने से प्रथम प्रत्येक-बुद्ध हुआ। —उत्तराध्य० अध्य० ९, भावविजय-कृत टीका पृ० २०२ तथा आव० भाष्य गा० २०५, पृ० ७१६।

१९-२०. हल्ल-विहल्ल—श्रेणिक की रानी चेलणा के पुत्र। ये अपने नाना चेडा महाराज की मदद ले कर भाई कोणिक के साथ सेचनक नामक हाथी के लिये लड़े और हाथी के मर जाने पर वैराग्य पा कर इन्हों ने दीक्षा ली।—आव० पृ० ६७९/१ ।

२१. सुदर्शन श्रेष्ठी—यह परस्त्रीत्यागव्रत में अतिदृढ था। यहाँ तक कि इस व्रत के प्रभाव से उस के लिये शूली भी सिंहासन हो गई।

२२-२३. शाल-महाशाल—इन दोनों भाइयों में परस्पर बड़ी प्रीति थी। इन्हों ने अपने भानजे गागली को राज्य सौंप कर दीक्षा ली। फिर गागली को और गागली के माता-पिता को भी दीक्षा दिलाई।—आव० पृ० २८६।

२४ शालिभद्र—इस ने सुपात्र में दान देने के प्रभाव से अतुल सम्पत्ति पाई। और अन्त में उसे छोड़ कर भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली।

२५. भद्रबाहु—चरम चतुर्दश-पूर्व-धर और श्रीस्थूलभद्र के गुरु। ये निर्युक्तियों के कर्ता कहे जाते हैं।

२६. दशार्णभद्र—दशार्णपुर नगर का नरेश। इस ने इन्द्र की समृद्धि को देख अपनी सम्पत्ति का गर्व छोड़ कर दीक्षा ली।
—आव० नि० गा० ८४६ तथा पृ० ३५१/१।

२७ प्रसन्नचन्द्र—एक राजर्षि। इस ने क्षणमात्र में दुर्ध्यान से सातवें नरक-योग्य कर्म-दल को इकट्ठा किया और फिर क्षणमात्र मे ही उस को शुभ ध्यान से खपा कर मोक्ष पाया।
—आव० नि० गा० ११५०, पृ० ५२६।

२८. यशोभद्र सूरि—श्रीशय्यंभव सूरि के शिष्य और श्रीभद्रबाहु तथा वराहमिहिर के गुरु।

२६. जम्बूस्वामी—अखण्डित बाल-ब्रह्मचारी, अतुल-वैभव-त्यागी और भरत क्षेत्र मे इस युग के चरम केवली। इन को संबोधित करके सुधर्मास्वामी ने आगम गूँथे हैं।

३०. वङ्कचूल—राजपुत्र । इस ने लूट-खसोट का काम करते हुए भी लिये हुए नियमों—अज्ञातफल तथा कौएका मांस न खाना इत्यादि व्रतों—का दृढता-पूर्वक पालन किया ।

३१. गजसुकुमाल—कृष्ण-वासुदेव का परम-क्षमा-शील छोटा भाई । यह अपने ससुर सोमिल के द्वारा सिर पर जलते हुए अङ्गारे रक्खे जाने पर भी काउस्सग्ग ध्यान में स्थिर रहा और अन्त में अन्तकृत्केवली हुआ । —अन्तकृत् वर्ग ३, अध्ययन ८ ।

३२ अवन्तीसुकुमाल—श्रेष्ठि-भार्या सुभद्रा का पुत्र । इस ने 'नलिनीगुल्म-अध्ययन' सुन कर जातिस्मरण पाया; बत्तीस स्त्रियों को छोड़ कर सुहस्ति सूरि के पास दीक्षा ली और शृगालों के द्वारा सारा शरीर नोंच लिये जाने पर भी काउस्सग्ग खण्डित नहीं किया । —आव० पृ० $\frac{६७०}{१}$ ।

३३ धन्यकुमार—शालिभद्र का बहनोई । इस ने एक साथ आठों स्त्रियों का त्याग किया ।

३४. इलाचीपुत्र—इस ने श्रेष्ठि-पुत्र हो कर भी नटिनी के मोह से नट का पेशा सीखा और अन्त में नाच करते २ केवलज्ञान प्राप्त किया । —आव० पृ० $\frac{३५९}{२}$ ।

३५. चिलातीपुत्र—यह एक तपस्वी मुनि से 'उपशम, विवेक और संवर' ये तीन पद सुन कर उन की अर्थ-विचारणा में ऐसा तल्लीन हुआ कि चींटियों के द्वारा पूर्णतया सताये जाने पर भी शुभ ध्यान से चलित न हुआ और ढाई दिन-रात में स्वर्ग को प्राप्त हुआ । इस ने पहिले चौरपल्ली का नायक बन कर सुंसुमा नामक एक कन्या का हरण किया था और उस का सिर तक काट डाला था ।

—आव० नि० गा० ८७२-८७५, पृ० $\frac{३७०}{२}$-$\frac{३७१}{१}$ तथा ज्ञाता० अध्य० १८।

३६. युगबाहु मुनि—इन्हों ने पूर्व तथा वर्तमान जन्म में ज्ञान-पञ्चमी का आराधन कर के सिद्धि पाई ।

३७. आर्यमहागिरि —श्रीस्थूलभद्र के शिष्य। ये जिनकल्पी थे नहीं, तो भी जिनकल्प का आचार पालन करते थे।

—आव० नि० गा० १२८२, पृ० ६६८/१ ।

३८. आर्यरक्षित—तोसलिपुत्र सूरि के शिष्य। इन्हों ने श्रीवज्रस्वामी से नौ पूर्व पूर्ण पढ़े और आगमों को चार अनुयोगों में विभाजित किया। —आव० नि० गा० ७७५, पृ० २९६/१ ।

३९. आर्यसुहस्ति—श्रीस्थूलभद्र के शिष्य।

—आव० नि० गा० १२८३।

४०. उदायन—वीतभय नगर का नरेश। इस ने अपने भानजे केशी को राज्य दे कर दीक्षा ली और केशी के मन्त्रियों द्वारा अनेक बार विष-मिश्रित दही दिये जाने पर भी देव-सहायता से बच कर अन्त में उसी विष-मिश्रित दही से प्राण त्यागे।

—आव० नि० गा० ११८५।

४१. मनकपुत्र—श्रीशय्यंभव सूरि का पुत्र तथा शिष्य। इस के लिये श्रीशय्यंभव सूरि ने दशवैकालिक सूत्र का उद्धार किया। —दशवै० नि० गा० १४।

४२. कालिकाचार्य—ये तीन हुए। एक ने अपने हठी भानजे दत्त को सच २ बात कह कर उस की भूल दिखाई। दूसरे ने भादों शुक्ला चतुर्थी के दिन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करने की प्रथा शुरू की। तीसरे ने गर्दभिल्ल राजा को सख्त सजा दे कर उस के हाथ से परम-साध्वी अपनी बहिन को छुड़ाया और प्रायश्चित्त ग्रहण कर संयम का आराधन किया।

४३-४४. शाम्ब, प्रद्युम्न—इन में से पहिला श्रीकृष्ण की स्त्री जम्बूवती का धर्मप्रिय पुत्र और दूसरा रुक्मिणी का परम सुन्दर पुत्र। —अन्तकृत् वर्ग ४, अध्य० ६-७, पृ० ३/१ ।

४५. मूलदेव—एक राजपुत्र। यह पूर्वावस्था में तो बड़ा व्यसनी तथा नटखटी था, पर पीछे से सत्सङ्ग मिलने पर इस ने अपने चारित्र को सुधारा।

४६. प्रभवस्वामी—श्रीशय्यंभव सूरि के चतुर्दश-पूर्व-धारी गुरु। इन्हों ने चोरी का धन्धा छोड़ कर जम्बूस्वामी के पास दीक्षा ली थी।

४७. विष्णुकुमार—इस ने तपोबल से एक अपूर्व-लब्धि प्राप्त कर उस के द्वारा एक लाख योजन का शरीर बना कर नमूची राजा का अभिमान तोड़ा।

४८. आर्द्रकुमार—राजपुत्र। इस को अभयकुमार की भेजी हुई एक जिन-प्रतिमा को देखने से जातिस्मरण-ज्ञान हुआ। इस ने एक बार दीक्षा ले कर छोड़ दी और फिर दुबारा ली और गोशालक आदि से धर्म-चर्चा की।—सूत्रकृताङ्ग श्रुत० २, अध्य० ६।

४९. दृढप्रहारी—एक प्रसिद्ध चोर, जिस ने पहले तो किसी ब्राह्मण और उस की स्त्री आदि की घोर हत्या की लेकिन पीछे उस ब्राह्मणी के तड़फते हुए गर्भ को देख कर वैराग्यपूर्वक संयम लिया और घोर तप कर के केवलज्ञान प्राप्त किया।

—आव० नि० गा० ९५२, पृ० ४३८/१।

५०. श्रेयांस—श्रीबाहुबली का नाती। इस ने श्रीआदिनाथ को वार्षिक उपवास के बाद इक्षु-रस से पारणा कराया।

—आव० नि० गा० ३२९, पृ० १४५/१-१४६/२।

५१. कूरगडु मुनि—ये परम-क्षमा-धारी थे। यहाँ तक कि एक वार कफ के बीमार किसी साधु का थूक इन के आहार में पड़ गया पर इन्हों ने उस पर गुस्सा नहीं किया, उलटी उस की प्रशंसा और अपनी लघुता दिखलाई और अन्त में केवलज्ञान प्राप्त किया।

५२. शय्यंभव—प्रभवस्वामी के चतुर्दश-पूर्व-धारी पट्टधर शिष्य। ये जाति के ब्राह्मण और प्रकृति के सरल थे।
—दशवै० नि० गा० १४।

५३. मेघकुमार—श्रेणिक की रानी धारिणी का पुत्र; जिस ने कि हाथी के भव में एक खरगोश पर परम दया की थी। यह एक बार नव-दीक्षित अवस्था में सब से पीछे संथारा करने के कारण और बड़े साधुओं के आने-जाने आदि से उड़ती हुई रज के कारण संयम से ऊब गया लेकिन फिर इस ने भगवान् वीर के प्रतिबोध से स्थिर हो कर अनशन करके चारित्र की आराधना की। ज्ञाता अध्य० १।

सती-स्त्रियाँ।

१. सुलसा—भगवान् वीर की परम-श्राविका। इस ने अपने बत्तीस पुत्र एक साथ मर जाने पर भी आर्तध्यान नहीं किया और अपने पति नागसारथि को भी आर्तध्यान करने से रोक कर धर्म-प्रतिबोध दिया। —आव० पृ० ६७८।

२. चन्दनबाला—भगवान् वीर का दुष्कर अभिग्रह पूर्ण करने वाली एक राजकन्या और उन की सब साध्वियों में प्रधान-साध्वी। —आव० नि० गा० ५२०-५२१।

३. मनोरमा—सुदर्शन सेठ की पतिव्रता स्त्री।

४. मदनरेखा—इस ने अपने पति युगबाहु के बड़े भाई मणि-रथ के द्वारा अनेक लालच दिये जाने और अनेक संकट पड़ने पर भी पतिव्रता-धर्म अखण्डित रक्खा।

५. दमयन्ती—राजा नल की पत्नी और विदर्भ-नरेश भीम की पुत्री।

६. नर्मदासुन्दरी—महेश्वरदत्त की स्त्री और सहदेव की पुत्री। इस ने आर्यसुहस्ति सूरि के पास संयम ग्रहण किया और योग्यता प्राप्त कर प्रवर्तिनी-पद पाया।

७. सीता—श्रीरामचन्द्र की धर्म-पत्नी और जनक विदेह की पुत्री ।

८. नन्दा—अभयकुमार की माता । —अन्त० वर्ग ७, अध्य० १ ।

९. भद्रा—शालिभद्र की धर्म-परायण माता ।

१०. सुभद्रा—इस ने अपने ब्रह्मचर्य्य के प्रभाव से चलनी द्वारा कुए में से पानी निकाल कर लोगों को चकित किया ।

—दशवैकालिक नि० गा० ७३-७४ ।

११. राजीमती—भगवान् नेमिनाथ की बाल-ब्रह्मचारिणी मुख्य-साध्वी । इस ने अपने जेठ रथनेमि को चारित्र में स्थिर किया । —दशवै० अध्य० २, वृत्ति पृ० ९६ ।

१२. ऋषिदत्ता—कनकरथ नरेश की पतिव्रता स्त्री और हरिषेण तापस की पुत्री ।

१३. पद्मावती—दधिवाहन की स्त्री, चेडा महाराज की पुत्री और प्रत्येक-बुद्ध करकण्डु की माता ।—आव० पृ० ७१६-७१७ ।

१४. अञ्जनासुन्दरी—पवनञ्जय की स्त्री और हनुमान की माता ।

१५. श्रीदेवी—श्रीधर नरेश की पतिव्रता स्त्री ।

१६. ज्येष्ठा—त्रिशला-पुत्र नन्दिवर्धन की निश्चल-व्रत-धारिणी पत्नी और चेडा राजा की पुत्री । —आव० पृ० ६७६ ।

१७. सुज्येष्ठा—चेलणा की बहिन और बाल-ब्रह्मचारिणी परम-तपस्विनी साध्वी । —आव० पृ० ६७६-६७७ ।

१८. मृगावती—चन्दनबाला की शिष्या । इस ने आलोचना करते करते केवलज्ञान प्राप्त किया ।

—आव०नि० गा० १०४८, पृ० ४८४ । दश० नि० गा० ७६, पृ०४१ ।

१९. प्रभावती—उदायन राजर्षि की पट्टरानी और चेडा नरेश की पुत्री। —आव० पृ० ६७६।

२०. चेलणा—श्रेणिक की पट्टरानी, चेडा महाराज की पुत्री और भगवान् महावीर की परम-श्राविका।

—आव० पृ०६५ तथा ६७४-६७७।

२१. ब्राह्मी—भरत चक्रवर्ती की बहिन।

—आव० नि० गा० १९६ तथा पृ० $\frac{१५३}{१}$।

२२. सुन्दरी—बाहुबली की सहोदर बहिन। इस ने ६०००० वर्ष तक आयंबिल की कठोर तपस्या की थी।

—आव० नि० पृ० $\frac{१५३}{१}$।

२३. रुक्मिणी—यह एक सती स्त्री हुई, जो कृष्ण की स्त्री रुक्मिणी से भिन्न है।

२४. रेवती—भगवान् वीर की परम-श्राविका। इस ने भगवान् को भाव-पूर्वक कोला-पाक का दान दिया था। यह आगामी चौबीसी में सत्रहवाँ तीर्थंकर होगी। —भगवती शतक १५।

२५. कुन्ती—पाण्डवों की माता। —ज्ञाता अध्ययन १६।

२६. शिवा—चण्डप्रद्योतन नरेश की धर्म-पत्नी और चेडा महाराज की पुत्री। —आव० पृ० ६७६।

२७. जयन्ती—उदायन राजर्षि की बुआ (फूफी) और भगवान् वीर की विदुषी श्राविका। इस ने भगवान् से अनेक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न किये थे। —भगवती शतक १२, उद्देश २।

२८. देवकी—वसुदेव की पत्नी और श्रीकृष्ण की माता।

२९. द्रौपदी—पाण्डवों की स्त्री। —ज्ञाता अध्ययन १६।

३०. धारिणी—चन्दनबाला की माता। —आव० पृ० $\frac{२२३}{२}$।

३१. कलावती—राजा शङ्ख की पतिव्रता पत्नी। इस के दोनों हाथ काटे गये पर पीछे देव-सहायता से अच्छे हो गये थे।

३२. पुष्पचूला—अग्निकापुत्र-आचार्य की योग्य-शिष्या, जिस ने केवलज्ञान पा कर भी उन की सेवा की थी।

—आव० पृ० ६८८।

३३-४०. पद्मावती आदि आठ—श्रीकृष्ण वासुदेव की पतिव्रता स्त्रियाँ। —अन्तकृत् वर्ग-५।

४१-४७ यक्षा आदि सात-तीव्र स्मरण-शक्ति वाली श्रीस्थूल-भद्र की बहिनें। —आव० पृ० ६९३।

४७—मन्नह जिणाणं सज्झाय।

* मन्नह जिणाणमाणं, मिच्छं परिहरह धरह सम्मत्तं।
छव्विह-आवस्सयम्मि, उज्जुत्तो[1] होइ पइदिवसं ॥१॥

अन्वयार्थः—'जिणाणम्' तीर्थङ्करों की 'आणं' आज्ञा को 'मन्नह' मानो, 'मिच्छं' मिथ्यात्व को 'परिहरह' त्यागो, 'सम्मत्तं' सम्यक्त्व को 'धरह' धारण करो [तथा] 'पइदिवसं' हर दिन 'छव्विह-आवस्सयम्मि' छह प्रकार के आवश्यक में 'उज्जुत्तो' सावधान 'होइ' हो जाओ ॥१॥

---

* मन्यध्वं जिनानामाज्ञां, मिथ्यात्वं परिहरत धरत सम्यक्त्वम्।
षड्विधावश्यके, उद्युक्तो भवति प्रतिदिवसम् ॥१॥

१—'उज्जुत्ता होह' ऐसा पाठ हो तो विशेष संगत होगा।

* पव्वेसु पोसहवयं, दाणं सीलं तवो अ भावो अ ।
सज्झाय नमुक्कारो, परोवयारो अ जयणा अ ॥२॥
जिणपूआ जिणथुणणं, गुरुथुअ साहम्मिआण वच्छल्लं ।
ववहारस्स य सुद्धी, रहजत्ता तित्थजत्ता य ॥३॥
उवसमाविवेगसंवर, भासासमिई छजीवकरुणा य ।
धम्मिअजणसंसग्गो, करणदमो चरणपरिणामो ॥४॥
संघोवरि बहुमाणो, पुत्थयलिहणं पभावणा तित्थे ।
सड्ढाण किच्चमेअं, निच्चं सुगुरूवएसेणं ॥५॥

अन्वयार्थः—'पव्वेसु' पर्वों में 'पोसहवयं' पौषधव्रत, 'दाणं' दान, 'सीलं' शील—ब्रह्मचर्य, 'तवो' तप, 'भावो' भाव, 'सज्झाय' स्वाध्याय—पठन-पाठन, 'नमुक्कारो' नमस्कार, 'परोवयारो' परोपकार, 'जयणा' यतना, 'जिणपूआ' जिन-पूजा, 'जिणथुणणं' जिन-स्तुति, 'गुरुथुअ' गुरु-स्तुति, 'साहम्मिआण वच्छल्लं' साधर्मिकों से वात्सल्य—प्रेम, 'ववहारस्स सुद्धी' व्यवहार की शुद्धि, 'रहजत्ता' रथ-यात्रा, 'तित्थजत्ता' तीर्थ-यात्रा, 'उवसम' उपशम—क्षमा

---

* पर्वसु पौषधव्रतं, दानं शीलं तपश्च भावश्च ।
स्वाध्यायो नमस्कारः, परोपकारश्च यतना च ॥२॥
जिनपूजा जिनस्तवनं, गुरुस्तवः साधर्मिकाणां वात्सल्यम् ।
व्यवहारस्य च शुद्धी, रथयात्रा तीर्थयात्रा च ॥३॥
उपशमविवेकसंवरा, भाषासमितिः षड्जीवकरुणा च ।
धार्मिकजनसंसर्गः, करणदमश्चरणपरिणामः ॥४॥
संघोपरिबहुमानः, पुस्तकलेखनं प्रभावना तीर्थे ।
श्राद्धानां कृत्यमेतद्, नित्यं सुगुरूपदेशेन ॥५॥

'विवेग' विवेक—सच-झूँठ की पहिचान, 'संवर' कर्म-बन्ध को रोकना, 'भासासमिई' भाषा-समिति, 'छजीवकरुणा' छह प्रकार के जीवों पर करुणा, 'धम्मिअजणसंसग्गो' धार्मिक जन का सङ्ग, 'करणदमो' इन्द्रियों का दमन, 'चरणपरिणामो' चारित्र का परिणाम, 'संघोवरि बहुमाणो' संघ के ऊपर बहुमान, 'पुत्थयलिहणं' पुस्तक लिखना-लिखाना, 'य' और 'पभावणा तित्थे' तीर्थ— शासन की प्रभावना, 'एअं' यह सब 'सड्ढाण' श्रावकों को 'निच्चं' रोज 'सुगुरूवएसेणं' सुगुरु के उपदेश से 'किच्चं' करना चाहिये ॥२—५॥

भावार्थ—तीर्थङ्कर की आज्ञा को मानना चाहिये; मिथ्यात्व को त्यागना चाहिये; सम्यक्त्व को धारण करना चाहिये और नित्यप्रति सामायिक आदि छह प्रकार का आवश्यक करने में उद्यम करना चाहिये ॥१॥

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में पौषधव्रत लेना, सुपात्र-दान देना, ब्रह्मचर्य पालना, तप करना, शुद्ध भाव रखना, स्वाध्याय करना, नमस्कार मन्त्र जपना, परोपकार करना, यतना— उपयोग रखना, जिनेश्वर की स्तुति तथा पूजा करना, गुरु की स्तुति करना, समय पर मदद दे कर साधर्मिक भाइयों की भक्ति करना, सब तरह के व्यवहार को शुद्ध रखना, रथ-यात्रा निकालना, तीर्थ-यात्रा करना, उपशम, विवेक, तथा संवर धारण करना, बोलने में विवेक रखना, पृथिवीकाय आदि छहों प्रकार के जीवों पर दया रखना, धार्मिक मनुष्य का सङ्ग करना, इन्द्रियों

को जीतना, चारित्र लेने का भाव रखना, पुस्तकें लिखना-लिखाना और शासन की सच्ची महत्ता प्रकट कर उसका प्रभाव फैलाना, ये सब श्रावक के कर्तव्य हैं। इस लिये इन्हें सद्गुरु के उपदेशानुसार जानना तथा करना चाहिये ॥२-५॥

४८—तीर्थ-वन्दना ।

सकल तीर्थ वंदू कर जोड़, जिनवरनामे मंगल कोड़ ।
पहले स्वर्गे लाख बत्रीश, जिनवर चैत्य नमुं निशदिश ॥१॥
बीजे लाख अट्ठाविश कह्यां, त्रीजे बार लाख सद्दह्यां ।
चौथे स्वर्गे अड लख धार, पांचमे वंदु लाख ज चार ॥२॥
छठे स्वर्गे सहस पचास, सातमे चालिश सहस प्रासाद ।
आठमें स्वर्गे छः हजार, नव दशमे वंदु शत चार ॥३॥
अग्यार वारमें त्रणसें सार, नवग्रैवेके त्रणसें अढार ।
पांच अनुत्तर सर्व मली, लाख चोराशी अधिकां वली ॥४॥
सहस सत्ताणु त्रेविस सार, जिनवर भवन तणो अधिकार ।
लांबां सो जोजन विस्तार, पचास उच्चां बोहोंतेर धार ॥५॥
एक सो एशी बिंबपरिमाण, सभासहित एक चैत्ये जाण ।
सो कोड बावन कोड संभाल, लाख चोराणु सहस चोंआल ।६।
सातसें उपर साठ विशाल, सवि बिंब प्रणमुं त्रण काल ।
सात कोडने बोहोंतर लाख, भवनपतिमां देवल भाख ॥७॥
एक सो एशी बिंब प्रमाण, एक एक चैत्ये संख्या जाण ।
तेरसें कोड नेव्याशी कोड, सांठ लाख वंदुं कर जोड़ ॥८॥

बत्रीशेंने ओगणसाठ, तिर्छा लोकमां चैत्यनो पाठ ।
त्रण लाख एकाणु हजार, त्रणशें वीश ते बिंब जुहार ॥९॥
व्यन्तर ज्योतिषमां वली जेह, शाश्वता जिन वंदूं तेह ।
ऋषभ चन्द्रानन वारिषेण, वर्द्धमान नामे गुणसेण ॥१०॥
समेत शिखर वंदूं जिन वीश, अष्टापद वंदूं चोवीश ।
विमलाचलने गढ़ गिरनार, आबु उपर जिनवर जुहार ॥११॥
शङ्खेश्वर केसरियो सार, तारंगे श्रीअजित जुहार ।
अंतरिख वरकाणो पास, जीरावलो ने थंभण पास ॥१२॥
गाम नगर पुर पाटण जेह, जिनवर चैत्य नमुं गुणगेह ।
विहरमान वंदूं जिन वीश, सिद्ध अनंत नमुं निशादिश ॥१३॥
अढीद्वीपमां जे अणगार, अढार सहस सिलांगना धार ।
पञ्च महाव्रत समिती सार, पाले पलावे पञ्चाचार ॥१४॥
बाह्य अभिंतर तप उजमाल, ते मुनि वंदूं गुणमणिमाल ।
नित नित उठी कीर्त्ति करूं, 'जीव' कहे भवसायर तरूं ॥१५॥

सारांश—प्रतिक्रमण करने वाला हाथ जोड़ कर तीर्थ-वन्दना करता है । पहले वह शाश्वत बिम्बों को और पीछे वर्त-मान कुछ तीर्थ, विहरमाण जिन और सिद्ध तथा साधु को नमन करता है ।

शाश्वत बिम्ब—ऊर्ध्व-लोक में—बारह देव-लोक, नवग्रै-वेयक और पाँच अनुत्तर विमान में—८४९७०२३ जिन-भवन हैं । बारह देव-लोक तक में ८४९६७०० जिन-भवन हैं । प्रत्येक

देव-लोक के जिन-भवन की संख्या मूल में स्पष्ट है। बारह देव-लोक के प्रत्येक जिन-चैत्य में एक सौ अस्सी-एक सौ अस्सी जिन-बिम्ब हैं। नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान के ३२३ में से प्रत्येक जिन-चैत्य में एक सौ बीस-एक सौ बीस जिन-बिम्ब हैं। ऊर्ध्व-लोक के जिन-बिम्ब सब मिला कर १५२९४४४७६० होते हैं। अधोलोक में भवन-पति के निवास-स्थान में ७७२००००० जिन-मन्दिर हैं। प्रत्येक मन्दिर में एक सौ अस्सी-एक सौ अस्सी जिन-प्रतिमायें हैं। सब मिला कर प्रतिमायें १३८९६०००००० लाख होती हैं। तिरछे लोक में—मनुष्य-लोक में ३२५९ शाश्वत जिन-मन्दिर हैं। इन में ६० चार २ द्वार वाले हैं और शेष ३१९९ तीन २ द्वार वाले हैं। चार द्वार वाले प्रत्येक मन्दिर में एक सौ चौबीस-एक सौ चौबीस और तीन द्वार वाले प्रत्येक में एक सौ बीस-एक सौ बीस जिन-बिम्ब हैं; सब मिला कर ३९१३२० जिन-बिम्ब होते हैं। शाश्वत-चैत्य लम्बाई में १०० योजन, चौड़ाई में ५० योजन और ऊँचाई में ७२ योजन हैं। इस के सिवाय व्यन्तर और ज्योतिष् लोक में भी शाश्वत-बिम्ब हैं। शाश्वत-बिम्ब के नाम श्रीऋषभ, चन्द्रानन, वारिषेण और वर्द्धमान हैं[1]।

१—प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी में भरत, ऐरवत या महाविदेह—सब क्षेत्रों के तीर्थङ्करों में 'ऋषभ' आदि चार नाम वाले तीर्थङ्कर अवश्य होते हैं। इस कारण ये नाम प्रवाहरूप से शाश्वत हैं।

वर्तमान कुछ तीर्थ—सम्मेतशिखर, अष्टापद, सिद्धाचल, गिरिनार, आबू, शङ्खेश्वर, केसरिया जी, तारंगा, अन्तरिक्ष, वरकाण, जीरावला, खंभात ये सब तीर्थ भरत क्षेत्र के हैं। इन के सिवाय और भी जो जो चैत्य हैं वे सभी वन्दनीय हैं।

महाविदेह क्षेत्र में इस समय बीस तीर्थङ्कर वर्तमान हैं; सिद्ध अनन्त हैं; ढाई द्वीप में अनेक अनगार हैं; ये सभी वन्दनीय हैं।

४९—पोसहं पच्चक्खाण सूत्र ।

† करेमि भंते ! पोसहं, आहार-पोसहं देसओ सव्वओ, सरीरसक्कार-पोसहं सव्वओ, बंभचेर-पोसहं सव्वओ,

---

१—श्रावक का ग्यारहवाँ व्रत पौषध कहलाता है। सो इस लिये कि उस से धर्म की पुष्टि होती है। यह व्रत अष्टमी चतुर्दशी आदि तिथियों में चार प्रहर या आठ प्रहर तक लिया जाता है। इस के आहार, शरीर-सत्कार, ब्रह्मचर्य और अव्यापार, ये चार भेद हैं। [आवश्यक पृ० ८३५]। इन के देश और सर्व इस तरह दो दो भेद करने से आठ भेद होते है। परन्तु परम्परा के अनुसार इस समय मात्र आहार-पौषध देश से या सर्व से लिया जाता है; शेष पौषध सर्व से ही लिये जाते हैं। चउव्विहाहार उपवास करना सर्व-आहार-पौषध है; तिविहाहार, आयंबिल, एकासण आदि देश-आहार-पौषध है।

केवल रात्रि-पौषध करना हो तो भी दिन रहते ही चउव्विहाहार आदि किसी व्रत को करने की प्रथा है।

† करोमि भदन्त ! पौषधं, आहार-पौषधं देशतः सर्वतः, शरीरसत्कार-पौषधं सर्वतः, ब्रह्मचर्य-पौषधं सर्वतः, अव्यापार-पौषधं सर्वतः, चतुर्विधे

अव्वावार-पोसहं सव्वओ, चउव्विहे पोसहे ठामि । जावदिवसं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए कायेणं न करेमि, न कारवेमि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥१॥

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं पौषधव्रत करता हूँ । पहले आहारत्यागरूप पौषध को देश से या सर्वथा, दूसरे शरीर-शुश्रूषा-त्यागरूप पौषध को सर्वथा, तीसरे ब्रह्मचर्य-पालनरूप पौषध को सर्वथा और चौथे सावद्य व्यापार के त्यागरूप पौषध को सर्वथा, इस प्रकार चारों पौषध को मैं ग्रहण करता हूँ ।

ग्रहण किये हुए पौषध को मैं दिन-पर्यन्त या दिन-रात्रि-पर्यन्त दो करण और तीन योग से पालन करूँगा अर्थात् मन, वचन और काया से पौषधव्रत में सावद्य व्यापार को न स्वयं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा ।

हे भगवन् ! पहले मैं ने जो पाप-सेवन किया, उस का प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, उस की गर्हा करता हूँ और ऐसे पाप-व्यापार से आत्मा को हटा लेता हूँ ।

पौषधे तिष्ठामि । यावद्दिवसं पर्युपासे द्विविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि, निन्दामि, गर्हे, आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१॥

२—सिर्फ दिन का पौषध करना हो तो 'जावदिवसं', दिन-रात का करना हो तो 'जाव अहोरत्तं', और सिर्फ रातका करना हो तो 'जाव सेसदिवसं अहोरत्तं' कहना चाहिये ।

५०—पोसह पारने का सूत्र ।

† सागरचंदो कामो, चंदवडिंसो सुदंसणो धन्नो ।
जेसिं पोसहपडिमा, अखंडिआ जीविअंतेवि ॥१॥
धन्ना सलाहणिज्जा, सुलसा आणंदकामदेवा य ।
जास पसंसइ भयवं, दढव्वयत्तं महावीरो ॥२॥

पौषधव्रत विधि से लिया और विधि से पूर्ण किया । तथापि कोई अविधि हुई हो तो मन, वचन और काय से मिच्छा मि दुक्कडं ।

भावार्थ—'सागरचन्द्र कुमार', 'कामदेव', 'चन्द्रावतंस' नरेश और 'सुदर्शन' श्रेष्ठी, ये सब धन्य हैं; क्यों कि इन्हों ने मरणान्त कष्ट सह कर भी पौषधव्रत को अखण्डित रक्खा ॥१॥

'सुलसा' श्राविका, 'आनन्द' और 'कामदेव' श्रावक, ये सब प्रशंसा के योग्य हैं; जिन के दृढ-व्रत की प्रशंसा भगवान् महावीर ने भी मुक्त-कण्ठ से की है ॥२॥

---

† सागरचन्द्रः कामश्चन्द्रावतंसः सुदर्शनो धन्यः ।
येषां पौषध प्रतिमाऽखण्डिता जीवितान्तेऽपि ॥१॥
धन्याः श्लाघनीयाः, सुलसाऽऽनन्दकामदेवौ च ।
येषां प्रशंसति भगवान्, दृढव्रतत्वं महावीरः ॥२॥

५१—पच्चक्खाणं सूत्र ।

दिन के पच्चक्खाण ।

[(१) नमुक्कार सहिअ मुट्ठिसहिय पच्चक्खाण ।]

† उग्गए सूरे, नमुक्कारसहिअं मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाइ, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

---

† उद्गते सूर्ये, नमस्कारसहितं मुष्टिसहितं प्रत्याख्याति चतुर्विधमप्याहराम् अशनं, पानं, खादिमं, स्वादिमम्, अन्यत्रानाभोगेन, सहसाकारेण, महत्तराकारेण, सर्वसमाधिप्रत्ययाकारेण, व्युत्सृजति ।

१—पच्चक्खाण के मुख्य दो भेद हैं:–(१) मूलगुण-पच्चक्खाण और (२) उत्तरगुण-पच्चक्खाण। इन दो के भी दो दो भेद हैं:—(क) सर्व-मूलगुण-पच्चक्खाण और देश-मूलगुण-पच्चक्खाण । (ख) सर्व-उत्तरगुण-पच्चक्खाण और देश-उत्तरगुण-पच्चक्खाण। साधुओं के महाव्रत सर्व-मूलगुण-पच्चक्खाण और गृहस्थो के अणुवृत देश-मूलगुण-पच्चक्खाण हैं। देश-उत्तरगुण-पच्चक्खाण तीन गुणवृत और चार शिक्षावृत है जो श्रावकों के लिये हैं । सर्व-उत्तर-गुण-पच्चक्खाण 'अनागत्' आदि दश प्रकार का है जो साधु-श्रावक उभय के लिये है । वे दस भेद ये हैं:—

१. अनागत–पर्युषणा आदि पर्व में किया जाने वाला अट्ठम आदि तप उस पर्व से पहले ही कर लेना जिस से कि पर्व में ग्लान, वृद्ध, गुरु आदि की सेवा निर्बाध की जा सके ।
२. अतिक्रान्त—पर्व में वैयावृत्य आदि के कारण तपस्या न हो सके तो पीछे से करना ।
३. कोटिसहित—उपवास आदि पच्चक्खाण् पूर्ण होने के बाद फिर से वैसा ही पच्चक्खाण करना ।

४. नियन्त्रित—जिस रोज़ जिस पच्चक्खाण के करने का संकल्प कर लिया गया हो उस रोज़, रोग आदि अड़चनें आने पर भी वह संकल्पित पच्चक्खाण कर लेना। यह पच्चक्खाण चतुर्दश-पूर्वधर जिनकल्पी और दश-पूर्वधर मुनि के लिये है; इस लिये इस समय विच्छिन्न है।

५. साकार—आगारपूर्वक—छूट रख कर-किया जाने वाला पच्चक्खाण।

६. अनाकार—छूट रक्खे विना किया जाने वाला पच्चक्खाण।

७. परिमाणकृत—दत्ती, कवल या गृह की संख्या का नियम करना।

८. निरवशेष—चतुर्विध आहार तथा अफीम, तबॉखू आदि अनाहार वस्तुओं का पच्चक्खाण।

९. सांकेतिक—संकेत-पूर्वक किया जाने वाला पच्चक्खाण। मुट्ठी में अँगूठा रखना, मुट्ठी बॉधना, गॉठ बॉधना, इत्यादि कई संकेत हैं। सांकेतिक पच्चक्खाण पोरिसी आदि के साथ भी किया जाता है और अलग भी। पोरिसी आदि के साथ इस अभिप्राय से किया जाता है कि पोरिसी आदि पूर्ण होने के बाद भोजन-सामग्री तैयार न हो या कार्य-वश भोजन करने में विलम्ब हो तो संकेत के अनुसार पच्चक्खाण चलता रहे। इसी से पोरिसी आदि के पच्चक्खाण में मुट्ठिसहिय इत्यादि कहा जाता है। पोरिसी आदि पच्चक्खाण न होने पर भी सांकेतिक पच्चक्खाण किया जाता है। इस का उद्देश्य सिर्फ सुगमता से विरति का अभ्यास डालना है।

१०. अद्धा पच्च०—समय की मर्यादा वाले, नमुक्कार-सहिअ—पोरिसी इत्यादि पच्चक्खाण।

—[आ० निर्यु० गा० १५६३-१५७९; भगवती शतक ७, उद्देश २, सूत्र २७२]

इस जगह साढ पोरिसी, अवड्ढ, और बियासण के पच्चक्खाण दिये गये हैं। ये आवश्यकनिर्युक्ति गा० १५९७ में कहे हुए दस पच्चक्खाण में नहीं है। वे दस पच्च० ये हैः—

१. नमुक्कारसहिय, २. पोरिसी, ३. पुरिमड्ढ, ४. एकासण, ५. एकलठान, ६. आयंबिल, ७. अभत्तट्ठ (उपवास), ८. चरिम, ९. अभिग्रह और १०. विगइ। तो भी यह जानना चाहिये कि साढ पोरिसी पच्चक्खाण

भावार्थ—सूरज उगने के समय से ले कर दो घड़ी दिन निकल आने पर्यन्त चारों आहारों का नमुक्कारसहिय मुट्ठि-सहिय पच्चक्खाण किया जाता है अर्थात् नमुक्कार गिन कर मुट्ठी खोलने का संकेत कर के चार प्रकारका आहार त्याग दिया जाता है। वे चार आहार ये हैं:— (१) अशन—रोटी आदि भोजन, (२) पान—दूध पानी आदि पीने योग्य चीजें, (३) खादिम—फल मेवा आदि और (४) स्वादिम—सुपारी, लवङ्ग आदि मुखवास। इन आहारों का त्याग चार आगारों (छूटों) को रख कर किया जाता है। वे चार आगार ये हैं:— (१) अनाभोग—बिल्कुल याद भूल जाना। (२) सहसाकार-

---

पोरिसी का सजातीय होने से उस के आधार पर प्रचलित हुआ है। इसी तरह अवड्ढ पुरिमड्ढ के आधार पर और बियासण एकासण के आधार पर प्रचलित है। [धर्मसंग्रह पृ० १९१]। चउव्विहाहार और तिविहाहार दोनो प्रकार के उपवास अभत्तट्ठ हैं। सायंकाल के पाणहार, चउव्विहाहार, तिविहाहार और दुविहाहार, ये चारों पच्चक्खाण चरिम कहलाते हैं।

देसावगासिय पच्चक्खाण उक्त दस पच्चक्खाणों के बाहर है। वह सामायिक और पौषध के पच्चक्खाण की तरह स्वतन्त्र है। देसावगासिय व्रत वाला इस पच्चक्खाण को अन्य पच्चक्खाणों के साथ सुबह-शाम ग्रहण करता है।

२—दूसरों को पच्चक्खाण कराना हो तो 'पच्चक्खाइ' और 'वोसिरइ' और स्वयं करना हो तो 'पच्चक्खामि' और 'वोसिरामि' कहना चाहिए।

१—रात्रि-भोजन आदि दोष-निवारणार्थ नमुक्कारसहिअ पच्चक्खाण है। इस की काल-मर्यादा दो घड़ी की मानी हुई है। यद्यपि मूल-पाठ में दो घड़ी का बोधक कोई शब्द नहीं है तथापि परंपरा से इस का काल-मान कम से कम दो घड़ी का लिया जाता है। [धर्मसंग्रह पृ० १६५]।

मेघ वरसने या दही मथने आदि के समय रोकने पर भी जल, छाँछ आदि त्याग की हुई वस्तुओं का मुख में चला जाना। (३) महत्तराकार—विशेष निर्जरा आदि खास कारण से गुरु की आज्ञा पा कर निश्चय किये हुये समय के पहले ही पच्चक्खाण पार लैना । (४) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार—तीव्र रोग की उपशान्ति के लिये औषध आदि ग्रहण करने के निमित्त निर्धारित समय के पहले ही पच्चक्खाण पार लैना ।

आगार का मतलब यह है कि यदि उस समय त्याग की हुई वस्तु सेवन की जाय तो भी पच्चक्खाण का भङ्ग नहीं होता ।

[(२)—पोरिसी-साढपोरिसी-पच्चक्खाण ।]

† उग्गए सूरे, नमुक्कारसहिअं, पोरिसिं[1], साढपोरिसिं, मुट्ठिसहिअं, पच्चक्खाइ । उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—सूर्योदय से ले कर एक प्रहर या डेढ़ प्रहर तक चारों आहारों का नमुक्कारसहिअ पच्चक्खाण किया जाता है। यह पच्चक्खाण सात आगारों को रख कर किया जाता । (१) अनाभोग। (२) सहसाकार। (३) प्रच्छन्नकाल—मेघ, रज, ग्रहण आदि

† पौरुषीम् । सार्धपौरुषीम् । प्रच्छन्नकालेन । दिग्मोहेन । साधुवचनेन ।

1—पेरिसी के पच्चक्खाण मे ' साढपोरिसिं ' पद और साढपोरिसी के पच्चक्खाण में 'पेरिसिं' पद नहीं बोलना चाहिए ।

के द्वारा सूर्य ढक जाने से पोरिसी या साढपोरिसी का समय मालूम न होना। (४) दिग्मोह—दिशा का भ्रम होने से पोरिसी या साढपोरिसी का समय ठीक ठीक न जानना। (५) साधुवचन—साधु के 'उग्घाडा पोरिसी' शब्द को जो कि व्याख्यान में पोरिसी पढ़ाते वक्त बोला जाता है, सुन कर अधूरे समय में ही पच्चक्खाण को पार लेना। (६) महत्तराकार। (७) सर्व-समाधिप्रत्ययाकार।

[(३)—पुरिमड्ढ-अवड्ढ-पच्चक्खाण।]

‡ सूरे उग्गए, पुरिमड्ढं[1], अवड्ढं, मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाइ; चउव्विहंपि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

भावार्थ—सूर्योदय से ले कर पूर्वार्ध—दो प्रहर—तक पच्चक्खाण करना पुरिमड्ढ है और तीन प्रहर तक पच्चक्खाण करना अवड्ढ है। इस के सात आगार हैं और वे पोरिसी के पच्चक्खाण के समान हैं।

[(४)—एगासण, बियासण तथा एकलठाने[2] का पच्चक्खाण।]

---

‡ पूर्वार्धम्। अपरार्धम्।

१—अवड्ढ के पच्चक्खाण में 'पुरिमड्ढं' पद और पुरिमड्ढ के पच्चक्खाण में 'अवड्ढं' पद नहीं बोलना चाहिए।

२—एकलठाने के पच्चक्खाण मे 'आउंटणपसारणेणं' को छोड़ कर और सब पाठ एगासण के पच्चक्खाण का ही बोलना चाहिए। एकलठाने में मुँह और दाहिने हाथ के सिवा अन्य किसी अङ्ग को नहीं हिलाना चाहिए और जीम कर उसी जगह चउव्विहाहार कर लेना चाहिए।

१ उग्गए सूरे, नमुक्कारसहिअं, पोरिसिं, साढपोरिसिं, मुट्ठि-सहिअं, पच्चक्खाइ। उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्न-कालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं। विगईओ[1] पच्चक्खाइ; अन्नत्थणा-भोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं[2], गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्त-विवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरा-गारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं। बियासणं[3] पच्चक्खाइ; तिविहंपि[4] आहारं—असणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं,

---

1. विकृतीः । लेपालेपेन । गृहस्थसंसृष्टेन । उत्क्षिप्तविवेकेन । प्रतीत्य म्रक्षितेन । पारिष्ठापनिकाकारेण । द्व्यशनम् । त्रिविधमपि । सागारिकाकारेण । आकुञ्चनप्रसारणेन । गुर्वभ्युत्थानेन । पानस्य लेपेन वा । अलेपेन वा । अच्छेन वा । बहुलेपेन वा । ससिक्थेन वा । असिक्थेन वा ।

१—विकार पैदा करने वाली वस्तुओं को 'विकृति' कहते हैं। विकृति भक्ष्य और अभक्ष्य दो प्रकार की है। दूध, दही, घी, तेल, गुण और पक्वान्न, ये छह भक्ष्य-विकृतियाँ हैं। मांस, मद्य, मधु और मक्खन ये चार अभक्ष्य-विकृतियाँ हैं। अभक्ष्य का तो श्रावक को सर्वथा त्याग होता ही है; भक्ष्य-विकृति भी एक या एक से अधिक यथाशक्ति इस पच्चक्खाण के द्वारा त्याग दी जाती है।

२—'लेवालेवेणं' से ले कर पाँच आगार मुनि के लिये है, गृहस्थ के लिये नहीं।

३—एगासण के पच्चक्खाण में 'बियासणं' की जगह पर 'एगासणं' पाठ पढ़ना चाहिए।

४—तिविहाहार में जीमने के बाद सिर्फ पानी लिया जा सकता है, इस लिये 'पाणं' नहीं कहना चाहिए। यदि दुविहाहार करना हो तो 'दुविहंपि

सहसागारेणं, सागारिआगारेणं, आउंटणपसारणेणं, गुरु-अब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं[1], महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं, पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा[3], अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरइ ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में नमुक्कारसहिअ, पोरिसी आदि का पच्चक्खाण किया जाता है; इस लिये इस में सात आगार भी पोरिसी के ही है । एगासण-बियासण में विगइ का पच्च-क्खाण करने वाले के लिये 'विगइओ' इत्यादि पाठ है । विगइ पच्चक्खाण में नौ आगार हैं:—

(१) अनाभोग । (२) सहसाकार । (३) लेपालेप—घृत आदि लगे हुए हाथ, कुडछी आदि को पोंछ कर उस से दिया

आहारं' कह कर पच्चक्खाण करना चाहिए। दुविहाहार में जीमने के बाद पानी तथा मुखवास लिया जाता हैं, इस लिये इस मे 'पाणं' तथा 'साइमं' नहीं बोला जायगा। यदि चउव्विहाहार करना हो तो 'चउव्विहंपि आहारं' कहना चाहिए। इस में जीमने के बाद चारों आहारों का त्याग किया जाता है; इस लिये इस में 'असणं, पाणं' आदि सब कहना चाहिए ।

१—यह आगार एकासण, बियासण, आयंबिल, विगइ, उपवास, आदि पच्चक्खाण के लिये साधारण हैं। इस लिये चउव्विहाहार उपवास के समय गुरु की आज्ञा से मात्र अचित्त जल, तिविहाहार उपवास मे अन्न और पानी और आयंबिल में विगइ, अन्न और पानी लिये जाते हैं ।

२—'पाणस्स लेवेण वा' आदि छह आगार एकासण करने वाले को चउव्विहाहार और तिविहाहार के पच्चक्खाण में और दुविहाहार में अचित्त भोजन और अचित्त पानी के लेने वाले को ही पढ़ने चाहिए ।

३—'लेवाडेण वा अलेवाडेण वा', इत्यपि पाठः ।

हुआ आहार ग्रहण करना। (४) गृहस्थसंसृष्ट—घी, तेल आदि से छौंके हुए शाक-दाल आदि लेना या गृहस्थ ने अपने लिये जिस पर घी आदि लगाया हो ऐसी रोटी आदि को लेना। (५) उत्क्षिप्तविवेक—ऊपर रक्खे हुए गुड़ शक्कर आदि को उठा लेने पर उन का कुछ अंश जिस में लगा रह गया हो ऐसी रोटी आदि को लेना। (६) प्रतीत्यम्रक्षित-भोजन बनाते समय जिन चीजों पर सिर्फ उँगली से घी तेल आदि लगाया गया हो ऐसी चीजों को लेना। (७)पारिष्ठापनिकाकार—अधिक हो जाने के कारण जिस आहार को परठवना पड़ता हो तो परठवन के दोष से बचने के लिये उस आहार को गुरु की आज्ञा से ग्रहण कर लेना। (८) महत्तराकार। (९) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार।

बियासण में चौदह आगार हैः—(१) अनाभोग। (२) सहसाकार। (३) सागारिकाकार—जिन के देखने से आहार करने की शास्त्र में मनाही है, उन के उपस्थित हो जाने पर स्थान बदल कर दूसरी जगह चले जाना। (४) आकुञ्चनप्रसारण—सुन्न पड़ जाने आदि कारण से हाथ-पैर आदि अङ्गों का सिकोड़ना या फैलाना। (५) गुर्वभ्युत्थान—किसी पाहुने मुनि के या गुरु के आने पर विनय-सत्कार के लिये उठ जाना। (६) पारिष्ठापनिकाकार। (७) महत्तराकार। (८) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। (९) पानलेप—दाल आदि का माँड़ तथा इमली, द्राक्षा आदि का पानी। (१०) अलेप—साबूदाने आदि का धोवन तथा छाँछ का निथरा हुआ पानी। (११) अच्छ—

तीन बार औटा हुआ स्वच्छ पानी। (१२) बहुलेप—चावल आदि का चिकना माँण। (१३) ससिक्थ—आटे आदि से लिप्त हाथ या बरतन का धोवन। (१४) असिक्थ—आटा लगे हुए हाथ या बरतन का कपड़े से छना हुआ धोवन।

[(५)—आयंबिल-पच्चक्खाण[1]।]

† उग्गए सूरे, नमुक्कारसहिअं, पोरिसिं, साढपोरिसिं, मुट्ठिसहिअं पच्चक्खाइ। उग्गए सूरे, चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं। आयंबिलं पच्चक्खाइ; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं। एगासणं पच्चक्खाइ; तिविहंपि आहारं-असणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, आउंटणपसारणेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं,

---

१—इस व्रत में प्राय. नीरस आहार लिया जाता है। चावल, उड़द, या सत्तू आदि से इस व्रत को किये जाने का शास्त्र में उल्लेख है। इस का दूसरा नाम 'गोण्ण' मिलता है। [आव० नि०, गा० १६०३]।

† आचामाम्लम्।

२—आयंबिल मे एगासण की तरह दुविहाहार का पच्चक्खाण नहीं किया जाता; इस लिये इस में 'तिविहंपि आहारं' या 'चउव्विहंपि आहारं' पाठ बोलना चाहिए।

पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरइ ।

भावार्थ—आयंबिल में पोरिसी या साढपोरिसी तक सात आगारपूर्वक चारों आहारों का त्याग किया जाता है; इस लिये इस के शुरू में पोरिसी या साढपोरिसी का पच्चक्खाण है। पीछे आयंबिल करने का पच्चक्खाण आठ आगार-सहित है । आयंबिल में एक दफा जीमने के बाद पानी के सिवाय तीनों आहारों का त्याग किया जाता है; इस लिये इस में चौदह आगारसहित तिविहाहार एगासण का भी पच्चक्खाण है ।

[(६)—तिविहाहार-उपवास-पच्चक्खाण ।]

* सूरे उग्गए, अब्भत्तट्ठं[1] पच्चक्खाइ । तिविहंपि आहारं—असणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिव-

---

* अभुक्तार्थम् । पानाहारम् ।

१—उपवास के पहले तथा पिछले रोज एकासण हो तो 'चउत्थभत्तं-अब्भत्तट्ठं', दो उपवास के पच्चक्खाण मे 'छट्ठभत्तं', तीन उपवास के पच्चक्खाण में 'अट्ठमभत्तं' पढ़ना चाहिए । इस प्रकार उपवास की संख्या को दूना कर के उस मे दो और मिलाने से जो संख्या आवे उतने 'भत्तं' कहना चाहिए । जैसेः—चार उपवास के पच्चक्खाण में 'दसमभत्तं' और पाँच उपवास के पच्चक्खाण में 'बारहभत्तं' इत्यादि ।

त्तियागारेणं। पाणहार पोरिसिं, साढपोरिसिं, मुट्ठिसहिअं, पच्चक्खाइ; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, पाणस्स लेवेण वा, अलेवेण वा, अच्छेण वा, बहुलेवेण वा, ससित्थेण वा, असित्थेण वा वोसिरइ।

भावार्थ—सूर्योदय से ले कर दूसरे रोज के सूर्योदय तक तिविहाहार अभक्तार्थ—उपवास—का पच्चक्खाण किया जाता है। इस में पाँच आगार रख कर पानी के सिवाय तीन आहारों का त्याग किया जाता है। पानी भी पोरिसी या साढपोरिसी तक तेरह आगार रख कर छोड़ दिया जाता है; इसी लिये 'पाणहार पोरिसिं' इत्यादि पाठ है।

[(७)—चउव्विहाहार-उपवास-पच्चक्खाण[1]।]

सूरे उग्गए, अब्भत्तट्ठं पच्चक्खाइ। चउव्विहंपि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में सूर्योदय से ले कर दूसरे

१—जो शुरू से चउव्विहाहार उपवास करता है, उस के लिये तथा दिन में तिविहाहार का पच्चक्खाण कर के जिस ने पानी न पिया हो, उस के लिये भी यह पच्चक्खाण है। शुरू से चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' बोलना और सायंकाल से चउव्विहाहार उपवास करना हो तो 'पारिट्ठावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।

रोज के सूर्योदय तक पाँच आगार रख कर चारों आहारों का त्याग किया जाता है ।

रात के पच्चक्खाण ।

[(१)—पाणहार-पच्चक्खाण[1]।]

पाणहार दिवसचरिमं पच्चक्खाइ; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—यह पच्चक्खाण दिन के शेष भाग से ले कर संपूर्ण रात्रि-पर्यन्त पानी का त्याग करने के लिये है ।

[(२)—चउव्विहाहार-पच्चक्खाण[2]।]

दिवसचरिमं[3] पच्चक्खाइ, चउव्विहंपि आहारं—असणं पाणं, खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में दिन के शेष भाग से संपूर्ण रात्रि-पर्यन्त चारों आहारों का त्याग किया जाता है ।

[(३)—तिविहाहार-पच्चक्खाण[4]।]

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ, तिविहंपि आहारं—असणं,

१—यह पच्चक्खाण एकासण, बियासण, आयंबिल और तिविहाहार उपवास करने वाले को सायंकाल में लेने का है ।

२—दिन में एगासण आदि पच्चक्खाण न करने वाले और रात्रि में चारों आहारों का त्याग करने वाले के लिये यह पच्चक्खाण है ।

३—अल्प आयु बाकी हो और चारों आहारों का त्याग करना हो तो 'दिवसचरिमं' की जगह 'भवचरिमं' पढ़ा जाता है ।

४—इस पच्चक्खाण का अधिकारी वह है जिस ने एगासण, बियासण आदि व्रत नहीं किया हो ।

खाइमं, साइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरा-गारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ--इस पच्चक्खाण में दिन के शेष भाग से ले कर संपूर्ण रात्रि-पर्यन्त पानी को छोड़ तीन आहार का त्याग किया जाता है।

[(४)—दुविहाहार-पच्चक्खाण[1] ।]

दिवसचरिमं पच्चक्खाइ, दुविहंपि आहारं—असणं, खाइमं; अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—इस पच्चक्खाण में दिन के शेष भाग से ले कर संपूर्ण रात्रि-पर्यन्त पानी और मुखवास को छोड़ कर शेष दो आहारों का त्याग किया जाता है ।

[(५)—देसावगासिय-पच्चक्खाण ।]

देसावगासियं उवभोगं[2] परिभोगं पच्चक्खाइ; अन्नत्थ-णाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तिया-गारेणं वोसिरइ ।

भावार्थ—सातवें व्रत में भोगोपभोग की चीज़ों का जितना परिमाण प्रातःकाल में रक्खा है अर्थात् सचित्त द्रव्य,

---

१—एगासण आदि नहीं करने वाला व्यक्ति इस को करने का अधिकारी है।

२—सातवें व्रत का संकोच करने के अभिप्राय से 'उवभोगं परिभोगं' शब्द हैं। केवल छठे व्रत का संकोच करने वाले को ये शब्द नहीं पढ़ने चाहिए। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अणुव्रत आदि सब व्रतों का संक्षेप भी इसी पच्चक्खाण द्वारा किया जाता है। [धर्मसंग्रह पृ० ६७ ।]

विगइ आदि जो चौदह नियम लिये हैं, इस पच्चक्खाण से सायं-काल में उस का संक्षेप किया जाता है ।

५२—संथारा पोरिसी ।

† निसीहि, निसीहि, निसीहि, नमो खमासमणाणं गोयमाइणं महामुणीणं ।

[इस के बाद नमुक्कार-पूर्वक 'करेमि भंते' सूत्र तीन बार पढ़ना चाहिये] ।

भावार्थ—[नमस्कार ।] पाप-व्यापार के बार बार निषेधपूर्वक श्रीगौतम आदि क्षमाश्रमण महामुनिओं को नमस्कार हो ।

* अणुजाणह जिट्ठिज्जा !

अणुजाणह परमगुरु !; गुरुगुणरयणेहिँ मंडियसरीरा ।
बहुपडिपुन्ना पोरिसि, राइयसंथारए ठामि ॥१॥

भावार्थ—[संथारा के लिये आज्ञा ।] हे श्रेष्ठ गुणों से अलङ्कृत परम गुरु ! आप मुझ को संथारा (शयन) करने की

---

† निषिध्य, निषिध्य, निषिध्य, नमः क्षमाश्रमणेभ्यः गौतमादिभ्यो महामुनिभ्यः ।

* अनुजानीत ज्येष्ठार्याः !

अनुजानीत परमगुरवः !, गुरुगणरत्नैर्मण्डितशरीराः ।
बहुप्रतिपूर्णा पौरुषी, रात्रिके संस्तारके तिष्ठामि ॥१॥

आज्ञा दीजिये; क्यों कि एक प्रहर परिपूर्ण बीत चुका है। इस लिये मैं रात्रि-संथारा करना चाहता हूँ ॥१॥

* अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेणं।
कुक्कुडिपायपसारण, अतरंत पमज्जए भूमिं ॥२॥
संकोइअ संडासा, उव्वट्टंते अ कायपडिलेहा।
दव्वाईउवओगं, ऊसासनिरुंभणालोए ॥३॥

भावार्थ—[संथारा करने की विधि।] मुझ को संथारा की आज्ञा दीजिये। संथारे की आज्ञा देते हुए गुरु उस की विधि का उपदेश देते हैं। मुनि बाहु को सिराने रख कर बाँये करवट सोवे और वह मुर्गी की तरह ऊँचे पाँव रख कर सोने में असमर्थ हो तो भूमि का प्रमार्जन कर उस पर पाँव रखे। घुटनों को सिकोड कर सोवे। करवट बदलते समय शरीर को पडिलेहण करे। जागने के निमित्त द्रव्यादि से आत्मा का चिन्तन करे; इतने पर

* अनुजानीत संस्तारं, बाहूपधानेन वामपार्श्वेन।
कुक्कुटीपादप्रसारणेऽशक्नुवन् प्रमार्जयेत् भूमिम् ॥२॥
संकोच्य संदंशावुद्वर्तमानश्च कायं प्रतिलिखेत्।
द्रव्याद्युपयोगेनोच्छ्वासनिरोधेन आलोकं (कुर्यात्) ॥३॥

१—मैं वस्तुतः कौन और कैसा हूँ ? इस प्रश्न को सोचना द्रव्य-चिन्तन; तत्त्वतः मेरा क्षेत्र कौनसा है ? इस का विचारना क्षेत्र-चिन्तन; मैं प्रमादरूप रात्रि में सोया पड़ा हूँ या अप्रमत्तभावरूप दिन में वर्तमान हूँ ? इस का विचार करना काल-चिन्तन और मुझे इस समय लघु-शङ्का आदि द्रव्य-बाधा और राग-द्वेष आदि भाव-बाधा कितनी है, यह विचारना भाव-चिन्तन है।

भी यदि पूरे तौर से निद्रा दूर न हो तो श्वास को रोक कर उसे दूर करे और द्वार का अवलोकन करे (दरवाजे की ओर देखे) ॥२॥३॥

* जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए ।
आहारमुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥ ४ ॥

भावार्थ—[नियम ।] यदि इस रात्रि में मेरी मृत्यु हो तो अभी से आहार, उपधि और देह का मन, वचन और काय से मेरे लिये त्याग है ॥४॥

‡ चत्तारि मंगलं—अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ॥५॥

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ॥६॥

चत्तारि सरणं पवज्जामि—अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ॥७॥

---

* यदि मे भवेत्प्रमादोऽस्य देहस्यास्यां रजन्याम् ।
आहारमुपधिदेहं, सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृष्टम् ॥४॥

‡ चत्वारि मङ्गलानि—अर्हन्तो मङ्गलं, सिद्धा मङ्गलं, साधवो मङ्गलं, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो मङ्गलम् ॥५॥

चत्वारो लोकोत्तमाः—अर्हन्तो लोकोत्तमाः, सिद्धा लोकोत्तमाः, साधवो लोकोत्तमाः, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः ॥६॥

चत्वारि शरणानि प्रपद्ये—अर्हतः शरणं प्रपद्ये, सिद्धान् शरणं प्रपद्ये, साधून् शरणं प्रपद्ये, केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये ॥७॥

भावार्थ—[प्रतिज्ञा।] मङ्गलभूत वस्तुएँ चार ही हैं:—(१) अरिहन्त, (२) सिद्ध, (३) साधु और (४) केवलि-कथित धर्म। लोक में उत्तम वस्तुएँ भी वे चार ही हैं:—(१) अरिहन्त, (२) सिद्ध, (३) साधु और केवलि-कथित धर्म। इस लिये मैं उन चारों की शरण अङ्गीकार करता हूँ ॥५-७॥

* पाणाइवायमलिअं, चोरिक्कं मेहुणं दविणमुच्छं।
कोहं माणं मायं, लोहं पिज्जं तहा दोसं ॥८॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ-अरइ-समाउत्तं।
परपरिवायं माया,–मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥९॥
वोसिरसु इमाइं मु,–क्खमग्गसंसग्गविग्घभूआइं।
दुग्गइनिबंधणाइं, अट्ठारस पावठाणाइं ॥१०॥

भावार्थ—[पापस्थान-त्याग।] हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान—मिथ्यादोषारोप, पैशुन्य, रति-अरति, परपरिवाद, माया-मृषावाद, मिथ्यात्वशल्य, ये अठारह पापस्थान मोक्ष की राह पाने में विघ्नरूप हैं। इतना ही नहीं, बल्कि दुर्गति के कारण हैं; इस लिये ये सभी त्याज्य हैं ॥८-१०॥

---

* प्राणातिपातमलीकं, चौर्यं मैथुनं द्रविणमूर्छाम्।
क्रोधं मानं मायां, लोभं प्रेयं तथा द्वेषम् ॥८॥
कलहमभ्याख्यानं, पैशुन्यं रत्यरति-समायुक्तम्।
परपरिवादं मायामृषा मिथ्यात्वशल्यं च ॥९॥
व्युत्सृजेमानि मोक्षमार्गसंसर्गविघ्नभूतानि।
दुर्गतिनिबन्धनान्यष्टादश पापस्थानानि ॥१०॥

* एगोऽहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवं अदीणमणसो, अप्पाणमणुसासइ ॥११॥
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥१२॥
संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥१३॥

भावार्थ—[एकत्व और अनित्यत्व भावना ।] मुनि प्रसन्न चित्त से अपने आत्मा को समझाता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ । ज्ञान-दर्शन पूर्ण मेरा आत्मा ही शाश्वत है; आत्मा को छोड़ कर अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं । मैं ने परसंयोग से ही अनेक दुःख प्राप्त किये हैं; इस लिये उस का सर्वथा त्याग किया है ॥११-१३॥

† अरिहंतो मम देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपन्नत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिअं ॥१४॥

भावार्थ—[सम्यक्त्व-धारण ।] मैं इस प्रकार का सम्यक्त्व

---

* एकोऽहं नास्ति मे कश्चित् , नाहमन्यस्य कस्यचित् ।
एवमदीनमना, आत्मानमनुशास्ति ॥११॥
एको मे शाश्वत आत्मा, ज्ञानदर्शनसंयुतः ।
शेषा मे बाह्या भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १२ ॥
संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात् संयोगसंबन्धः, सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृष्टः ॥१३॥

† अर्हन् मम देवो, यावज्जीवं सुसाधवो गुरवः ।
जिनप्रज्ञप्तं तत्त्वमिति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥१४॥

अङ्गीकार करता हूँ कि जिस में जीवन-पर्यन्त अरिहन्त ही मेरे देव हैं, सुसाधु ही मेरे गुरु हैं और केवलि-कथित मार्ग ही मेरे लिये तत्त्व है ॥१४॥

* खमिअ खमाविअ मइ खमह, सव्वह जीवनिकाय।
सिद्धह साख आलोयणह, मुज्झह वइर न भाव ॥१५॥
सव्वे जीवा कम्मवस, चउदहराज भमंत।
ते मे सव्व खमाविआ, मुज्झवि तेह खमंत ॥१६॥

भावार्थ—[खमण-खामणा।] हे जीवगण! तुम सब खमण-खामणा कर के मुझ पर भी क्षमा करो। किसी से मेरा वैर भाव नहीं है। सब सिद्धों को साक्षी रख कर यह आलोचना की जाती है। सभी जीव कर्म-वश चौदह-राजु-प्रमाण लोक में भ्रमण करते हैं, उन सब को मैं ने खमाया है, इस लिये वे मेरे पर क्षमा करें ॥१५॥१६॥

† जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाएण भासिअं पावं।
जं जं कायेण कयं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥१७॥

भावार्थ—[मिच्छा मि दुक्कडं।] जो जो पाप मैं ने मन, बचन और शरीर से किया, वह सब मेरे लिये मिथ्या हो ॥१७॥

---

* क्षमित्वा क्षमयित्वा मयि क्षमध्वं, सर्वे जीवनिकायाः।
सिद्धानां साक्ष्यमालोचयामि, मम वैरं न भावः ॥ १५ ॥
सर्वे जीवाः कर्मवशाश्चतुर्दश रज्जौ भ्राम्यन्तः।
ते मया सर्वे क्षामिताः, मय्यपि ते क्षाम्यन्तु ॥ १६ ॥

† यद् यद् मनसा बद्धं, यद् यद् वाचा भाषितं पापम्।
यद् यत् कायेन कृतं, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ॥ १७ ॥

५३—स्नातस्या की स्तुति ।

स्नातस्याप्रतिमस्य मेरुशिखरे शच्या विभोः शैशवे,
रूपालोकनविस्मयाहृतरसभ्रान्त्या भ्रमच्चक्षुषा ।
उन्मृष्टं नयनप्रभाधवलितं क्षीरोदकाशङ्कया,
वक्त्रं यस्य पुनः पुनः स जयति श्रीवर्द्धमानो जिनः ॥१॥

भावार्थ—[महावीर की स्तुति ।] भगवान् महावीर की सब जगह जय हो रही है । भगवान् इतने अधिक सुन्दर थे कि बाल्यावस्था में मेरु पर्वत पर स्नान हो चुकेन के बाद इन्द्राणी को उन का रूप देख कर अचरज हुआ । अचरज से वह भक्ति-रस में गोता लगाने लगी और उस के नेत्र चञ्चल हो उठे । भगवान् के मुख पर फैली हुई नेत्र की प्रभा इतनी स्वच्छ व धवल थी जिसे देख इन्द्राणी को यह आशङ्का हुई कि स्नान कराते समय मुख पर क्षीर समुद्र का पानी तो कहीं बाकी नहीं रह गया है । इस आशङ्का से उस ने भगवान् के मुख को कपड़े से पोंछा और अन्त में अपनी आशङ्का को मिथ्या समझ कर मुख के सहज सौन्दर्य को पहचान लिया ॥१॥

हंसांसाहतपद्मरेणुकपिशक्षीरार्णवाम्भोभृतैः,
कुम्भैरप्सरसां पयोधरभरप्रस्पर्द्धिभिः काञ्चनैः ।
येषां मन्दररत्नशैलशिखरे जन्माभिषेकः कृतः,
सर्वैः सर्वसुरासुरेश्वरगणैस्तेषां नतोऽहं क्रमान् ॥२॥

भावार्थ—[जिनेश्वरों की स्तुति ।] मैं जिनेश्वरों के चरणों में नमा हुआ हूँ । जिनेश्वर इतने प्रभावशाली थे कि उन का

जन्माभिषेक सभी देवेन्द्रों और दानवेन्द्रों ने सुमेरु पर्वत के शिखर पर किया था। जन्माभिषेक के लिये कलशों में भर कर जो पानी लाया गया था, वह था यद्यपि क्षीर समुद्र का, अत एव दूध की तरह श्वेत, परन्तु उस में हंसों के परों से उड़ाई गई कमल-रज इतनी अधिक थी कि जिस से वह सहज-श्वेत जल भी पीला हो गया था। पानी ही पीला था, यह बात नहीं किन्तु पानी से भरे हुए कलशे भी स्वर्णमय होने के कारण पीले ही थे। इस प्रकार पीले पानी से भरे हुए स्वर्णमय कलशों की शोभा अनोखी थी अर्थात् वे कलशे अप्सराओं के स्तनों को भी मात करते थे ॥२॥

अर्हद्वक्त्रप्रसूतं गणधररचितं द्वादशाङ्गं विशालं,
चित्रं बह्वर्थयुक्तं मुनिगणवृषभैर्धारितं बुद्धिमद्भिः।
मोक्षाग्रद्वारभूतं व्रतचरणफलं ज्ञेयभावप्रदीपं,
भक्त्या नित्यं प्रपद्ये श्रुतमहमखिलं सर्वलोकैकसारम् ॥३॥

भावार्थ—[आगम-स्तुति।] मैं समस्त श्रुत--आगम का भक्ति-पूर्वक आश्रय लेता हूँ; क्यों कि वह तीर्थङ्करों से अर्थ-रूप में प्रकट हो कर गणधरों के द्वारा शब्दरूप में ग्रथित हुआ है। वह श्रुत विशाल है अत एव बारह अङ्गों में विभक्त है। वह अनेक अर्थों से युक्त होने के कारण अद्भुत है, अत एव उस को बुद्धिमान् मुनिपुङ्गवों ने धारण कर रक्खा है। वह चारित्र

का कारण है, इस लिये मोक्ष का प्रधान साधन है। वह सब पदार्थों को प्रदीप के समान प्रकाशित करता है, अत एव वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अद्वितीय सारभूत है ॥३॥

निष्पङ्कव्योमनीलद्युतिमलसदृशं वालचन्द्राभदंष्ट्रं,
मत्तं घण्टारवेण प्रसृतमदजलं पूरयन्तं समन्तात्।
आरूढो दिव्यनागं विचरति गगने कामदः कामरूपी,
यक्षः सर्वानुभूतिः दिशतु मम सदा सर्वकार्येषु सिद्धिम् ॥४॥

भावार्थ—[यक्ष की स्तुति।] सर्वानुभूति नाम का यक्ष मुझ को सब कामों में सदा सिद्धि देवे। यह यक्ष अपनी इच्छा के अनुसार अपने रूप बनाता है, भक्तों की अभिलाषाओं को पूर्ण करता है और दिव्य हाथी पर सवार हो कर गगन-मण्डल में विचरण करता है। उस दिव्य हाथी की कान्ति स्वच्छ आकाश के समान नीली है; उस के मदपूर्ण नेत्र कुछ मुँदे हुये हैं और उस के दाँत की आकृति द्वितीया के चन्द्र के समान है। वह हाथी घण्टा के नाद से उन्मत्त है और झरते हुए मद-जल को चारों ओर फैलाने वाला है ॥४॥

विधियाँ।

सामायिक लेने की विधि।[1]

श्रावक-श्राविका सामायिक लेने से पहिले शुद्ध वस्त्र पहन कर चौकी (बाजोठ) आदि उच्च स्थान पर पुस्तक-जप-माला आदि रख कर, जमीन पूँज कर, आसन बिछा कर चरवला-मुहपत्ति[2] ले कर बैठे। बैठ के बाँये हाथ में मुहपत्ति मुख के आगे रख कर दाहिने हाथ को स्थापन किये पुस्तक आदि के संमुख कर के तीन 'नमुक्कार' पढ़ कर 'पंचिंदियसंवरणो[3]' पढ़े

१—विधि के उद्देश्य; जो आप नियमित बनना चाहता है और दूसरों को भी नियम-बद्ध बनाना चाहता है, उस के लिये आवश्यक है कि वह आज्ञा-पालन के गुण को पूरे तौर से प्राप्त करे। क्यों कि जिस में पूज्यों की आज्ञा को पालन करने का गुण नहीं है वह न तो अन्य किसी तरह का गुण ही प्राप्त कर सकता है और न नियमित बन कर औरों को अपने अधिकार में ही रख सकता है। इस लिये प्रत्येक विधि का मुख्य उद्देश्य संक्षेप में इतना ही है कि आज्ञा का पालन करना; तो भी उस के गौण उद्देश्य आगे टिप्पणी में यथास्थान लिख दिये गये हैं।

२—मुहपत्ति एक एक बालिश्त और चार चार अङ्गुल की लम्बी-चौड़ी तथा चरवला बत्तीस अङ्गुल का जिस में चौबीस अङ्गुल की डाँडी और आठ अङ्गुल की दशी हो, लेना चाहिये।

३—स्थापना-विधि में पुस्तक आदि के संमुख हाथ रख कर नमुक्कार तथा पंचिंदिय सूत्र पढ़े जाते हैं। इस का मतलब इतना ही है कि इन सूत्रों के परमेष्ठी और गुरु के गुण याद कर के 'आह्वान-मुद्रा' के द्वारा उन का आह्वान किया जाता है। नमुक्कार के द्वारा पञ्च परमेष्ठी की और पंचिंदिय के

[यदि स्थापनाचार्य हो तो इस के पढ़ने की जरूरत नहीं है।] पीछे 'इच्छामि खमा०, इरियावहियं[3], तस्स उत्तरी[4], अन्नत्थ ऊससि'-

---

द्वारा गुरु की, इस प्रकार दो स्थापनाएँ की जाती हैं। पहली स्थापना का आलम्बन, देववन्दन आदि क्रियाओं के समय और दूसरी स्थापना का आलम्बन, कायोत्सर्ग आदि अन्य क्रियाओ के समय लिया जाता है।

१—जो क्रियाएँ बड़ों के संमुख की जाती हैं वे मर्यादा व स्थिरभावपूर्वक हो सकती हैं; इसी लिये सामायिक आदि क्रियाएँ गुरु के सामने ही की जाती हैं। गुरु के अभाव में स्थापनाचार्य के संमुख भी ये क्रियाएँ की जाती हैं। जैसे तीर्थङ्कर के अभाव में उन की प्रतिमा आदि आलम्बनभूत है, वैसे ही गुरु के अभाव में स्थापनाचार्य भी। गुरु के संमुख जिस मर्यादा और भाव-भक्ति से क्रियाएँ की जाती हैं, उसी मर्यादा व भाव-भक्ति को गुरुस्थानीय स्थापनाचार्य के संमुख बनाये रखना, यह समझ तथा दृढ़ता की पूरी कसौटी है। स्थापनाचार्य के अभाव में पुस्तक, जपमाला आदि जो ज्ञान-ध्यान के उपकरण हैं, उन की भी स्थापना की जाती है।

२—खमासमण देने का उद्देश्य, गुरु के प्रति अपना विनय-भाव प्रकट करना है, जो सब तरह से उचित ही है।

३—'इरियावहियं' पढ़ने के पहले उस का आदेश माँगा जाता है। आदेश माँगना क्या है, एक विनय का प्रगट करना है। और विनय धर्म का मूल है।

प्रत्येक धार्मिक-प्रवृत्ति की सफलता के लिये भाव-शुद्धि जरूरी है और वह किये हुए पापों का पछितावा किये विना हो नहीं सकती। इसी लिये 'इरियावहियं' से पाप की आलोचना की जाती है।

४—इस सूत्र के द्वारा काउस्सग्ग का उद्देश्य बतलाया जाता है।

५—जो शारीरिक क्रियाएँ स्वाभाविक हैं अर्थात् जिन का रोकना संभव नहीं या जिन के रोकने से शान्ति के बदले अशान्ति के होने की अधिक संभावना है उन क्रियाओं के द्वारा काउस्सग्ग भङ्ग न होने का भाव इस सूत्र से प्रकट किया जाता है।

एणं' कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग[1] करे। काउस्सग्ग पूरा होने पर 'नमो अरिहंताणं' कह कर उसे पार के प्रकट (खुला) 'लोगस्स' पढ़े। पीछे 'इच्छामि खमा०' दे कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् सामायिकमुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' इस प्रकार कह कर पचास[3] बोल

१—हर जगह काउस्सग्ग के करने का यही मतलब है कि दोषों की आलोचना या महात्माओं के गुण-चिन्तन द्वारा धीरे धीरे समाधि का अभ्यास डाला जाय, ताकि परिणाम-शुद्धि द्वारा सभी क्रियाएँ सफल हों।

एक 'लोगस्स' के काउस्सग्ग का कालमान पच्चीस श्वासोच्छ्वास का माना गया है। [आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० ७८७]। इस लिये 'चंदेसु निम्मलयरा' तक वह किया जाता है; क्यों कि इतने ही पाठ में मध्यम गति से पच्चीस श्वासोच्छ्वास पूरे हो जाते हैं।

२- इस का उद्देश्य देववन्दन करना है, जो सामायिक लेने के पहले आवश्यक है। यही संक्षिप्त देववन्दन है।

३—सूत्र अर्थकरी सद्दहुं १

सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय परिहरुं ३

काम-राग, स्नेह-राग, दृष्टि-राग परिहरुं ... ३

सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदरुं ३

कुदेव, कुगुरु, कुधर्म परिहरुं ३

ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदरुं ३

ज्ञान विराधना, दर्शन-विराधना और चारित्र-विराधना परिहरुं ३

मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति, काय-गुप्ति आदरुं ... ३

मन-दण्ड, वचन-दण्ड, काय-दण्ड परिहरुं ... ३

हास्य, रति, अरति परिहरुं ३

भय, शोक, दुगुञ्छा परिहरुं ३

कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या, कापोत-लेश्या परिहरुं ... ३

सहित मुहपत्ति की पडिलेहणा करे । फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् सामायिक संदिसाहुं[2] ? इच्छं' कहे । फिर 'इच्छामि खमा०, इच्छा०, सामायिक ठाउं ? इच्छं' कह के

ऋद्धि-गारव, रस-गारव, साता-गारव परिहरुं ...	३
माया-शल्य, नियाण-शल्य, मिच्छादंसण-शल्य परिहरुं	३
क्रोध, मान, परिहरुं	२
माया, लोभ परिहरुं	२
पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय की रक्षा करुं ...	३
वायु-काय, वनस्पति-काय, त्रस-काय की यतना करुं...	३
	कुल ५०

१—पडिलेहण के वक्त पचास बोल कहे जाने का मतलब, कषाय आदि अशुद्ध परिणाम को त्यागना और समभाव आदि शुद्ध परिणाम में रहना है । वक्त बोल पढ़ने के समय मुहपत्ति-पडिलेहण का एक उद्देश्य तो मुहपत्ति को मुँह के पास ले जाने और रखने में उस पर थूक, कफ आदि गिर पड़ा हो तो मुहपत्ति फैला कर उसे सुखा देना या निकाल देना है । जिस से कि उस में संमूर्च्छिम जीव पैदा न हों । दूसरा उद्देश्य, असावधानी के कारण जो सूक्ष्म जन्तु मुहपत्ति पर चढ़ गये हों उन्हें यत्नपूर्वक अलग कर देना है, जिस से कि वे पञ्चाङ्ग-नमस्कार आदि के समय दब कर मर न जायँ । इसी प्रकार पडिले-हण का यह भी एक गौण उद्देश्य है कि प्राथमिक अभ्यासी ऐसी ऐसी स्थूल क्रियाओं में मन लगा कर अपने मन को दुनियाँदारी के बखेड़ों से खींच लेने का अभ्यास डाले ।

२—"सामायिक संदिसाहुं" कह कर सामायिक व्रत लेने की इच्छा प्रकट कर के उस पर अनुमति माँगी जाती है और "सामायिके ठाउं" कह कर सामायिक व्रत ग्रहण करने की अनुमति माँगी जाती है । प्रत्येक क्रिया में प्रवृत्ति करने से पहले बार बार आदेश लेने का मतलब सिर्फ आज्ञा-पालन गुण का अभ्यास डालना और स्वच्छन्दता का अभ्यास छोड़ना है ।

खड़ा हो कर दोनों हाथ जोड़ कर एक नवकार पढ़ कर 'इच्छा-कारि भगवन् पसायकरी सामायिक-दण्ड उच्चरावो जी' कहे। पीछे 'करेमि भंते' उच्चेर या उच्चरवावे। फिर 'इच्छामि खमा०, इच्छा० बेसणे संदिसाहुं'[1] ? इच्छं फिर 'इच्छामि खमा० इच्छा० बेसणे ठाउं ? इच्छं' फिर 'इच्छामि खमा०, इच्छा० सज्झाय संदिसाहुं[2] ? इच्छं' फिर 'इच्छामि खमा०, इच्छा० सज्झाय करूं इच्छं।' पीछे तीन नवकार पढ़ कर कम से कम दो घड़ी-पर्यन्त धर्मध्यान, स्वाध्याय आदि करे।

सामायिक पारने की विधि।

खमासमण दे कर इरियावहियं से एक लोगस्स पढ़ने तक की क्रिया सामायिक लेने की तरह करे। पीछे 'इच्छामि खमा०, मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे। बाद 'इच्छा-

---

१—"बेसणे संदिसाहुं" कह कर बैठने की इच्छा प्रकट की जाती है और उस पर अनुमति माँगी जाती है। "बेसणे ठाउं" कह कर आसन ग्रहण करने की अनुमति माँगी जाती है।

आसन ग्रहण करने का उद्देश्य स्थिर आसन जमाना है, कि जिस से निरा-कुलता-पूर्वक सज्झाय, ध्यान आदि किया जा सके।

२— "सज्झाय संदिसाहुं" कह कर सज्झाय की चाह प्रगट कर के इस पर अनुमति माँगी जाती है और "सज्झाये ठाउं" कह कर सज्झाय में प्रवृत्त होने की अनुमति माँगी जाती है।

स्वाध्याय ही सामायिक व्रत का प्राण है। क्यों कि इस के द्वारा ही सम-भाव पैदा किया जा सकता और रखा जा सकता है तथा सहज सुख के अक्षय निधान की झाँकी और उस के पाने के मार्ग, स्वाध्याय के द्वारा ही मालूम किये जा सकते हैं।

मि खमा०, इच्छा०, सामायिअं पारेमि, यथाशक्ति[1]"। फिर "इच्छामि खमा०, इच्छा०, सामायिअं पारिअं, तहत्ति" इस प्रकार कह कर दाहिने हाथ को चरवले पर या आसन पर रखे और मस्तक झुका कर एक नवकार मन्त्र पढ़ के "सामायिअ वयजुत्तो" सूत्र पढ़े। पीछे दाहिने हाथ को सीधा स्थापनाचार्य[2] की तरफ कर के एक नवकार पढ़े।

दैवसिक-प्रतिक्रमण की विधि।

प्रथम सामायिक लेवे। पीछे मुहपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त्त-वन्दन—सुगुरु-वन्दन करे; पश्चात् यथाशक्ति पच्चक्खाण करे। [तिविहाहार उपवास हो तो मुहपत्ति का पडिलेहण करना, द्वादशावर्त्त-वन्दन नहीं करना। चउव्विहाहार उपवास हो तो पडिलेहण या द्वादशावर्त-वन्दन कुछ भी नहीं करना।] पीछे 'इच्छामि खमा०, इच्छा०, चैत्य-वन्दन करूं? इच्छं' कह कर चैत्य-वन्दन[3] करे।

१—यदि गुरु महाराज के समक्ष यह विधि की जाय तो 'पुणोवि कायव्वं' इतना गुरु के कहने के बाद 'यथाशक्ति' और दूसरे आदेश में 'आयारो न मोत्तव्वो' इतना कहे बाद 'तहत्ति' कहना चाहिए।

२—यदि स्थापनाचार्य, माला, पुस्तक वगैरह से नये स्थापन किये हों तो इस की जरूरत है, अन्यथा नहीं।

३—इस के द्वारा वीतराग देव को नमस्कार किया जाता है जो परम मङ्गलरूप है। इस कारण प्रतिक्रमण जैसी भावपूर्ण क्रिया से पहले चित्त-शुद्धि के लिये चैत्यवन्दन करना अति-आवश्यक है। संपूर्ण चैत्यवन्दन में बारह अधिकार हैं। वे इस प्रकारः—

'नमुत्थुणं' से 'जिय भयाणं' तक पहला अधिकार है। 'जे अइया०' गाथा दूसरा अधिकार है। इस से भावी और भूत तीर्थङ्करों को वन्दना

पीछे "जं किंचि" और "नमुत्थुणं" कह कर खड़े हो कर "अरिहंत चेइआणं, अन्नत्थ ऊससिएणं" कह कर एक नवकार का काउस्सग्ग करे। कायोत्सर्ग पार के "नमोऽर्हत्०" पूर्वक प्रथम थुइ कहे। बाद प्रगट लोगस्स कह के "सव्वलोए, अरिहंत चेइयाणं, अन्नत्थ" कहे। एक नवकार का कायोत्सर्ग पार कर दूसरी थुइ कहे। फिर "पुक्खरवरदी" कह कर "सुअस्स भगवओ, करेमि काउस्सग्गं, वंदणवत्तिआए, अन्नत्थ" कहने के बाद एक नवकार का कायोत्सर्ग करे। फिर उसे पार के तीसरी थुइ कह कर "सिद्धाणं बुद्धाणं, वेयावच्चगराणं, अन्नत्थ ऊससिएणं" का पाठ कह कर एक नवकार का कायोत्सर्ग पार के "नमोऽर्हत्-

---

की जाती है, इस लिये यह द्रव्य-अरिहन्तों का वन्दन है। 'अरिहंत-चेइयाणं०' तीसरा अधिकार है। इस के द्वारा स्थापना-जिन को वन्दन किया जाता है। 'लोगस्स' चौथा अधिकार है। यह नाम-जिन की स्तुति है। 'सव्वलोए०' पाँचवाँ अधिकार है। इस से सब स्थापना-जिनों को वन्दना की जाती है। 'पुक्खरवर' सूत्र की पहली गाथा छठा अधिकार है। इस का उद्देश्य वर्तमान तीर्थङ्करो को नमस्कार करना है। तम-तिमिर०' से ले कर 'सिद्धे भो पयओ०' तक तीन गाथाओं का सातवाँ अधिकार है, जो श्रुतज्ञान की स्तुति-रूप है। 'सिद्धाणं बुद्धाणं' इस आठवें अधिकार के द्वारा सब सिद्धों को नमस्कार किया जाता है, 'जो देवाण०' इत्यादि दो गाथाओं का नववाँ अधिकार है। इस का उद्देश्य वर्तमान तीर्थाधिपति भगवान् महावीर को वन्दन करना है। 'उर्ज्जित' इस दसवें अधिकार से श्रीनेमिनाथ भगवान् की स्तुति की जाती है। 'चत्तारि अट्ठ०' इस ग्यारहवें अधिकार में चौबीस जिनेश्वरों से प्रार्थना की जाती है। 'वेयावच्चगराणं' इस बारहवें अधिकार के द्वारा सम्यक्त्वी देवताओं का स्मरण किया जाता है। [देववन्दन-भाष्य, गा० ४३-४५]।

सिद्धा" पूर्वक चौथी थुइ कहे । पीछे बैठ कर "नमुत्थुणं" कहे बाद चार खमासमण देवे:—(१) इच्छामि खमा० "भगवानहं", (२) इच्छामि खमा० "आचार्यहं", (३) इच्छामि खमा० "उपाध्यायहं", (४) इच्छामि खमा० "सर्वसाधुहं"। इस प्रकार चार खमासमण देने के बाद "इच्छाकारि सर्वश्रावक वांदुं" कह कर "इच्छा०, देवसिय पडिक्कमणे ठाउं? इच्छं' कह कर दाहिने हाथ को चरवले वा आसन पर रख कर बांयां हाथ मुहपत्ति-सहित मुख के आगे रख कर सिर झुका "सव्वस्सवि देवसिअ" का पाठ पढे। बाद खड़ा हो कर "करेमि भंते[3], इच्छामि०, ठामि०, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ ऊससि०" कह कर आचार की आठ गाथाओं [जो गाथाएँ न आती हों तो आठ नवकार] का कायोत्सर्ग कर के प्रकट लोगस्स पढ़े। बाद बैठ कर तीसरे आवश्यक की मुहपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त्त-वन्दना देने के बाद खड़े खड़े "इच्छाकारेण

१–इस प्रकार की सब क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य गुरु के प्रति विनयभाव प्रगट करना है, जो कि सरलता का सूचक है।

२–इस के द्वारा दैनिक पाप का सामान्यरूप से आलोचन किया जाता है; यही प्रतिक्रमण का बीजक है, क्यों कि इसी सूत्र से प्रतिक्रमण का आरम्भ होता है।

३–यहाँ से 'सामायिक' नामक प्रथम आवश्यक का आरम्भ होता है।

४—इस में पाँच आचारों का स्मरण किया जाता है, जिस से कि उन के संबन्ध का कर्तव्य मालूम हो और उन की विशेष शुद्धि हो।

५—यह 'चउवीसत्थो' नामक दूसरा आवश्यक है।

६—यह 'वन्दन' नामक तीसरा आवश्यक है।

संदिसह भगवन् देवसिअं आलोउं[1]? इच्छं। आलोएमि जो मे देवसिओ०" कहे बाद "सात लाख, अठारह पापस्थानक" कहे। पीछे "सव्वस्सवि देवसिय" पढ़ कर नीचे बैठे। दाहिना घुटना खडा कर के "एक नवकार, करेमि भंते. इच्छामि पडिकामिउं जो मे देवासेओ अइयारो" इत्यादि पढ़ कर "वंदित्त सूत्र"[2] पढ़े। बाद द्वादशावर्त-वन्दना देवे। पीछे 'इच्छा०, अब्भुट्ठिओहं, अब्भिंतर' इत्यादि सूत्र जमीन के साथ सिर लगा कर पढ़े। बाद द्वादशावर्त-वन्दना दे कर खड़े खड़े "आयरियउवज्झाए, करेमि

१—यहाँ से प्रतिक्रमण' नामक चौथा आवश्यक शुरू होता है जो 'अब्भुट्ठिओहं' तक चलता है। इतने भाग में खास कर पापों की आलोचना का विधान है।

२—वंदित्तु सूत्र के या अन्य सूत्र के पढ़ने के समय तथा कायोत्सर्ग के समय जुदे जुदे आसनों का विधान है। सो इस उद्देश्य से कि एक आसन पर बहुत देर तक बैठे रहने से व्याकुलता न हो। वीरासन उत्कटासन आदि ऐसे आसन हैं कि जिन से आरोग्यरक्षा होने के उपरान्त निद्रा, आलस्य आदि दोष नष्ट हो कर चित्त-वृत्ति सात्त्विक बनी रहती है और इस से उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम बने रहते हैं।

३ यहाँ से 'काउस्सग्ग' नामक पाँचवाँ आवश्यक शुरू होता है, जो क्षेत्र-देवता के काउस्सग्ग तक चलता है। इस में पाँच काउस्सग्ग आते हैं जिन में से पहले, दूसरे और तीसरे का उद्देश्य क्रमशः चारित्राचार, दर्शनाचार और ज्ञानाचार की शुद्धि करना है। चौथे का उद्देश्य श्रुतदेवता की और पाँचवें का उद्देश्य क्षेत्रदेवता की आराधना करना है।

काउस्सग्ग का अनुष्ठान समाधि का एक साधन है। इस से स्थिरता, विचारणा और संकल्पबल की वृद्धि होती है जो आत्मिक-विशुद्धि में तथा देवों को अपने अनुकूल बनाने में उपयोगी है।

भंते, इच्छामि०, ठामि०, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ०" कह कर दो लोगस्स का कायोत्सर्ग कर के प्रगट लोगस्स पढ़े। पीछे 'सव्वलोए, अरिहंत चेइयाणं, अन्नत्थ०' कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। बाद "पुक्खरवरदीवड्ढे, सुअस्स भगवओ, करेमि काउस्सग्गं, वंदणवत्तिआए, अन्नत्थ" कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। बाद "सिद्धाणं बुद्धाणं" कह कर 'सुअदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ०' पढ़ कर एक नवकार का कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग पार कर 'नमोऽर्हत्' कह कर 'सुअदेवया' की थुइ कहे। पीछे 'खित्तदेवयाए करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थ' पढ़ कर एक नवकार का कायोत्सर्ग करे। पार के 'नमोऽर्हत्' कह कर 'खित्तदेवया' की थुइ कहे। बाद एक नवकार पढ़ के बैठ कर मुहपत्ति का पडिलेहण कर द्वादशावर्त्त-वन्दना देवे। बाद 'सामायिक, चउव्वीसत्थो, वन्दन, पडिक्कमण, काउस्सग्गं, पच्चक्खाण किया है जी' ऐसा कहे। पीछे बैठ कर "इच्छामो अणुसट्ठिं, नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत्०" कह कर "नमोस्तु वर्धमानाय" पढ़े। [स्त्रीवर्ग 'नमोस्तु

१—यहाँ से 'पच्चक्खाण' नामक छठे आवश्यक का आरम्भ होता है, जो पच्चक्खाण लेने तक मे पूर्ण हो जाता है। पच्चक्खाण से तप-आचार की और संपूर्ण प्रतिक्रमण करने से वीर्याचार की शुद्धि होती है।

२—यहाँ से देव-गुरु-वन्दन शुरू होता है जो आवश्यकरूप माङ्गलिक क्रिया की समाप्ति हो जाने पर किया जाता है।

संक्षेप में, आवश्यक क्रिया के उद्देश्य, समभाव रखना; महान् पुरुषों का चिन्तन व गुण-कीर्तन करना; विनय, आज्ञा-पालन आदि गुणो का विकास करना; अपने दोषों को याद कर फिर से उन्हें न करने के लिये सावधान हो

वर्धमानाय' के स्थान में 'संसारदावा' की तीन थुइ पढ़े।] पीछे नमुत्थुणं कहे। बाद कम से कम पाँच गाथा का स्तवन पढ़े। बाद "धरकनकशङ्ख" कह कर इच्छामि-पूर्वक 'भगवानहं' आदि चार खमासमण देवे। फिर दाहिने हाथ को चरवले या या आसन पर रख कर सिर झुका कर "अड्ढाइज्जेसु" पढ़े। फिर खड़ा हो कर "इच्छा० देवसिअपायच्छित्तविसोहणत्थं काउस्सग्ग करुं? इच्छं, अन्नत्थ" कह कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग करे। पार के प्रगट लोगस्स पढ़ कर "इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय संदिसाहुं? इच्छं, इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय करूं? इच्छं" कहे। बाद एक नवकार-पूर्वक सज्झाय कहे। अन्त में एक नवकार पढ़ कर पीछे "इच्छामि० इच्छा० दुक्खक्खओ कम्मक्खओ निमित्तं काउस्सग्ग करुं? इच्छं, अन्नत्थ" पढ़ कर संपूर्ण चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। पार कर "नमोऽर्हत्" कह कर शान्ति पढ़े। पीछे प्रकट लोगस्स कहे। बाद सामायिक पारना हो तो "इरियावहियं, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ" पढ़ कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। पार के प्रगट लोगस्स कहे। पीछे बैठ कर "चउक्कसाय, नमुत्थुणं, जावंति चेइआइं, इच्छामि खमासमणो, जावंत केवि साहू, नमोऽर्हत्, उवसग्गहरं, जय वीयराय" कह कर "इच्छामि० इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं" कह कर पूर्वोक्त सामायिक पारने के विधि से सामायिक पारे।

जाना; समाधि का थोड़ा थोड़ा अभ्यास डालना और त्याग द्वारा संतोष धारण करना इत्यादि है।

रात्रिक-प्रतिक्रमण की विधि ।

पहले सामायिक लेवे । पीछे "इच्छामि०, इच्छा०, कुसुमिण-दुसुमिण-उड्डावणी-राइयपायच्छित्त-विसोहणत्थं काउस्सग्ग करुं ? इच्छं, कुसुमिण-दुसुमिण-उड्डावणी-राइयपायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०" पढ़ कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग[1] पार के प्रकट लोगस्स कह कर "इच्छामि०, इच्छा०, चैत्यवन्दन करुं ? इच्छं," जगचिन्तामणि-चैत्यवन्दन, जय वीयराय तक कर के चार खमासमण अर्थात् "इच्छामि० भगवानहं, इच्छामि० आचार्यहं, इच्छामि० उपाध्यायहं, इच्छामि० सर्वसाधुहं" कह कर "इच्छामि०, इच्छा०, सज्झाय संदिसाहुं ? इच्छं । इच्छामि०, इच्छा०, सज्झाय करुं ? इच्छं" कह कर भरहेसर की सज्झाय कहे । पीछे "इच्छामि०, इच्छा०, राइयपडिक्कमणे ठाउं ? इच्छं" कह कर दाहिने हाथ को चरवले पर या आसन पर रख कर "सव्वस्सवि राइयदुच्चिंतिय०" इत्यादि पाठ कहे । बाद 'नमुत्थुणं' कह कर खड़ा हो के "करेमि भंते०, इच्छामि०, ठामि०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०" कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग पार के प्रगट "लोगस्स, सव्वलोए०, अन्नत्थ०" कह कर एक लोगस्स का कायोत्सर्ग पार के "पुक्खरवरदीवड्ढे०, सुअस्स भगवओ०, वंदणवत्तिआए०, अन्नत्थ०" पढ़ कर अतिचार की आठ गाथाओं का कायोत्सर्ग पार के "सिद्धाणं बुद्धाणं०" कहे ।

१—यह काउस्सग्ग रात्रि में कुस्वप्न से लगे हुए दोषों को दूर करने के लिये किया जाता है ।

पीछे बैठ कर तीसरे आवश्यक की मुहपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त-वन्दना देवे । बाद "इच्छा० राइयं आलोउं ? इच्छं, आलोएमि जो मे राइओ०" पढ़ कर सात लाख, अठारह पापस्थान की आलोचना कर "सव्वस्स वि राइय०" कह के बैठ कर दाहिने घुटने को खड़ा कर "एक नवकार, करेमि भंते०, इच्छामि० पडिक्कमिउं जो मे राइओ०" कह कर वंदिता सूत्र पढ़े। बाद द्वादशावर्त-वन्दना दे कर "इच्छा० अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतरराइयं खामेउं ? इच्छं, खामेमि राइयं०" कहे । बाद द्वादशावर्त-वन्दना कर के खड़े खड़े "आयरिअउवज्झाए०, करेमि भंते०, इच्छामि ठामि०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०" कह कर सोलह नवकार का कायोत्सर्ग पार के प्रकट लोगस्स पढ़ कर बैठ के मुहंपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त-वन्दना कर के तीर्थ-वन्दन पढ़े। फिर पच्चक्खाण कर के "सामायिक, चउवीसत्थो, वन्दना, पडिक्कमण, काउस्सग्ग, पच्चक्खाण किया है जी" कह कर बैठ के "इच्छामो अणुसट्ठिं, नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत्०" पढ़ कर "विशाललोचनदलं०" पढ़े । फिर नमुत्थुणं०, अरिहंत चेइयाणं०, अन्नत्थ० और एक नवकार का काउस्सग्ग पार के 'कल्लाणकंदं' की प्रथम थुइ कहे । बाद लोगस्स आदि पढ़ कर क्रम से चारों थुइ के समाप्त होने पर बैठ के नमुत्थुणं पढ़ कर इच्छामि०पूर्वक "भगवानहं, आचार्यहं, उपाध्यायहं, सर्वसाधुहं" एवं चार खमासमण दे कर दाहिने हाथ को चरवले या आसन पर रख के 'अड्ढाइज्जेसु' पढ़े । बाद इच्छामि०पूर्वक सीमंधरस्वामी का चैत्य-

वन्दन 'जय वीयराय'-पर्यन्त करे। बाद अरिहंत चेइयाणं० और एक नवकार का काउस्सग्ग पार के नमोऽर्हत्० कह कर सीमंधर-स्वामी की थुइ कहे । फिर सिद्धाचलजी का चैत्य-वन्दन भी इसी प्रकार करे। सिद्धाचल जी का चैत्य-वन्दन, स्तवन और थुइ कहे बाद सामायिक पारने की विधि से सामायिक पारे ।

पौषध लेने की विधि ।

प्रथम खमासमणपूर्वक 'इरियावहिय' पडिक्कम कर 'चंदेसु निम्मलयरा' तक एक लोगस्स का काउस्सग्ग कर के प्रकट लोगस्स कहे । पीछे 'इच्छामि०, इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पोसह मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह के मुहपत्ति पडिलेहे । बाद इच्छामि०, इच्छा० पोसह संदिसाहुं ? इच्छं'; इच्छामि०, इच्छा० पोसह ठाउं ? इच्छं' कह कर दो हाथ जोड़ एक नवकार पढ़ के 'इच्छकारि भगवन् पसायकरी पोसहदंड उच्चरावो जी'' कहे। पीछे पोसह-दंड उच्चरे या उच्चरवावे । पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० सामायिक मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कहे। पीछे मुहपत्ति पडिलेहन कर "इच्छामि० इच्छा० सामायिक संदिसाहुं ? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० सामायिक ठाउं ? इच्छं' कहे। पीछे दो हाथ जोड़ एक नवकार गिन के "इच्छकारि भगवन् पसायकरी सामायिकदंड उच्चरावोजी" कह कर 'करेमि भंते सामाइयं' का पाठ पढ़े, जिस में 'जाव नियमं' की जगह 'जाव पोसहं' कहे । पीछे इच्छामि०, इच्छा० बेसणे संदिसाहुं ? इच्छं' ; इच्छामि०, इच्छा० बेसणे ठाउं ?

इच्छं;' इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय संदिसाहुं ? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय करुं? इच्छं' कहे। पीछे दो हाथ जोड़ कर तीन नवकार गिने। बाद 'इच्छामि०, इच्छा० बहुवेलं संदिसाहुं? इच्छं'; इच्छामि०, इच्छा० बहुवेलं करेमि ? इच्छं'; इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहण करुं? इच्छं' कहे। पीछे मुहपत्ति, चरवला, आसन, कंदोरा (सूत की त्रागड़ी) और धोती, ये पाँच चीजें पडिलेहे। पीछे "इच्छामि०, इच्छकारि भगवन् पसायकरी पडिलेहणा पडिलेहावो जी ?" ऐसा कह कर ब्रह्मचर्य-व्रतधारी किसी बड़े के उत्तरासन की पडिलेहना करे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० उपधि मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे। पीछे "इच्छामि०, इच्छा० उपधि संदिसाहुं ? इच्छं;' इच्छामि०, इच्छा० उपधि पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर प्रथम पडिलेहन से बाकी रहे हुए उत्तरासन (दुपट्टा), मात्रा (पेशाब) करने जाने का वस्त्र और रात्रि-पौषध करना हो तो लोई, कम्बल वगैरह वस्त्र पडिलेहे। पीछे डंडासण ले कर जगह पडिलेहे। कूड़ा-कचरा निकाले और उस को देख-शोध यथायोग्य स्थान में देख के "अणुजाणह जस्सुग्गहो" कह के परठ देवे। परठने के बाद तीन बार "वोसिरे, वोसिरे, वोसिरे" कहे। बाद इरियावहिय पडिक्कमे। पीछे देव-वन्दन करे।

देव-वन्दन की विधि।

इच्छामि०, इच्छा०, इरियावहिय०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०, एक लोगस्स का काउस्सग्ग (प्रगट लोगस्स) कह के उत्तरासन डाल कर

इच्छामि०, इच्छा० चैत्य-वन्दन करुं? इच्छं;चैत्य-वन्दन कर जं किंचि, नमुत्थुणं कह के 'आभवमखंडा' तक 'जय वीयराय' कहे । पीछे इच्छामि० दे कर दूसरी बार चैत्य-वन्दन, जं किंचि, नमुत्थुणं, अरिहंत चेइआणं०, अन्नत्थ, एक नवकार का काउस्सग्ग 'नमो अरिहंताणं' कह कर पार के "नमोऽर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यः" कह कर पहली थुइ पढ़े । पीछे 'लोगस्स० सव्वलोए० एक नवकार का काउस्सग्ग—दूसरी थुइ; पीछे 'पुक्खरवरदीवड्ढे सुअस्स भगवओ० एक नवकार का काउस्सग्ग—तीसरी थुइ; पीछे सिद्धाणं बुद्धाणं० वेयावच्चगराणं० अन्नत्थ०' एक नवकार का काउस्सग्ग--नमोऽर्हत्—चौथी थुइ कहे। पछि बैठ के "नमुत्थुणं०, अरिहंत चेइआणं०" इत्यादि पूर्वोक्त रीति से दूसरी बार चार थुइ पढ़े । पछि 'नमुत्थुणं०, जावंति०, इच्छामि०, जावंत केवि साहू०, नमोऽर्हत्०, उवसग्गहरं० अथवा और कोई स्तोत्र-स्तवन पढ़ कर 'आभवमखंडा' तक जय वीयराय कहे। पीछे इच्छामि० दे कर तीसरी वार चैत्य-वन्दन कर के जं किंचि० नमुत्थुणं० कह कर संपूर्ण जय वीयराय कहे। पीछे 'विधि करते हुए कोई अविधि हुई हो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' ऐसा कहे ।सुबह (दो पहर और सन्ध्या के में नहीं) के देव-वन्दन के अन्त में 'इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय करुं? इच्छं और एक नवकार पढ़ के खड़े घुटने बैठ कर 'मन्नह जिणाणं' की सज्झाय कहे।

पऊण-पोरिसी की विधि ।

जब छह घड़ी दिन चढ़े तब पऊण-पोरिसी पढ़े। 'इच्छामि०,

इच्छाकारेण०, बहुपडिपुण्णा पोरिसी? इच्छामि०, इरियावहिय०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ० और एक लोगस्स का काउस्सग्ग; प्रकट लोगस्स०, इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहण करुं? इच्छं, कह कर मुहपत्ति पडिलेहे।

पीछे गुरु महाराज हो तो उन को वन्दना कर के पच्चक्खाण करे। पीछे सब साधुओं को वन्दना कर के ज्ञान-ध्यान पठन-पाठन आदि शुभ क्रिया में तत्पर रहे। लघुशङ्का (पेशाब) वगैरह की वाधा टालने को जाना हो तो प्रथम पेशाब करने के निमित्त रखा हुआ कपड़ा पहन कर शुद्ध भूमि को देख कर "अणुजाणह जस्सुग्गहो" कह कर मौनपने वाधा टाले। पीछे तीन वख्त "वोसिरे" कह कर अपने स्थान पर आ कर प्रासुक (गरम) पानी से हाथ धो कर धोती बदल कर स्थापनाचार्यजी के सम्मुख इच्छामि० दे कर इरियावहियं० पडिक्कमे। पेशाब वगैरह की शुचि के निमित्त गरम पानी वगैरह का प्रथम से ही किसी को कह कर बन्दोबस्त कर रखे।

पौषध लेने के पीछे श्रीजिनमन्दिर में दर्शन करने को जरूर जाना चाहिये। इस वास्ते उपाश्रय (पौषधशाला) में से निकलते हुए तीन बार 'आवस्सहि' कह के मौनपने 'इरियासमिति' रखते हुए श्रीजिनमन्दिर में जावे। वहाँ तीन बार 'निसिही' कह कर के मन्दिर जी के प्रथम द्वार में प्रवेश करे। मूलनायकजी के सम्मुख हो कर दूर से प्रणाम कर के तीन प्रदक्षिणा देवे। पीछे रङ्गमण्डप में प्रवेश कर के दर्शन, स्तुति

कर के इच्छामि० दे कर इरियावहिय० पडिक्कम के तीन खमा-समण दे कर चैत्य-वन्दन करे। श्रीजिनमान्दिर से बाहर निक-लते हुए तीन बार 'आवस्सहि' कह कर निकले। पौषध-शाला में तीन बार 'निसिही' कह कर प्रवेश करे। पीछे इरियावहिय० पडिक्कमे।

चौमासे के दिन हों तो मध्याह्न के देव-वन्दन से पहले ही मकान की दूसरी बार पडिलेहणा करे। (चौमासे में मकान तीन बार पडिलेहना चाहिये) इरियावहिय० पडिक्कम के डंडासण से जगह पाडिलेहके विधिसहित कूड़े-कजरे को परठव के इरिया-वहिय० पडिक्कमे। पीछे मध्याह्न का देव-वन्दन पूर्वोक्त विधि से करे।

बाद जिस का तिविहाहार व्रत हो और पानी पीना हो वह तथा जिस ने आयंबिल, निवि अथवा एकासना किया हो वह पच्चक्खाण पारे।

पच्चक्खाण पारने की विधि।

इच्छामि०, इरियावहिय० प्रकट लोगस्स कह के 'इच्छामि०, इच्छा० चैत्य-वन्दन करुं? इच्छं' कह के जगचिंतामणि का चैत्य० सम्पूर्ण जय वीयराय तक करे। पीछे 'इच्छामि०' इच्छा० सज्झाय करुं? इच्छं' कह के एक नवकार पढ़ कर 'मन्नह जिणाणं' की सज्झाय करे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह के मुहपत्ति पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०' इच्छा० पच्चक्खाणं

पारेमि ? यथाशक्ति; इच्छामि०, इच्छा० पच्चक्खाणं पारियं, तहत्ति', कहे । पीछे दाहिना हाथ चरवले पर रख कर एक नमस्कार मन्त्र पढ़ कर जो पच्चक्खाण किया हो, उस का नाम ले कर नीचे लिखे अनुसार पढ़ेः—

" उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं पोरिसिं साढपेरिसिं पुरिमड्ढं गंठिसहियं मुट्ठिसहियं पच्चक्खाणं किया चउव्विह आहार; आयंबिल निवि एकासना किया तिविह आहार; पच्चक्खाण फासिअं पालिअं सोहिअं तीरिअं किट्टिअं आराहिअं जं च न आराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । पीछे एक नमस्कार मन्त्र पढ़े ।

तिविहाहार व्रत वाला इस तरह कहेः—"सूरे उग्गए उपवास किया तिविह आहार पोरिसिं साढपेरिसिं पुरिमड्ढं मुट्ठिसहियं पच्चक्खाण किया, फासिअं पालिअं सोहिअं तीरिअं किट्टिअं आराहिअं जं च न आराहिअं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।" पीछे एक नमस्कार मन्त्र पढ़े ।

पानी पीने वाला दूसरे से माँगा हुआ अचित्त जल आसन पर बैठ कर पीवे । जिस पात्र से पानी पीवे उस पात्र को कपड़े से पोंछ कर खुश्क कर देवे । पानी का भाजन खुला न रक्खे ।

जिस को आयंबिल, निवि अथवा एकासना करना हो वह पोसह लेने से पहले ही अपने पिता पुत्र या भाई वगैरह घर के किसी आदमी को मालूम कर देवे ।

जब घर का आदमी पौषधशाला में भोजन ले आवे तब एकान्त में जगह पडिलेह के आसन बिछाकर चौकड़ी लगा कर बैठ के इरियावहिय पडिक्कम के नवकार पढ़ कर मौनपने भोजन करे। बाद मुख-शुद्धि कर के दिवसचरिम तिविहाहार का पच्चक्खाण करे। पीछे इरियावहिय पडिक्कम के जय वीयराय-पर्यन्त जगचिंतामणि का चैत्य-वन्दन करे।

जब छह घड़ी दिन बाकी रहे तब स्थापनाचार्यजी के सम्मुख दूसरी बार की पडिलेहना करे। उस की विधि इस प्रकार है:—

इच्छामि०, इच्छा०, बहुपडिपुण्णा पोरिसी, कह कर इच्छामि०, इच्छा० इरियावहिय एक लोगस्स का कायोत्सर्ग पार के प्रगट लोगस्स कहे। पीछे "इच्छामि०, इच्छा० गमणागमणे आलोउं? इच्छं' कह के " इरियासमिति, भासासमिति, एसणा-समिति, आदान-भंडमत्त-निक्खेवणासमिति, पारिट्ठावणिया-समिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, एवं पञ्च समिति, तीन गुप्ति, ये आठ प्रवचनमाता श्रावक धर्मे सामायिक पोसह में अच्छी तरह पाली नहीं, खण्डना विराधना हुई हो वह सब मन वचन काया से मिच्छा मि दुक्कडं" पढ़े। पीछे "इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहण करुं? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० पौषधशाला प्रमार्जुं? इच्छं" कह कर उपवास किया हो तो मुहपत्ति, आसन, चरवला ये तीन पडिलेहे। और जो खाया हो तो धोती और कंदोरा मिला कर पाँच वस्तु पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० पसायकरी पडिलेहणा पडिलेहावोजी' ऐसा कह कर जो बड़ा हो

उस का कोई एक वस्त्र पडिलेहे । पीछे ' इच्छामि०, इच्छा० उपधि मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेह कर. 'इच्छामि०, इच्छा० सज्झाय करुं ? इच्छं' कह एक नवकारपूर्वक मन्नह जिणाणं की सज्झाय करे । पीछे खाया हो तो द्वादशावर्त-वन्दना दे कर पाणहार का पच्चक्खाण करे ।

यदि तिविहाहार उपवास किया हो तो 'इच्छामि० 'इच्छकारि भगवन् पसायकरी पच्चक्खाण का आदेश दीजिए जी' ऐसा कह कर पाणहार का पच्चक्खाण करे[1]। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० उपधि संदिसाहुं ? इच्छं; इच्छामि० इच्छा०, उपधि पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर बाकी के सब वस्त्रों की पडिलेहणा करे । रात्रि-पोसह करने वाला पहले कम्बल (बिछौने का आसन) पडिलेहे । पीछे पूर्वोक्त विधि से देव-वन्दन करे ।

बाद पडिक्कमण का समय होने पर पडिक्कमण करे । इरियावहिय पडिक्कम के चैत्य-वन्दन करे, जिस में सात लाख और अठारह पापस्थान के ठिकाने 'गमणागमणे' और 'करेमि भंते' में 'जाव नियमं' के ठिकाने 'जाव पोसहं' कहे ।

यदि दिन का ही पौषध हो तो पडिक्कम किये बाद नीचे लिखी विधि से पौषध पारे ।

१—चउव्विहाहार-उपवास किया हो तो इस वक्त पच्चक्खाण करने की जरूरत नहीं है; परन्तु सुबह तिविहाहार का पच्चक्खाण किया हो और पानी न पिया हो तो इस वक्त चउव्विहाहार-उपवास का पच्चक्खाण करे ।

पौषध पारने की विधि ।

इच्छामि० इच्छा० इरिया० एक लोगस्स का काउस्सग्ग पार कर प्रकट लोगस्स कह के बैठ कर 'चउक्कसाय०, नमुत्थुणं०, जावंति०, जावंत०, उवसग्गहरं०, जय वीयराय०' संपूर्ण पढ़े। बाद 'इच्छामि०, इच्छा०, मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह के मुहपत्ति पडिलेहे। बाद 'इच्छामि०, इच्छा० पोसहं पारेमि? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० पोसहो पारिओ, इच्छं' कह के एक नवकार पढ़ कर हाथ नीचे रख कर 'सागरचंदो कामो' इत्यादि पौषध पारने का पाठ पढ़े। बाद 'इच्छामि०, इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह के मुहपत्ति पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० सामाइअं पारेमि? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० सामाइअं पारिअं, इच्छं' कह कर सामाइय वयजुत्तो पढ़े।

यदि रात्रि-पौषध हो तो पडिक्कमण करने के बाद संथारा पोरिसी के समय तक स्वाध्याय, ध्यान, धर्म-चर्चा वगैरह करे। पीछे संथारा पोरिसी पढ़ावे।

संथारा पोरिसी पढ़ाने की विधि।

'इच्छामि०, इच्छा० बहुपडिपुण्णा पोरिसी, तहत्ति; इच्छामि०, इच्छा० इरिया०' कह के एक लोगस्स का काउस्सग्ग पार के प्रकट लोगस्स कह के 'इच्छामि०, इच्छा० बहुपडिपुण्णा पोरिसी, राइयसंथारए ठामि? इच्छं' कहे। पीछे "चउक्कसाय नमुत्थुणं, जावंति, जावंत, उवसग्गहरं, जय वीयराय' तक

सम्पूर्ण पढ़ कर 'इच्छामि० इच्छा० राइयसंथारा सूत्र पढ़ने के निमित्त मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेह के 'निसीहि, निसीहि' इत्यादि संथारा पोरिसी का पाठ पढ़े।

जिस ने आठ पहर का पोसह लिया हो या जिस ने केवल रात्रि-पौषध किया हो वह सायंकाल के देव-वन्दन के पीछे कुण्डल (कान में डालने के लिये रुई), डंडासन और रात्रि की शुचि के लिये चूना डाला हुआ अचित्त पानी याचना कर के लेवे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० थंडिल पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर नीचे लिखे अनुसार चौवीस माँडले करे।

१. आघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणहिआसे।
२. आघाडे आसन्ने पासवणे अणाहिआसे।
३. आघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अणाहिआसे।
४. आघाडे मज्झे पासवणे अणाहिआसे।
५. आघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अणहिआसे।
६. आघाडे दूरे पासवणे अणहिआसे।
७. आघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहिआसे।
८. आघाडे आसन्ने पासवणे अहिआसे।
९. आघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अहिआसे।
१०. आघाडे मज्झे पासवडे अहिआसे।
११. आघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अहिआसे।
१२. आघाडे दूरे पासवणे अहिआसे।
१३. अणाघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अणाहिआसे।

१४. अणाघाडे आसन्ने पासवणे अणहिआसे ।
१५. अणाघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अणहिआसे ।
१६. अणाघाडे मज्झे पासवणे अणहिआसे ।
१७. अणाघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अणहिआसे ।
१८. अणाघाडे दूरे पासवणे अणहिआसे ।
१९. अणाघाडे आसन्ने उच्चारे पासवणे अहिआसे ।
२०. अणाघाडे आसन्ने पासवणे अहिआसे ।
२१. अणाघाडे मज्झे उच्चारे पासवणे अहिआसे ।
२२. अणाघाडे मज्झे पासवणे अहिआसे ।
२३. अणाघाडे दूरे उच्चारे पासवणे अहिआसे ।
२४. अणाघाडे दूरे पासवणे अहिआसे ।

सिर्फ रात्रि के चार पहर का पोसह लेने की विधि ।

इच्छामि० इच्छा० से लगा कर यावत् बहुवेलं करेमि-पर्यन्त सुबह के पोसह लेने की विधि के अनुसार विधि करे । उस के बाद शाम के पडिलेहण में इच्छामि० दे कर 'पाडिलेहण करुं ?' इस आदेश से ले कर 'उपधि पाडिलेहुं ?' इस आदेश-पर्यन्त पूर्वोक्त विधि करे । पीछे देव वाँदे, माँडले करे और पडिक्कमणा करे ।

सुबह चार पहर का पोसह लिया हो और पीछे आठ पहर का पोसह लेने का विचार हो तो शाम की पडिलेहणा करते समय इरियावहिय पडिक्कम के 'इच्छामि० इच्छा० गमणागमणे' आलोच कर 'इरियावहियं' से लगा कर 'बहुवेलं करेमि' इस "आदेश-पर्यन्त सुबह के पोसह लेने की विधि के अनुसार विधि करे; 'सज्झाय करुं ?'

इस के स्थान में 'सज्झाय में हूँ' ऐसा बोले और तीन नवकार के बदले एक नवकार गिने। पीछे शाम के पडिलेहण में इच्छामि० दे कर, 'पडिलेहण करुं?' इस आदेश से लगा कर विधिपूर्वक पडिलेहण करे। बाद देव-वन्दन, माँडले और प्रतिक्रमण भी पूर्ववत् करे।

पिछली रात प्रातः उठ कर नवकार मन्त्र पढ़ के इरियावहिय कर के कुसुमिण-दुसुमिण का कायोत्सर्ग कर के प्रतिक्रमण करे। पीछे पडिलेहण करे। उस की विधि इस प्रकार है:—

इरियावहिय कर के 'इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहण करूं? इच्छं' कह कर पूर्वोक्त पाँच वस्तु पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० पडिलेहणा पडिलेहावोजी' कह कर जो अपने से बड़ा हो उस का वस्त्र पडिलेहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० उपधि मुहपत्ति पडिलेहुं? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेह कर 'इच्छामि०, इच्छा० उपधि संदिसाहुं? इच्छं; इच्छामि०, इच्छा० उपधि पडिलेहुं? इच्छं' कह कर बाकी के सब वस्त्र पडिलेहे। बाद इरियावहिय कर के पूर्वोक्त रीति से कूड़ा निकाले और परठवे। पीछे देव-वन्दन कर सज्झाय कह कर माँगी हुई चीजें उस वक्त पौषध-रहित गृहस्थ को सिपुर्द करे। बाद पोसह पारे।

आठ पहर के तथा रात्रि के पौषध पारने की विधि।

इच्छामि०, इच्छा० इरिया०, एक लोगस्स का काउस्सग्ग पार के प्रकट लोगस्स कह कर 'इच्छामि०, इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं?

इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे । बाद 'इच्छामि०, इच्छा० पोसहं पारेमि ? यथाशक्ति; इच्छामि०, इच्छा० पोसहो पारिओ, तहत्ति' कह कर हाथ नीचे रख कर 'सागरचंदो' इत्यादि पोसह पारने की गाथा पढ़े । बाद 'इच्छामि०, इच्छा० मुहपत्ति पडिलेहुं ? इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेह के 'इच्छामि०, इच्छा० सामाइयं पारेमि' इत्यादि पूर्वोक्त विधि से सामायिक पारे ।

चैत्य-वन्दन-स्तवनादि ।

[चैत्य-वन्दन ।]

सकलकुशलवल्ली पुष्करावर्तमेघो,
दुरिततिमिरभानुः कल्पवृक्षोपमानः ।
भवजलनिधिपोतः सर्वसंपत्तिहेतुः,
स भवतु सततं वः श्रेयसे शान्तिनाथः ॥१॥

[श्रीसीमन्धरस्वामी का चैत्य-वन्दन ।]

(१)

सीमन्धर परमातमा, शिव-सुखना दाता ।
पुक्खलवइ विजये जयो, सर्व जीवना त्राता ॥१॥
पूर्व विदेह पुंडरीगिणी, नयरीये सोहे ।
श्रीश्रेयांस राजा तिहां, भविअणना मन मोहे ॥२॥

चउद सुपन निर्मल लही, सत्यकी राणी मात ।
कुन्थु अर जिन अन्तरे, श्रीसीमन्धर जात ॥३॥
अनुक्रमे प्रभु जनमीया, वली यौवन पावे ।
मात पिता हरखे करी, रुक्मिणी परणावे ॥४॥
भोगवी सुख संसारना, संजम मन लावे ।
मुनिसुव्रत नमि अन्तरे, दीक्षा प्रभु पावे ॥५॥
घाती कर्मनो क्षय करी, पाम्या केवल नाण ।
रिखभ लंछने शोभता, सर्व भावना जाण ॥६॥
चोरासी जस गणधरा, मुनिवर एकसो कोड ।
त्रण भुवनमां जोवतां, नहीं कोई एहनी जोड ॥७॥
दस लाख कह्या केवली, प्रभुजीनो परिवार ।
एक समय त्रण कालना, जाणे सर्व विचार ॥८॥
उदय पेढाल जिनान्तरे ए, थाशे जिनवर सिद्ध ।
'जशविजय' गुरु प्रणमतां, शुभ वंछित फल लीध ॥९॥

(२)

श्रीसीमन्धर वीतराग, त्रिभुवन उपकारी ।
श्रीश्रेयांस पिता कुले, बहु शोभा तुम्हारी ॥१॥
धन धन माता सत्यकी, जिन जायो जयकारी ।
वृषभ लंछन विराजमान, वन्दे नर-नारी ॥२॥
धनुष पांचसो देहडी, सोहे सोवन वान ।
'कीर्तिविजय उवझाय'-नो, 'विनय' धरे तुम ध्यान ॥३॥

[श्रीसीमन्धरस्वामी का स्तवन ।]

(१)

पुक्खलवई विजये जयो रे, नयरी पुंडरीगिणी सार ।
श्रीसीमन्धर साहिबा रे राय श्रेयांस कुमार ॥
जिनन्दराय, धरजो धरम सनेह ॥१॥
मोटा न्हाना अन्तरो रे, गिरुवा नवि दाखंत ।
शशि दरिसन सायर वधे रे, कैरव-वन विकसंत ॥२॥ जि०॥
ठाम कुठाम न लेखवे रे, जग वरसंत जलधार ।
कर दोय कुसुमें वासिये रे, छाया सवि आधार ॥३॥ जि०॥
राय ने रंक सरिखा गणे रे, उद्योते शशि सूर ।
गंगाजल ते बिहुं तणा रे, ताप करे सवि दूर ॥४॥ जि०॥
सरिखा सहु ने तारवा रे, तिम तुमे छो महाराज ।
मुझसुं अन्तर किम करो रे, बांह ग्रह्या नी लाज ॥५॥ जि०॥
मुख देखी टीलुं करे रे, ते नवि होय प्रमाण ।
मुजरो माने सवि तणो रे, साहिब तेह सुजाण ॥६॥ जि०॥
वृषभ लंछन माता सत्यकी रे, नन्दन रुक्मिणी कंत ।
'वाचक जश' एम विनवे रे, भय-भंजन भगवंत ॥७॥ जि०॥

(२)

सुणो चन्दाजी ! सीमन्धर परमातम पासे जाजो ।
मुज विनतडी, प्रेम धरीने एणिपरे तुमे संभलावजो ॥
जे त्रण भुवनना नायक छे, जस चोसठ इन्द्र पायक छे,
नाण दरिसण जेहने खायक छे ॥१॥ सुणो० ॥

जेनी कंचनवरणी काया छे, जस धोरी लंछन पाया छे,
पुंडरीगिणी नगरीनो राया छे ॥२॥ सुणो०॥
बार पर्षदा मांहि विराजे छे, जस चोत्रीश अतिशय छाजे छे,
गुण पांत्रीश वाणीए गाजे छे ॥३॥ सुणो० ॥
भविजनने जे पडिबोहे छे, तुम अधिक शीतल गुण सोहे छे,
रूप देखी भविजन मोहे छे ॥४॥ सुणो० ॥
तुम सेवा करवा रसीओ छुं, पण भरतमां दूरे वसीओ छुं,
महा मोहराय कर फसीओ छुं ॥५॥ सुणो० ॥
पण साहिब चित्तमां धरीयो छे, तुम आणा खडग कर ग्रहीयो छे,
पण कांईक मुजथी डरीयो ॥६॥ सुणो०॥
जिन उत्तम पुंठ हवे पूरो, कहे 'पद्मविजय' थाउं शूरो,
तो वाधे मुज मन अति नूरो ॥७॥ सुणो० ॥

[श्रीसीमन्धरस्वामी की स्तुति[1] ।]

श्रीसीमन्धर जिनवर, सुखकर साहिब देव,
अरिहंत सकलजी, भाव धरी करुं सेव ।
सकलागमपारग, गणधर-भाषित वाणी,
जयवंती आणा, 'ज्ञानविमल' गुणखाणी ॥१॥

१-व्याकरण, काव्य, कोष आदि में स्तुति और स्तवन दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, परन्तु इस जगह थोड़ासा व्याख्या-भेद है। एक से अधिक श्लोकों के द्वारा गुण-कीर्तन करने को 'स्तवन' और सिर्फ एक श्लोक से गुण-कीर्तन करने को 'स्तुति' कहते हैं। [चतुर्थ पञ्चाशक, गा० २३ की टीका।]

[श्रीसिद्धाचलजी का चैत्य-वन्दन ।]

(१)

श्रीशत्रुञ्जय सिद्धिक्षेत्र, दीठे दुर्गति वारे ।
भाव धरीने जे चढ़े, तेने भव पार उतारे ॥१॥
अनन्त सिद्धनो एह ठाम, सकल तीरथनो राय ।
पूर्व नवाणु रिखवदेव, ज्यां ठविआ प्रभु पाय ॥२॥
सूरजकुंड सोहामणो, कवड जक्ष अभिराम ।
नाभिराया 'कुलमंडणो', जिनवर करूं प्रणाम ॥३॥

(२)

आदीश्वर जिनरायनो, गणधर गुणवंत ।
प्रगट नाम पुंडरिक जास, मही मांहे महंत ॥१॥
पंच क्रोड साथे मुणींद, अणसण तिहां कीध ।
शुक्कध्यान ध्याता अमूल्य, केवल तिहां लीध ॥२॥
चैत्रीपुनमने दिने ए, पाम्या पद महानन्द ।
ते दिनथी पुंडरिक गिरि, नाम 'दान' सुखकन्द ॥३॥

[श्रीसिद्धाचलजी का स्तवन ।]

(१)

विमलाचल नितु वन्दीये, कीजे एहनी सेवा ।
मानु हाथ ए धर्मनो, शिवतरु फल लेवा ॥१॥
उज्ज्वल जिनगृह मंडली, तिहां दीपे उत्तंगा ।
मानु हिमगिरि विभ्रमे, आई अम्बर-गंगा ॥२॥ वि० ॥

कोई अनेरु जग नहीं, ए तीरथ तोले ।
एम श्रीमुख हरि आगले, श्रीसीमन्धर बोले ॥३॥ वि० ॥
जे सघला तीरथ कर्यां, जाना फल कहीये ।
तेहथी ए गिरि भेटतां, शतगणुं फल लहीये ॥४॥ वि० ॥
जनम सफल होय तेहनो, जे ए गिरि वन्दे ।
'सुजशविजय' संपद लहे, ते नर चिर नन्दे ॥५॥ वि०॥

(२)

जात्रा नवाणुं करीए, विमलगिरि जात्रा नवाणुं करीए ।
पूर्व नवाणुं वार शेत्रुजा गिरि, रिखव जिणंद समोसरीए ।१।वि०।
कोडि सहस भव-पातक तूटे, शेत्रुजा स्हामो डग भरीए ।२। वि०॥
सात छट्ठ दोय अट्ठम तपस्या, करी चढ़ीये गिरिवरीये ।३। वि ०।
पुंडरीक पद जपीये हरखे, अध्यवसाय शुभ धरीये ॥४॥वि०॥
पापी अभवी न नजरे देखे, हिंसक पण उद्धरीये ॥५॥ वि०॥
भूमिसंथारो ने नारी तणो संग, दूर थकी परिहरीये ॥६॥वि० ॥
सचित्त परिहारी ने एकल आहारी, गुरु साथे पद चरीये।७।वि०।
पडिक्कमणा दोय विधिशुं करीये, पाप-पडल विखरीये ।८।वि०।
कलिकाले ए तीरथ मोहोटुं, प्रवहण जिम भर दरीये ।९। वि०॥
उत्तम ए गिरिवर सेवंता, 'पद्म' कहे भव तरीये ॥१०॥ वि०॥

(३)

गिरिराज दर्श पावे, जग पुण्यवंत प्राणी ॥
रिखभ देव पूजा करीये, संचित कर्म हरीये ।

गिरि नाम गुण-खानी, जग पुण्यवंत प्राणी ॥१॥ गिरि०॥
सहस्र कमल सोहे, मुक्ति निलय मोहे ।
सिद्धाचल सिद्ध ठानी, जग० ॥२॥ गिरि ०॥
शतकूट ढंक कहिये, कदंब छांह रहिये ।
कोड़ि निवास मानी, जग० ॥३॥ गिरि ० ॥
लोहित ताल ध्वज ले, ढंकादि पांच भज ले ।
सुर नर मुनि कहानी, जग० ॥४॥ गिरि ० ॥
रतन खान बूटी, रस कुंपिका अखूटी ।
गुरुराज़ मुख बखानी, जग० ॥५॥ गिरि ०॥
पुण्यवंत प्राणी पावे, पूजे प्रभुको भावे ।
शुभ 'वीरविजय' वाणी, जग पुण्यवन्त प्राणी ॥६॥गिरि०॥

[श्रीसिद्धाचलजी की स्तुति ।]

पुंडरागिरि महिमा, आगममां परसिद्ध,
विमलाचल भेटी, लहीये अविचल रिद्ध ।
पंचम गति पहुंता, मुनिवर कोड़ाकोड़,
इण तीरथ आवी, कर्म विपातक छोड़ ॥१॥

पुंडरीक मंडन पाय प्रणमीजे, आदीश्वर जिनचंदाजी,
नेमि विना त्रेवीश तीर्थंकर, गिरि चाढ़िया आणंदाजी ।
आगम मांहे पुंडरीक माहिमा, भाख्यो ज्ञान दिणंदाजी,
चैत्री पूनम दिन देवी चक्केसरी, 'सौभाग्य' दो सुखकंदाजी॥१।

५४—भुवनदेवता की स्तुति ।

[1] भुवणदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० ।

अर्थ—भुवनदेवता की आराधना के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

ज्ञानादिगुणयुतानां, नित्यं स्वाध्यायसंयमरतानाम् ।
विदधातु भुवनदेवी, शिवं सदा सर्वसाधूनाम् ॥१॥

अन्वयार्थ—'भुवनदेवी' भुवनदेवता 'ज्ञानादिगुणयुतानां' ज्ञान वगैरह गुणों से सहित [और] 'नित्यं स्वाध्यायसंयमरतानाम्' हमेशा स्वाध्याय, संयम आदि में लीन 'सर्वसाधूनाम्' सब साधुओं का 'सदा' हमेशा 'शिवं' कल्याण 'विदधातु' करे ॥१॥

भावार्थ—भुवनदेवता ऐसे सभी साधुओं का सदा कल्याण करती रहे, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों से युक्त हैं और जो हमेशा स्वाध्याय, संयम आदि में तत्पर बने रहते हैं ॥१॥

५५—क्षेत्रदेवता की स्तुति ।

खित्तदेवयाए करेमि काउस्सग्गं । अन्नत्थ० ।

अर्थ—पूर्ववत् ।

यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य, साधुभिः साध्यते क्रिया ।
सा क्षेत्रदेवता नित्यं, भूयान्नः सुखदायिनी ॥१॥

अन्वयार्थ—'यस्याः' जिस के 'क्षेत्रं' क्षेत्र को 'समाश्रित्य' प्राप्त करके 'साधुभिः' साधुओं के द्वारा 'क्रिया' चारित्र 'साध्यते'

---

[1] भुवनदेवताय करोमि कायोत्सर्गम् ।

पाला जाता है 'सा क्षेत्रदेवता' वह क्षेत्रदेवता 'नः' हमारे लिये 'नित्यं' हमेशा 'सुखदायिनी भूयात्' सुख देने वाली हो ॥१॥

भावार्थ—वह क्षेत्रदेवता हमें हमेशा सुख पाने में सहायक बनी रहे, जिस के क्षेत्र में रह कर साधु पुरुष अपने चारित्र का निराबाध आराधन करते हैं ॥ १ ॥

५६—सकलार्हत् स्तोत्र ।

सकलार्हत्प्रतिष्ठान,-मधिष्ठानं शिवश्रियः ।
भूर्भुवः स्वस्त्रयीशान,-मार्हन्त्यं प्रणिदध्महे ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—'सकल' सब 'अर्हत्' अरिहन्तों की 'प्रतिष्ठानम्' प्रतिष्ठा के कारण, 'शिवश्रियः' मोक्ष लक्ष्मी के 'अधिष्ठानं' आधार, [तथा] 'भूः' पाताल, 'भुवः' मृत्युलोक और 'स्वः' स्वर्ग, इन 'त्रयी' तीनों के 'ईशानम्' स्वामी [ऐसे] 'आर्हन्त्यं' अर्हत् पद का 'प्रणिदध्महे' [हम] ध्यान करते हैं ॥१॥

भावार्थ—जो सब तीर्थङ्करों की महिमा का कारण है, जो मोक्ष का आश्रय है और जिस का प्रभाव स्वर्ग, मृत्यु और पाताल, इन तीनों लोक में है, उस अरिहन्त पद का अर्थात् अनन्त ज्ञान आदि आन्तरिक विभूति और समवसरण आदि बाह्य विभूति का हम ध्यान करते हैं ॥१॥

नामाकृतिद्रव्यभावैः, पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मि,-न्नर्हतः समुपास्महे ॥२॥

अन्वयार्थ—'सर्वस्मिन्' सब 'क्षेत्रे' क्षेत्र में 'च' और 'काले' काल में 'नामाकृतिद्रव्यभावैः' नाम, स्थापना, द्रव्य और

भाव के द्वारा 'त्रिजगज्जनम्' तीनों जगत् के प्राणियों को 'पुनतः' पवित्र करने वाले [ऐसे] 'अर्हतः' अरिहन्तों की 'समुपास्महे' [हम] उपासना करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सब लोक में और सब काल में अपने नाम[1], स्थापना[2], द्रव्य[3] और भाव[4], इन चार निक्षेपों[5] के द्वारा तीनों

१—किसी व्यक्ति की जो 'अरिहन्त' संज्ञा है, वह 'नाम-अरिहन्त' है।

२—अरिहन्त की जो मूर्ति, तसबीर आदि है, वह 'स्थापना-अरिहन्त' है।

३—जो अरिहन्त पद पा चुका या पाने वाला है, वह 'द्रव्य-अरिहन्त' है।

४—जो वर्तमान समय में अरिहन्त पद का अनुभव कर रहा हो, वह 'भाव-अरिहन्त' है।

५—प्रायः सब शब्दों के अर्थ के सामान्यरूप से चार विभाग किये जा सकते हैं। ये ही विभाग 'निक्षेप' कहलाते हैं। जैसेः--नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

'नाम-निक्षेप' उस अर्थ को कहते हैं, जिस में संकेत-वश संज्ञारूप से शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे कोइ ऐसी व्यक्ति जो न तो राजा के खास गुणों को ही धारण करती है या न राजा के कार्य को ही करती है, किन्तु सिर्फ संज्ञा-वश राजा कहलाती है।

'स्थापना-निक्षेप' उस अर्थ को कहते हैं, जिस में भाव-निक्षेप के गुणों का आरोप किया जाता है, चाहे फिर वह भाव के समान हो या असमान। जैसे कोई चित्र या मूर्त्ति आदि जिस में न तो राजा की सी शक्ति है और न चैतन्य ही, किन्तु सिर्फ राजपने के आरोप के कारण जिस को राजा समझा जाता है।

'द्रव्य-निक्षेप' उस अर्थ को कहते हैं, जो वर्तमान समय में भाव-शून्य है किन्तु पहले कभी भावसहित था या आगे भावसहित होगा। जैसे कोई

जगत् के प्राणियों को पवित्र करने वाले ऐसे तीर्थङ्करों की हम अच्छी तरह उपासना करते हैं ॥ २ ॥

आदिमं पृथिवीनाथ,-मादिमं निष्परिग्रहम् ।
आदिमं तीर्थनाथं च, ऋषभस्वामिनं स्तुमः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—'आदिमं' प्रथम 'पृथिवीनाथम्' नरेश, 'आदिमं' प्रथम 'निष्परिग्रहम्' त्यागी 'च' और 'आदिमं' प्रथम 'तीर्थनाथं' तीर्थङ्कर [ऐसे] 'ऋषभस्वामिनं' ऋषभदेव स्वामी की 'स्तुमः' [हम]स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो इस अवसर्पिणी काल में पहला ही नरेश, पहला ही त्यागी और पहला ही तीर्थङ्कर हुआ, उस ऋषभदेव स्वामी की हम स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

अर्हन्तमजितं विश्व,-कमलाकरभास्करम् ।
अम्लानकेवलादर्श,-संक्रान्तजगतं स्तुवे ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—'विश्व' जगत्-रूप 'कमलाकर' कमल-वन के लिये 'भास्करम्' सूर्य के समान [और] 'अम्लानकेवलादर्श-संक्रान्तजगतं' जिस के निर्मल केवलज्ञानरूप दर्पण में जगत्

ऐसी व्यक्ति जो वर्तमान समय में राजा के अधिकार को प्राप्त नहीं है, पर जो पहले कभी राज-सत्ता को पा चुकी है या आगे पाने वाली है।

'भाव-निक्षेप' उस अर्थ को समझना चाहिये, जिस में शब्द का मूल अर्थ अर्थात् व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ घटता हो। जैसे कोई ऐसा व्यक्ति जो वर्तमान समय में ही राज-सत्ता को धारण किये हुए अर्थात् राजा शब्द के मूल अर्थ-शासन-शक्ति-से युक्त है।

प्रतिबिम्बित हुआ है, 'अजितम् अर्हन्तम्' उस अजितनाथ अरिहन्त की 'स्तुवे' [मैं] स्तुति करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस से सारा जगत् वैसे ही प्रसन्न है, जैसे कि सूर्य से कमल-वन प्रसन्न व प्रफुल्ल होता है और जिस के केवल-ज्ञानरूप निर्मल आयने में संपूर्ण लोक प्रतिबिम्बित है, उस आजितनाथ प्रभु की मैं स्तुति करता हूँ ॥ ४ ॥

विश्वभव्यजनाराम,-कुल्यातुल्या जयन्ति ताः ।
देशनासमये वाचः, श्रीसंभवजगत्पतेः ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—'विश्व' संपूर्ण 'भव्यजन' भव्य प्राणी-रूप 'आराम' उद्यान के लिये 'कुल्यातुल्या' नाली के समान [ऐसे जो] 'श्रीसंभवजगत्पतेः' जगत् के नाथ श्रीसंभवनाथ स्वामी के 'देशनासमये' उपदेश के समय के 'वाचः' वचन हैं 'ताः' वे 'जयन्ति' जय पा रहे हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—श्रीसंभवनाथ प्रभु के उपदेश-वचन सभी भव्यों को उसी प्रकार तृप्त करते हैं, जिस प्रकार जल की नाली बगीचे को । भगवान् के इस प्रकार के वचनों की सब जगह जय हो रही है ॥ ५ ॥

अनेकान्तमताम्भोधि,-समुल्लासनचन्द्रमाः ।
दद्यादमन्दमानन्दं, भगवानभिनन्दनः ॥६॥

अन्वयार्थ—'अनेकान्तमत', स्याद्वादमतरूप 'अम्भोधि' समुद्र को 'समुल्लासन' उल्लसित करने के लिये 'चन्द्रमाः'

चन्द्र समान [ऐसा] 'भगवान् अभिनन्दनः' अभिनन्दन प्रभु 'अमन्दम्' परिपूर्ण 'आनन्दं' सुख 'दद्यात्' दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस से स्याद्वाद सिद्धान्त उसी तरह बढ़ा, जिस तरह चन्द्र से समुद्र बढ़ता है, वह अभिनन्दन भगवान् सब को पूर्ण आनन्द दे ॥ ६ ॥

घुसत्किरीटशाणाग्रो,-त्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः ।
भगवान् सुमतिस्वामी, तनोत्वभिमतानि वः ॥७॥

अन्वयार्थ—'घुसत्' देवों के 'किरीट' मुकुटरूप 'शाणाग्र' शाण के अग्र भाग से 'उत्तेजिताङ्घ्रिनखावलिः' जिस के पैरों के नखों की पङ्क्ति उत्तेजित हुई है [ऐसा] 'भगवान् सुमतिस्वामी' सुमतिनाथ भगवान् 'वः' तुम्हारे 'अभिमतानि' मनोरथों को 'तनोतु' पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे शाणा की धार से घिसे जाने पर शस्त्र साफ हो जाता है, वैसे ही वन्दन करने वाले देवों के मुकुटों की नौक से घिसे जाने के कारण जिस के पैरों के नख बहुत स्वच्छ बने हैं । अर्थात् जिस के पैरों पर देवों ने अपना सिर आदरपूर्वक झुकाया है, वह सुमतिनाथ भगवान् तुम्हारी अभिलाषाओं को पूर्ण करे ॥ ७ ॥

पद्मप्रभप्रभोर्देह,-भासः पुष्णन्तु वः श्रियम् ।
अन्तरङ्गारिमथने, कोपाटोपादिवारुणाः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—'अन्तङ्रग' भीतर 'अरि' वैरियों को 'मथने' दूर करने के लिये 'कोपाटोपात्' [किये गये] अधिक कोप

से 'इव' मानो 'अरुणाः' लाल [ऐसी] 'पद्मप्रभप्रभोः' पद्मप्रभ स्वामी के 'देहभासः' शरीर की कान्तियाँ 'वः' तुम्हारी 'श्रियम्' लक्ष्मी, को 'पुष्णन्तु' पुष्ट करें ॥८॥

भावार्थ—इस श्लोक में कवि ने भगवान् की स्वाभाविक लाल कान्ति का उत्प्रेक्षारूप में वर्णन किया है।

काम, क्रोध आदि भीतरे वैरियों को दूर करने के हेतु भगवान् पद्मप्रभ स्वामी ने इतना अधिक कोप किया कि जिस से मानो उन के शरीर की सारी कान्ति लाल हो गई, वही कान्ति तुम्हारी संपत्ति को बढ़ावे ॥८॥

श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय, महेन्द्रमहिताङ्घ्रये ।
नमश्चतुर्वर्णसंघ,-गगनाभोगभास्वते ॥९॥

अन्वयार्थ—'चतुर्वर्ण' चार प्रकार के 'संघ' संघरूप 'गगनाभोग' आकाश-प्रदेश में 'भास्वते' सूर्य के समान [और] 'महेन्द्र' महान् इन्द्रों के द्वारा 'महिताङ्घ्रये' जिस के पैर पूजे गये हैं 'श्रीसुपार्श्वजिनेन्द्राय' उस श्रीसुपार्श्वनाथ जिनेन्द्र को 'नमः' नमस्कार हो ॥९॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य से आकाश शोभायमान होता है, उसी प्रकार जिस भगवान् से साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चार प्रकार का संघ शोभायमान होता है और जिस के चरणों की पूजा बड़े बड़े इन्द्रों तक ने की है; उस श्रीसुपार्श्वनाथ प्रभु को नमस्कार हो ॥९॥

चन्द्रप्रभप्रभोश्चन्द्र,-मरीचिनिचयोज्ज्वला।
मूर्तिर्मूर्तसितध्यान,-निर्मितेव श्रियेऽस्तु वः ॥१०॥

अन्वयार्थ—'चन्द्र' चन्द्र की 'मरीचिनिचयः' किरणों के पुञ्ज के समान 'उज्ज्वला' निर्मल [इसी कारण] 'मूर्त' मूर्तिमान् 'सितध्यान' शुक्लध्यान से 'निर्मिता इव' मानो बनी हों [ऐसी] 'चन्द्रप्रभप्रभोः' चन्द्रप्रभ स्वामी की 'मूर्तिः' देह 'वः' तुम्हारी 'श्रिये' लक्ष्मी के लिये 'अस्तु' हो ॥१०॥

भावार्थ—इस श्लोक में कविने भगवान् की सहज श्वेत देह का उत्प्रेक्षा कर के वर्णन किया है।

भगवान् चन्द्रप्रभ स्वामी की देह स्वभाव से ही चन्द्र के तेज की सी अत्यन्त स्वच्छ है, इस लिये मानो यह जान पड़ता है कि वह मूर्तिमान् शुक्लध्यान से बनी हुई है। ऐसी सहज सुन्दर देह तुम्हारे सब के लिये कल्याणकारिणी हो ॥१०॥

करामलकवद्विश्वं, कलयन् केवलश्रिया।
अचिन्त्यमाहात्म्यनिधिः, सुविधिर्बोधयेऽस्तु वः ॥११॥

अन्वयार्थ—'केवलश्रिया' केवलज्ञान की संपत्ति से 'विश्वं' जगत् को 'करामलकवत्' हाथ में रक्खे हुए आँवले की तरह 'कलयन्' जानने वाला [और] 'अचिन्त्य' अचिन्तनीय 'माहात्म्य' प्रभाव के 'निधिः' भण्डार [ऐसा] 'सुविधिः' सुविधिनाथ स्वामी 'वः' तुम्हारे 'बोधये' सम्यक्त्व के लिये 'अस्तु' हो ॥११॥

भावार्थ—जो अपने केवलज्ञान से सारे जगत् को हाथ में रहे हुए आँवले की तरह स्पष्ट देखने वाला है और जो अचिन्तनीय प्रभाव का खजाना है वह सुविधिनाथ भगवान् तुम्हें सम्यक्त्व पाने में सहायक हो ॥११॥

सत्त्वानां परमानन्द,-कन्दोद्भेदनवाम्बुदः ।
स्याद्वादामृतनिस्यन्दी, शीतलः पातु वो जिनः॥१२॥

अन्वयार्थ—'सत्त्वानां' प्राणियों के 'परमानन्द' परम सुखरूप 'कन्द' अङ्कुर को 'उद्भेद' प्रकट करने के लिये 'नवाम्बुदः' नये मेघ के समान [और] 'स्याद्वादामृत' स्याद्वादरूप अमृत को 'निस्यन्दी' बरसाने वाला 'शीतलः जिनः' श्रीशीतलनाथ भगवान् 'वः' तुम्हारा 'पातु' रक्षण करे ॥१२॥

भावार्थ—जैसे नये मेघ के बरसने से अङ्कुर प्रकट होते हैं, वैसे ही जिस भगवान् के स्याद्वादमय उपदेश से भव्य प्राणियों को परमानन्द प्रकट होता है, वह शीतलनाथ प्रभु तुम्हारा रक्षण करे ॥ १२ ॥

भवरोगार्तजन्तूना,-मगदङ्कारदर्शनः ।
निःश्रेयसश्रीरमणः, श्रेयांसः श्रेयसेऽस्तु वः ॥१३॥

अन्वयार्थ—'भवरोग' संसाररूप रोग से 'आर्तजन्तूनाम्' पीडित प्राणियों को 'अगदङ्कारदर्शनः' जिस का दर्शन वैद्य के समान है [और जो] 'निःश्रेयसश्री' मोक्ष

लक्ष्मी का 'रमण' स्वामी है 'श्रेयांसः' वह श्रेयांसनाथ 'वः' तुम्हारे 'श्रेयसे' कल्याण के लिये 'अस्तु' हो ॥१३॥

भावार्थ—जिस प्रकार वैद्य का दर्शन बीमारों के लिये आनन्द-दायक होता है, उसी प्रकार जिस भगवान् का दर्शन संसार के दुखों से दुःखी प्राणियों के लिये आनन्द देने वाला है और जो मोक्ष सुख को भोगने वाला है, वह श्रेयांसनाथ प्रभु तुम्हारा कल्याण करे ॥ १३ ॥

विश्वोपकारकीभूत,-तीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः ।
सुरासुरनरैः पूज्यो, वासुपूज्यः पुनातु वः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—'विश्वोपकारकीभूत' जगत् पर उपकार करने वाले 'तीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः' तीर्थङ्कर नामकर्म को बाँधने वाला [अत एव] 'सुरासुरनरैः' देव, असुर और मनुष्यों को 'पूज्यः' पूजने योग्य [ऐसा] 'वासुपूज्यः' वासुपूज्य स्वामी 'वः' तुम्हें 'पुनातु' पवित्र करे ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस ने जगत् के उपकारक ऐसे तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध किया और जो देवों, असुरों तथा मनुष्यों को पूजने योग्य है, वह वासुपूज्य भगवान् तुम्हें पवित्र करे ॥१४॥

विमलस्वामिनो वाचः, कतकक्षोदसोदराः ।
जयन्ति त्रिजगच्चेतो,-जलनैर्मल्यहेतवः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—'त्रिजगत्' तीन जगत् के 'चेतः' अन्तः-करणरूप 'जल' जल की 'नैर्मल्यहेतवः' निर्मलता के

कारण [अत एव] 'कतकक्षोद' निर्मली नामक वनस्पति के चूर्ण के 'सोदराः' समान [ऐसे] 'विमलस्वामिनः' श्रीविमलनाथ के 'वाचः' उपदेश-वचन 'जयन्ति' जय पा रहे हैं॥१५॥

भावार्थ—जैसे निर्मली वनस्पति का चूर्ण, जल को निर्मल बनाता है, वैसे ही विमलनाथ स्वामी की वाणी तीन जगत् के अन्तःकरण को पवित्र बनाती है; ऐसी लोकोत्तर वाणी सर्वत्र जय पा रही है॥ १५॥

स्वयंभूरमणस्पर्धि,-करुणारसवारिणा।
अनन्तजिदनन्तां वः, प्रयच्छतु सुखश्रियम्॥ १६॥

अन्वयार्थ—'अनन्तजित्' श्रीअनन्तनाथ स्वामी 'स्वयंभूरमणस्पर्धि' स्वयंभूरमण नामक समुद्र के साथ स्पर्धा करने वाले ऐसे 'करुणारसवारिणा' दया-रस रूप जल से 'वः' तुम को 'अनन्तां' अनन्त 'सुखश्रियम्' सुख-संपत्ति 'प्रयच्छतु' देवे॥ १६॥

भावार्थ—जैसे स्वयंभूरमण समुद्र का पानी अपार है, वैसे ही श्रीअनन्तनाथ प्रभु की दया भी अपार है। अपनी उस अपार दयां से वह प्रभु तुम सब को अनन्त सुख-संपत्ति देवे॥१६॥

कल्पद्रुमसधर्माण,-मिष्टप्राप्तौ शरीरिणाम्।
चतुर्धाधर्मदेष्टारं, धर्मनाथमुपास्महे॥ १७॥

अन्वयार्थ—'शरीरिणाम्' प्राणियों को 'इष्टप्राप्तौ' वाञ्छित वस्तु प्राप्त करने में 'कल्पद्रुम' कल्पवृक्ष के 'सधर्मा-

णम्' समान [और] 'चतुर्धा' चार प्रकार के 'धर्म' धर्म का 'देष्टारं' उपदेश करने वाले [ऐसे] 'धर्मनाथम्' धर्मनाथ स्वामी की 'उपास्महे' [हम] उपासना करते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—जिस भगवान् से सभी प्राणी अपनी वाञ्छित वस्तुएँ सहज ही में उसी तरह प्राप्त करते हैं, जिस तरह कि कल्पवृक्ष से। और जो भगवान् दान, शील, तप तथा भाव-रूप चार प्रकार के धर्म का उपदेशक है, उस श्रीधर्मनाथ प्रभु की हम उपासना करते हैं ॥ १७ ॥

सुधासोदरवाग्ज्योत्स्ना, -निर्मलीकृतदिङ्मुखः ।
मृगलक्ष्मा तमःशान्त्यै, शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥१८॥

अन्वयार्थ—'सुधा' अमृत 'सोदर' तुल्य 'वाग्' वाणीरूप 'ज्योत्स्ना' चाँदनी से 'निर्मलीकृतदिङ्मुखः' जिस ने दिशाओं के मुखों को निर्मल किया है [और] 'मृग-लक्ष्मा' जिसको हिरन का लाञ्छन है [वह] 'शान्तिनाथ-जिनः' शान्तिनाथ जिनेश्वर 'वः' तुम्हारे 'तमः' तमोगुण—अज्ञान की 'शान्त्यै' शान्ति के लिये 'अस्तु' हो ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिस भगवान् की अमृत तुल्य वाणी सुन कर सुनने वालों के मुख उसी तरह प्रसन्न हुए, जिस तरह कि चाँदनी से दिशाएँ प्रसन्न होती है और जिस के हिरन का चित्र है, वह श्रीशान्तिनाथ प्रभु तुम्हारे पाप को वैसे ही दूर करे, जैसे चन्द्रमा अन्धकार को दूर करता है ॥ १८ ॥

श्रीकुन्थुनाथो भगवान्, सनाथोऽतिशयर्द्धिभिः।
सुरासुरनृनाथाना,-मेकनाथोऽस्तु वः श्रिये ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—'अतिशय' अतिशयों की 'ऋद्धिभिः' संपत्तियों के 'सनाथ' सहित [और] 'सुरासुरनृ' सुर, असुर तथा मनुष्यों के 'नाथानाम्' स्वामियों का 'एक' असाधारण 'नाथ' स्वामी [ऐसा] 'श्रीकुन्थुनाथो भगवान्' श्रीकुन्थुनाथ प्रभु 'वः' तुम्हारी 'श्रिये' संपत्ति के लिये 'अस्तु' हो ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिस को चौंतीस अतिशय की संपत्ति प्राप्त है, और जो देवेन्द्र, दानवेन्द्र तथा नरेन्द्र का नाथ है, वह श्रीकुन्थुनाथ भगवान् तुम्हारे कल्याण के लिये हो ॥ १९ ॥

अरनाथस्तु भगवाँ,-श्चतुर्थारनभोरविः।
चतुर्थपुरुषार्थश्री,-विलासं वितनोतु वः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—'चतुर्थ' चौथे 'अर' आरारूप 'नभः' आकाश में 'रविः' सूर्य समान [ऐसा] 'अरनाथः तु भगवान्' श्रीअरनाथ प्रभु 'वः' तुम्हारे 'चतुर्थपुरुषार्थ' चौथे पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की 'श्री' लक्ष्मी के 'विलास' विलास को 'वितनोतु विस्तृत करे ॥२०॥

भावार्थ—श्रीअरनाथ भगवान् चौथे आरे[1] में उसी तरह शोभायमान हो रहे थे, जिस तरह सूर्य आकाश में शोभायमान है, वह भगवान् तुम्हें मोक्ष दे ॥२०॥

१—काल-चक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे मुख्य दो हिस्से हैं। प्रत्येक हिस्से के छह छह भाग माने गये हैं। ये ही भाग 'आरे' कहलाते हैं।

सुरासुरनराधीश,-मयूरनववारिदम् ।
कर्मद्रून्मूलने हस्ति,-मल्लं मल्लीमभिष्टुमः ॥२१॥

अन्वयार्थ—'सुरासुरनर' सुर, असुर तथा मनुष्यों के 'अधीश' स्वामीरूप 'मयूर' मोरों के लिये 'नव' नये 'वारिदम्' मेघ के समान [और] 'कर्म' कर्मरूप 'द्रु' वृक्षों को 'उन्मूलने' निर्मूल करने के लिये 'हस्तिमल्लं' ऐरावत हाथी के समान [ऐसे] 'मल्लीम्' मल्लीनाथ स्वामी की 'अभिष्टुमः' [हम] स्तुति करते हैं ।२१।

भावार्थ—जिस भगवान् को देख कर सुरपति, असुरपति तथा नरपति उसी तरह खुश हुए, जिस तरह नये मेघ को देख कर मोर खुश होते हैं। और जो भगवान् कर्म को निर्मूल करने के लिये वैसा ही समर्थ है, जैसा कि पेड़ों को उखाड़ फेंकने में ऐरावत हाथी। ऐसे उस मल्लीनाथ भगवान् की हम स्तुति करते हैं ॥२१॥

जगन्महामोहनिद्रा,-प्रत्यूषसमयोपमम् ।
मुनिसुव्रतनाथस्य, देशनावचनं स्तुमः ॥२२॥

अन्वयार्थ—'जगत्' दुनियाँ की 'महामोह' महान् अज्ञान-रूप 'निद्रा' निद्रा के लिये 'प्रत्यूषसमयोपमम्' प्रातःकाल के समान [ऐसे] 'मुनिसुव्रतनाथस्य' मुनिसुव्रत स्वामी के 'देशना-वचनं' उपदेश-वचन की 'स्तुमः' [हम] स्तुति करते हैं ॥२२॥

भावार्थ—श्रीमुनिसुव्रत स्वामी का उपदेश-वचन, जो जगत् की महामोहरूप निद्रा को दूर करने के लिये प्रातःकाल के समान है, उस की हम स्तुति करते हैं ॥२२॥

लुठन्तो नमतां मूर्ध्नि, निर्मलीकारकारणम् ।
वारिप्लवा इव नमेः, पान्तु पादनखांशवः ॥२३॥

अन्वयार्थ - 'नमतां' नमन करने वालों के 'मूर्ध्नि' मस्तक पर 'लुठन्तः' गिरने वाली [और उनको] 'निर्मलीकार' पवित्र बनाने में 'कारणम्' कारणभूत [अत एव] वारिप्लवा इव' जल के प्रवाहों के सदृश [ऐसी] 'नमेः' नमिनाथ स्वामी के 'पादनखांशवः' पैरों के नखों की किरणें 'पान्तु' रक्षण करें ॥२३॥

भावार्थ--श्रीनमिनाथ भगवान् के पैरों के नखों की किरणें, जो झुक कर प्रणाम करने वालों के सिर पर जल के प्रवाह की तरह गिरती ओर उन्हें पवित्र बनाती हैं, वे तुम्हारी रक्षा करें ॥२३॥

यदुवंशसमुद्रेन्दुः, कर्मकक्षहुताशनः ।
अरिष्टनेमिर्भगवान्, भूयाद्वोऽरिष्टनाशनः ॥२४॥

अन्वयार्थ—'यदुवंश' यादव वंशरूप 'समुद्र' समुद्र के लिये इन्दुः' चन्द्र के समान [और] 'कर्म' कर्मरूप 'कक्ष' वन के लिये 'हुताशनः' अग्नि के समान 'अरिष्टनेमिः भगवान्' श्रीनेमिनाथ प्रभु 'वः' तुम्हारे 'अरिष्ट' अमंगल के 'नाशनः, नाशकारी 'भूयात्' हो ॥२४॥

भावार्थ—जिस भगवान् के प्रभाव से यादव वंश की वृद्धि वैसे ही हुई, जैसे चन्द्र के प्रभाव से समुद्र की वृद्धि होती है, और जिस ने कर्म को वैसे ही जला दिया जैसे अग्नि वन

को जला देती है । वह श्रीनेमिनाथ भगवान् तुम्हारे अमंगल को नष्ट करे ॥२४॥

कमठे धरणेन्द्रे च, स्वोचितं कर्म कुर्वति ।
प्रभुस्तुल्यमनोवृत्तिः, पार्श्वनाथः श्रियेऽस्तु वः ॥२५॥

अन्वयार्थ—'स्वोचितं' अपने अपने योग्य 'कर्म' कार्य 'कुर्वति' करते हुए [ऐसे] कमठे' कमठ नामक दैत्य पर 'च' और 'धरणेन्द्रे' धरणेन्द्र पर 'तुल्यमनोवृत्तिः' समान भाव वाला 'पार्श्वनाथः प्रभुः' पार्श्वनाथ भगवान् 'वः' तुम्हारी 'श्रिये अस्तु' संपत्ति के लिये हो ॥ २५ ॥

भावार्थ—अपने अपने स्वभाव के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले कमठ नामक दैत्य और धरणेन्द्र नामक असुरकुमार अर्थात् इन बैरी और सेवक दोनों पर जिस की मनो-वृत्ति समान रही, वह श्रीपार्श्वनाथ भगवान् तुम्हारी संपत्ति का कारण हो ॥ २५ ॥

श्रीमते वीरनाथाय, सनाथायाद्भुतश्रिया ।
महानन्दसरोराज,-मरालायार्हते नमः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—'अद्भुतश्रिया' अचरज पैदा करने वाली विभूति से 'सनाथाय' युक्त [और] 'महानन्द' महान् आनन्द-रूप 'सरः' सरोवर के 'राजमरालाय' राजहंस [ऐसे] 'श्रीमते' श्रीमान् 'वीरनाथाय' महावीर 'अर्हते' अरिहन्त को 'नमः' नमस्कार हो ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो स्वाभाविक अनन्त सुख में वैसे ही विचरण करता है, जैसे महान् राजंहस सरोवर में, उस अतिशयों की समृद्धि वाले श्रीमहावीर प्रभु को नमस्कार हो ॥ २६ ॥

कृतापराधेऽपि जने, कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्रीवीरजिननेत्रयोः ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—'कृतापराधे' अपराध किये हुए 'जने' शख्स पर 'अपि' भी 'कृपा' दया से 'मन्थरतारयोः' झुकी हुई पुतली वाले [और] 'ईषत्' अल्प 'बाष्प' आँसुओं से 'आर्द्रयोः' भीगे हुए [ऐसे] 'श्रीवीरजिननेत्रयोः' श्रीमहावीर भगवान् के नेत्रों का 'भद्रं' कल्याण हो ॥ २७ ॥

भावार्थ—श्रीमहावीर प्रभु की दया इतनी अधिक थी कि जिस से अपने को पूरे तौर से सताने वाले 'संगम' नामक देव पर भी उन्हें दया हो आई और इस से उन के नेत्रों की पुतलियाँ उस पर झुक गई। इतना ही नहीं, बल्कि कुछ अश्रु-जल से नेत्र भीग तक गये। ऐसे दया-भाव-पूर्ण प्रभु के नेत्रों का कल्याण हो।२७।

जयति विजितान्यतेजाः, सुरासुराधीशसेवितः श्रीमान् ।
विमलस्त्रासविरहित,-स्त्रिभुवनचूडामणिर्भगवान् ॥२८॥

अन्वयार्थ—'विजितान्यतेजाः' दूसरों के तेजों को जीत लेने वाला 'सुरासुराधीशसेवितः' सुर और असुर के स्वामियों से सेवित 'त्रासविरहितः' भयरहित 'त्रिभुवनचूडामणिः' तीन लोक में मुकुट समान [और] 'विमलः' पवित्र [ऐसा] 'श्रीमान्' शोभायुक्त 'भगवान्' परमात्मा 'जयति' जय पा रहा है ॥२८॥

भावार्थ—जिस के तेज से और सब तेज दब गये हैं, जिस की सेवा सुरपति तथा असुरपति तक ने की है, जो मल-रहित तथा भयरहित है और जो तीनों जगत् में मुकुट के समान है, उस श्रीमहावीर भगवान् की जय हो रही है ॥२८॥

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो वीरं बुधाः संश्रिता,-
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो वीराय नित्यं नमः ।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयः श्रीवीर ! भद्रं दिश ॥२९॥

अन्वयार्थ—'वीरः' महावीर 'सर्व' सब 'सुरासुरेन्द्र' सुर और असुर के इन्द्रों से 'महितः' पूजित है, 'बुधाः' विद्वान् लोग 'वीरं' महावीर के 'संश्रिताः' आश्रित हैं, 'वीरेण' महावीर ने 'स्वकर्मनिचयः' अपना कर्म-समूह 'अभिहतः' नष्ट किया है, 'वीराय' महावीर को 'नित्यं' हमेशा 'नमः' नमस्कार हो, 'वीरात्' महावीर से 'इदं' यह 'अतुलं' अनुपम 'तीर्थम्' शासन 'प्रवृत्तम्' शुरू हुआ है, 'वीरस्य' महावीर का 'तपः' तप 'घोरं' कठोर है, 'वीरे' महावीर में 'श्री' लक्ष्मी 'धृति' धीरज 'कीर्ति' यश [और] 'कान्ति' शोभा का 'निचयः' समूह है, 'श्रीवीर !' हे श्रीमहावीर 'भद्रं' कल्याण 'दिश' दे ॥ २९ ॥

भावार्थ—इस श्लोक में कवि ने भगवान् की स्तुति करते हुए क्रमशः सात विभक्तियों का तथा संबोधन का प्रयोग कर के अपनी कवित्व-चातुरी का उपयोग किया है ।

जो सब सुरेन्द्र तथा असुरेन्द्रों से पूजित है, विद्वानों ने जिस का आश्रय ग्रहण किया है, जिस ने अपने कर्म का समूह बिल्कुल नष्ट किया है, जिस को नित्य नमस्कार करना चाहिये, जिस से इस अनुपम तीर्थ का प्रचार हुआ है, जिस की तपस्या अतिदुष्कर है और जिस में विभूति, धीरज, कीर्ति और कान्ति विद्यमान है, ऐसे हे महावीर प्रभो ! तू कल्याण दे ॥ २९ ॥

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिमानां,
वरभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम् ।
इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां,
जिनवरभवनानां भावतोऽहं नमामि ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ—'वरभवनगतानां' श्रेष्ठ भवनों में रहे हुए, 'दिव्यवैमानिकानाम्' श्रेष्ठ विमानों में रहे हुए [और] 'इह' इस लोक में 'मनुजकृतानां' मनुष्यों के बनाये हुए 'अवनितल-गतानां' भूतल पर वर्तमान 'कृत्रिमाकृत्रिमानां' अशाश्वत तथा शाश्वत [ऐसे] 'देवराजार्चितानां' देवताओं के व राजाओं के द्वारा पूजित 'जिनवरभवनानां' जिनवर के मन्दिरों को 'अहं' मैं 'भावतः' भावपूर्वक 'नमामि' नमस्कार करता हूँ ॥ ३० ॥

भावार्थ—जिनमन्दिर तीन जगह हैं । भवनपति के भवनों में, वैमानिक के विमानों में और मध्य लोक में । मध्य लोक में कुछ तो शाश्वत हैं और कुछ मनुष्यों के बनाये हुए, अत एव अशाश्वत हैं । ये मन्दिर देव, राजा या देवराज-

इन्द्र–इन सब के द्वारा पूजित हुए हैं । मैं भी भावपूर्वक उन को नमन करता हूँ ॥ ३० ॥

सर्वेषां वेधसामाद्य,–मादिमं परमेष्ठिनाम् ।
देवाधिदेवं सर्वज्ञं, श्रीवीरं प्रणिदध्महे ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—'सर्वेषां' सब 'वेधसाम्' जानने वालों में 'आद्यम्' मुख्य [तथा] 'परमेष्ठिनाम्' परमेष्ठियों में 'आदिमं' प्रथम [और] 'देवाधिदेवं' देवों के देव [ऐसे] 'सर्वज्ञं' सर्वज्ञ 'श्रीवीरं' श्रीमहावीर का 'प्रणिदध्महे' [हम] ध्यान करते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—सब ज्ञाताओं में मुख्य, पाँचों परमेष्ठियों में प्रथम, देवों के भी देव और सर्वज्ञ, ऐसे श्रीवीर भगवान् का हम ध्यान करते हैं ॥ ३१ ॥

देवोऽनेकभवार्जितोर्जितमहापापप्रदीपानलो,
देवः सिद्धिवधूविशालहृदयालङ्कारहारोपमः ।
देवोऽष्टादशदोषसिन्धुरघटानिर्भेदपञ्चाननो,
भव्यानां विदधातु वाञ्छितफलं श्रीवीतरागो जिनः ॥३२॥

अन्वयार्थ—जो 'देवः' देव 'अनेक' बहुत 'भव' जन्मों में 'अर्जित' संचय किये गये [और] 'ऊर्जित' तीव्र [ऐसे] 'महापाप' महान् पापों को 'प्रदीप' जलाने के लिये 'अनलः' अग्नि के समान है, [और जो] 'देवः' देव 'सिद्धिवधू' मुक्ति-रूप स्त्री के 'विशालहृदय' विशाल हृदय को 'अलङ्कार' शोभायमान करने के लिये 'हारोपमः' हार के समान है, [और जो] 'देवः' देव

'अष्टादश' अठारह 'दोष' दोषरूप 'सिन्धुर' हाथियों की 'घटा' घटा को 'निर्भेद' तोड़ने के लिये 'पञ्चाननः' सिंह के समान है, [वह] 'श्रीवीतरागः जिनः' श्रीवीतराग जिनेश्वर 'भव्यानां' भव्यों के 'वाञ्छितफलं' इष्ट फल को 'विदधातु' संपादन करे॥ ३२॥

भावार्थ—जो अनेक भवों के संचित और तीव्र ऐसे महान् पापों को जलाने में अग्नि-सदृश है, जो मुक्ति का आभूषण है और जो अठारह दोषरूप हाथियों के जमाव को तोड़ने के लिये सिंह के समान है, वह श्रीवीतराग देव भव्यों के मनोरथ पूर्ण करे॥ ३२॥

ख्यातोऽष्टापदपर्वतो गजपदः संमतशैलाभिधः,
श्रीमान् रैवतकः प्रसिद्धमहिमा शत्रुञ्जयो मण्डपः।
वैभारः कनकाचलोऽर्बुदगिरिः श्रीचित्रकूटादय-
स्तत्र श्रीऋषभादयो जिनवराः कुर्वन्तु वो मङ्गलम्॥३३॥

अन्वयार्थ—'ख्यातः' प्रसिद्ध 'अष्टापदपर्वतः' अष्टापद पर्वत, 'गजपदः' गजपद पर्वत, 'संमतशैलाभिधः' संमेतशिखर पर्वत, 'श्रीमान्' श्रेष्ठ 'रैवतकः' गिरिनार, 'प्रसिद्धमहिमा' प्रसिद्ध महिमा वाला 'शत्रुञ्जयः' शत्रुञ्जय, 'मण्डपः' माँडवगढ़, 'वैभारः' वैभारगिरि, 'कनकाचलः' सोनागिरि, 'अर्बुदगिरिः' आबू [और] 'श्रीचित्रकूटादयः' चित्तौड़ वगैरः जो तीर्थ है, 'तत्र' उन पर [स्थित] 'श्रीऋषभादयः जिनवराः' श्रीऋषभदेव वगैरः जिनेश्वर 'वः' तुम्हारा 'मङ्गलम्' मंगल 'कुर्वन्तु' करें॥ ३३॥

भावार्थ—अष्टापद, गजपद, संमेतशिखर, गिरिनार, शत्रुञ्जय, माँडवगढ़, वैभारगिरि, सोनागिरि, आवू और चित्तौड़ वगैरः जो तीर्थ विख्यात हैं, उन पर प्रतिष्ठित ऐसे श्रीऋषभदेव आदि तीर्थङ्कर तुम्हारा मङ्गल करें ॥२३॥

५७—अजित-शान्ति स्तवन ।

* अजिअं जिअसव्वभयं, संतिं च पसंतसव्वगयपावं ।
जयगुरु संतिगुणकरे, दो वि जिणवरे पणिवयामि ॥१॥(गाहा)

अन्वयार्थ—'जिअसव्वभयं' सब भय को जीते हुए 'अजिअं' श्रीअजितनाथ 'च' और 'पसंतसव्वगयपावं' सब रोग और पाप को शान्त किये हुए 'संतिं' श्रीशान्तिनाथ [इन] 'जयगुरु' जगत् के गुरु [तथा] 'संतिगुणकरे' उपशम गुण को करने वाले [ऐसे] 'दो वि' दोनों 'जिणवरे' जिनवरों को 'पणिवयामि' [मैं] नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम गाथा है । इस में श्रीअजितनाथ और श्रीशान्तिनाथ दोनों की स्तुति है ।

सब भयों को जीत लेने वाले अजितनाथ और सब रोग तथा पापों को शान्त कर देने वाले श्रीशान्तिनाथ, इन दोनों को मैं नमस्कार करता हूँ । ये दोनों तीर्थंकर जगत् के गुरु और शान्तिकारक हैं ॥ १ ॥

---

* अजितं जितसर्वभयं, शान्तिं च प्रशान्तसर्वगदपापम् ।
जगद्गुरू शान्तिगुणकरौ, द्वावपि जिनवरौ प्रणिपतामि ॥ १ ॥

† ववगयमंगुलभावे, ते हं विउलतवनिम्मलसहावे ।
निरुवममहप्पभावे, थोसामि सुदिट्ठसब्भावे ॥२॥(गाहा)

अन्वयार्थ—'ववगयमंगुलभावे' तुच्छ भावों को नष्ट कर देने वाले, 'विउल' महान् 'तव' तप से 'निम्मलसहावे' निर्मल स्वभाव वाले, 'निरुवममहप्पभावे' अतुल और महान् प्रभाव वाले [और] 'सुदिट्ठसब्भोव' सत्य पदार्थों को अच्छी तरह देख लेने वाले [ऐसे] 'ते' उन की 'हं' मैं 'थोसामि' स्तुति करूँगा ॥ २ ॥

भावार्थ—इस गाथा नामक छन्द में दोनों तीर्थंकरों का स्तवन करने की प्रतिज्ञा की गई है ।

जिन के बुरे परिणाम बिल्कुल नष्ट हो चुके हैं, तीव्र तपस्या से जिन का स्वभाव निर्मल हुआ है, जिन का प्रभाव अतुलनीय और महान् है और जिन्हों ने यथार्थ तत्त्वों को पूर्णतया जाना है, उन श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ का मैं स्तवन करूँगा ॥२॥

* सव्वदुक्खप्पसंतीणं, सव्वपावप्पसंतिणं ।
सया अजिअसंतीणं, नमो अजिअसंतिणं ॥३॥ (सिलोगो)

अन्वयार्थ—'सव्वदुक्खप्पसंतीणं' सब दुःख को शान्त किये हुए, 'सव्वपावप्पसंतिणं' सब पाप को शान्त किये हुए [और] 'सया' सदा 'आजिअसंतीणं' अजेय तथा शान्ति धारण करने वाले [ऐसे] 'अजिअसंतिणं' अजितनाथ तथा शान्तिनाथ को 'नमो' नमस्कार हो ॥ ३ ॥

---

† व्यपगताशोभनभावौ, तावहं विपुलतपोनिर्मलस्वभावौ ।
निरुपममहाप्रभावौ, स्तोष्ये सुदृष्टसद्भावौ ॥ २ ॥

* सर्वदुःखप्रशान्तिभ्यां, सर्वपापप्रशान्तिभ्याम् ।
सदाऽजितशान्तिभ्यां, नमोऽजितशान्तिभ्याम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस श्लोक नामक छन्द में दोनों तीर्थकरों को नमस्कार किया है।

जिन के न तो किसी तरह का दुःख बाकी है, और न किसी तरह का पाप और जो हमेशा अजेय—नहीं जीते जा सकने वाले—तथा शान्ति धारण करने वाले है, ऐसे श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों को नमस्कार हो ॥ ३ ॥

*** अजिअजिण सुहप्पवत्तणं, तव पुरिसुत्तम नामकित्तणं ।**
तह य धिइमइप्पवत्तणं, तव य जिणुत्तम संति कित्तणं ॥४॥
(मागहिआ)

अन्वयार्थ—'पुरिसुत्तम' पुरुषों में उत्तम 'अजिअजिण' हे अजितनाथ जिन ! 'तव' तेरा 'नामकित्तणं' नाम-कीर्तन 'य' तथा 'जिणुत्तम संति' हे जिनोत्तम शान्तिनाथ ! 'तव' तेरा 'कित्तणं' नाम-कीर्तन 'सुहप्पवत्तणं' सुख को प्रवर्ताने वाला 'तह य' तथा 'धिइमइप्पवत्तणं' धीरज और बुद्धि को प्रवर्ताने वाला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम मागधिका है। इस में दोनों तीर्थकरों के स्तवन की महिमा का वर्णन है।

हे पुरुषों में उत्तम श्रीअजितनाथ ! तथा जिनों में उत्तम श्रीशान्तिनाथ ! तुम दोनों के नाम का स्तवन सुख देने वाला तथा धैर्य और बुद्धि प्रकटाने वाला है ॥ ४ ॥

---

* अजिताजिन ! सुखप्रवर्त्तनं, तव पुरुषोत्तम ! नामकीर्त्तनम् ।
तथा च धृतिमतिप्रवर्त्तनं, तव च जिनोत्तम ! शान्ते ! कीर्त्तनम् ॥ ४ ॥

* किरिआविहिसंचिअकम्मकिलेसविमुक्खयरं,
आजिअं निचिअं च गुणेहिं महामुणिसिद्धिगयं ।
अजिअस्स य संतिमहामुणिणो वि अ संतिकरं,
सययं मम निव्वुइकारणयं च नमंसणयं ॥५॥ (आलिंगणयं)

अन्वयार्थ—'किरिआविहि' क्रियाएँ कर के 'संचिअ' इकट्ठे किये हुए 'कम्मकिलेस' कर्मरूप क्लेश से 'विमुक्खयरं' छुटकारा दिलाने वाला, 'गुणेहिं' गुणों से 'निचिअं' परिपूर्ण 'अजिअं' किसी से नहीं जीता हुआ, 'महामुणिसिद्धिगयं' महायोगी की सिद्धियों से युक्त 'च' और 'संतिकरं' शान्ति करने वाला, [ऐसा] 'अजिअस्स' अजितनाथ को किया हुआ 'य' तथा 'संतिमहामुणिणो वि' शान्तिनाथ महामुनि को भी किया हुआ 'नमंसणयं' नमस्कार 'सययं' हमेशा 'मम' मेरी 'निव्वुइ' शान्ति का 'कारणयं' कारण [हो] ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम आलिङ्गनक है । इस में श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों को किये जाने वाले नमस्कार की महिमा गायी गई है ।

अनेक क्रियाओं के द्वारा संचय किये हुए कर्म-क्लेशों से छुड़ाने वाला, अनेक गुणों से युक्त, अजेय अर्थात् सब से अधिक

---

* क्रियाविधिसंचितकर्मक्लेशविमोक्षकरं,—
माजितं निचितं च गुणैर्महामुनिसिद्धिगतम् ।
अजितस्य च शान्तिमहामुनेरपि च शान्तिकरं,
सततं मम निर्वृतिकारणकं च नमस्यनकम् ॥ ५ ॥

प्रभाव वाला, बड़े बड़े योगियों के योग्य अणिमा आदि सिद्धियों को दिलाने वाला और शान्तिकारक, इस प्रकार का श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ को किया हुआ जो नमस्कार है सो सदा मुझ को शान्ति देवे ॥५॥

* पुरिसा जइ दुक्खवारणं, जइ य विमग्गह सुक्खकारणं।
अजिअं संतिं च भावओ, अभयकरे सरणं पवज्जहा ॥६॥
(मागहिआ)

अन्वयार्थ—'पुरिसा' हे पुरुषो ! 'जइ' अगर 'दुक्खवारणं' दुःख-निवारण का उपाय 'य' तथा 'सुक्खकारणं' सुख का उपाय 'विमग्गह' ढूँढ़ते हो [तो] 'अभयकरे' अभय करने वाले [ऐसे] 'अजिअं संतिं च' अजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों की 'सरणं' शरण 'भावओ' भावपूर्वक 'पवज्जहा' प्राप्त करो ॥६॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम मागधिका है। इस में दोनों भगवान् की शरण लेने का उपदेश है।

हे पुरुषो ! अगर तुम दुःख-निवारण के और सुख प्राप्त करने की खोज करते हो तो श्रीअजितनाथ और शान्तिनाथ, दोनों की भक्तिपूर्वक शरण लो, क्योंकि वे अभय करने वाले हैं ॥६॥

---

* पुरुषाः ! यदि दुःखवारणं, यदि च विमार्गयथ सौख्यकारणम् ।
अजितं शान्तिं च भावतोऽभयंकरौ शरणं प्रपद्यध्वम् ॥६॥

* अरइरइतिमिरविरहिअमुवरयजरमरणं,
सुरअसुरगरुलभुयगवइपययपणिवइयं ।
अजिअमहमवि अ सुनयनयनिउणमभयकरं,
सरणमुवसरिअ भुविदिविजमहिअं सययमुवणमे ॥ ७ ॥
(संगययं)

अन्वयार्थ—'अरइ' अरति से 'रइ' रति से और 'तिमिर' अज्ञान से 'विरहिअम्' रहित, 'उवरयजरमरणं' जरा और मरण से रहित, 'सुर' देव 'असुर असुरकुमार 'गरुल' सुर्वणकुमार तथा 'भुयग नागकुमार के 'वइ पतियों से 'पयय' आदर-पूर्वक 'पणिवइयं' नमस्कार किये गये, 'सुनयनय' अच्छी नीति और न्याय में 'निउणम्' निपुण, 'अभयकरं भय मिटाने वाले 'अ' और 'भुविदिविजमाहिअ' पृथ्वी में तथा स्वर्ग में जन्मे हुए प्राणियों से पूजित [ऐसे] 'अजिअम्' अजितनाथ को 'सरणम्' शरण 'उवसरिअ पाकर 'अहमवि' मै भी 'सययम्' सदा 'उवणमे' नमन करता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह संगतक नाम का छन्द है । इस में केवल श्रीअजितनाथ का गुण-कीर्तन है ।

---

* अरतिरतितिमिरविरहितमुपरतजरामरणं,
सुरासुरगरुडभुजगपतिप्रयतप्रणिपातितम् ।
अजितमहमपि च सुनयनयनिपुणमभयकरं,
शरणमुपसृत्य भुविदिविजमहितं सततमुपनमामि ॥ ७ ॥

जो हर्ष, खेद तथा अज्ञान से परे है, जो जरा मरण से मुक्त है, जिस को देवों के, असुरकुमारों के, सुवर्णकुमारों के और नागकुमारों के स्वामियों ने आदरपूर्वक प्रणाम किया है; जो सुनीति और न्याय में कुशल है, जो अभयदाता है और मनुष्य-लोक तथा स्वर्गलोक के प्राणियों ने जिस की पूजा की है, उस श्रीअजितनाथ की शरण पा कर मैं सदा उस को नमन करता हूँ ॥७॥

*** तं च जिणुत्तममुत्तमनित्तमसत्तधरं,**
अज्जवमद्दवखंतिविमुत्तिसमाहिनिहिं ।
संतिकरं पणमामि दमुत्तमतित्थयरं,
संतिमुणी मम संतिसमाहिवरं दिसउ ॥ ८ ॥ (सोवाणयं)

अन्वयार्थ—'उत्तम' श्रेष्ठ तथा 'नित्तम' तमोगुणरहित [ऐसे] 'सत्त' यज्ञ को या पराक्रम को 'धरं' धारण करने वाले, 'अज्जव' सरलता, 'मद्दव' मृदुता, 'खंति' क्षमा, 'विमुत्ति' निर्लोभता और 'समाहि' समाधि के 'निहिं' निधि, 'च' और 'दमुत्तमातित्थयरं' दमन में श्रेष्ठ तथा तीर्थङ्कर, [ऐसे] 'संतिकरं' शान्तिकारक 'तं' उस 'जिणुत्तमम्' जिनवर को 'पणमामि' [मैं] प्रणाम करता हूँ, 'संतिमुणी' शान्तिनाथ मुनि 'मम' मुझ को 'संति' शान्ति तथा 'समाहि' समाधि का 'वरं' वर 'दिसउ' देवे ॥ ८ ॥

---

* तं च जिनोत्तममुत्तमनिस्तमस्सत्त्वधरं,-
मार्जवमार्दवक्षान्तिविमुक्तिसमाधिनिधिम् ।
शान्तिकरं प्रणमामि दमोत्तमतीर्थकरं,
शान्तिमुनिर्मम शान्तिसमाधिवरं दिशतु ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस छन्द का नाम सोभानक है । इस में केवल श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है ।

जो उत्तम तथा अज्ञान, हिंसा आदि तमोगुण के दोषों से रहित ऐसे शुद्ध ज्ञान-यज्ञ को धारण करने वाला है, जो सरलता, कोमलता, क्षमा, निर्लोभता और समाधि का भण्डार है, जो विकारों को शान्त करने में प्रबल तथा तीर्थंकर है, जो शान्ति के कर्ता तथा जनों में श्रेष्ठ है, उस शान्तिनाथ भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वह श्रीशान्तिनाथ मुझ को शान्ति तथा समाधि का वर प्रदान करे ॥ ८ ॥

*** सावत्थिपुव्वपत्थिवं च वरहत्थिमत्थयपसत्थवित्थिन्न-संथियं, थिरसरित्थवच्छं मयगललीलायमाणवरगंधहत्थि-पत्थाणपत्थियं संथवारिहं । हत्थिहत्थबाहुं धंतकणगरुअगनि-रुवहयपिंजरं पवरलक्खणोवचियसोमचारुरूवं, सुइसुहमणाभि-रामपरमरमणिज्जवरदेवदुंदुहिनिनायमहुरयरसुहगिरं ॥ ९ ॥**

(वेड्ढओ)

---

* श्रावस्तीपूर्वपार्थिवं च वरहस्तिमस्तकप्रशस्तविस्तीर्णसंस्थितं,

स्थिरश्रीवत्सवक्षसं मदकललीलायमानवरगन्धहस्तिप्रस्थानप्रस्थितं संस्तवार्हम् ।

हस्तिहस्तबाहुं ध्मातकनकरुचकनिरुपहतपिञ्जरं प्रवरलक्षणोपचितसौम्यचारुरूपं,

श्रुतिसुखमनोऽभिरामपरमरमणीयवरदेवदुन्दुभिनिनादमधुरतरशुभगिरम् ॥ ९ ॥

†अजिअं जिआरिगणं, जिअसव्वभयं भवोहरिउं।
पणमामि अहं पयओ, पावं पसमेउ मे भयवं ॥ १०॥
(रासालुद्धओ)

अन्वयार्थ—'सावत्थिपुव्वपत्थिवं' पहले श्रावस्ती नगरी के राजा, 'वरहत्थि' प्रधान हाथी के 'मत्थय' मस्तक के समान 'पसत्थ' प्रशस्त और 'वित्थिन्न' विस्तीर्ण 'संथियं' संस्थान वाले, 'थिरसरित्थवच्छं' वक्षःस्थल में श्रीवत्स के स्थिर चिह्न वाले, 'मयगल' मदोन्मत्त और 'लीलायमाण' लीलायुक्त 'वरगंधहत्थि' प्रधान गन्धहस्ति की 'पत्थाण' चाल से 'पत्थियं' चलने वाले, 'संथवारिहं' स्तवन करने योग्य, 'हत्थिहत्थबाहुं' हाथी की सूँड़ के समान बाहु वाले, 'धंत' तपाये हुए 'कणगरुअग' सुवर्ण के आभरण के समान 'निरुवहयपिंजरं' स्वच्छ पीले वर्ण वाले, 'पवरलक्खणोवचिय' श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त 'सोम' सौम्य और 'चारुरूवं' सुन्दर रूप वाले 'च' तथा 'सुइसुह' कान को सुखकर 'मणाभिराम' मन को आनन्दकारी और 'परमरमणिज्ज' अतिरमणीय [ऐसे] 'वरदेवदुंदुहिनिनाय' श्रेष्ठ देव-दुन्दुभि के नाद के समान 'महुरयरसुहगिरं' अतिमधुर और कल्याणकारक वाणी वाले, तथा—

'जिआरिगणं' वैरिओं के समूह को जीते हुए, 'जिअसव्वभयं' सब भय को जीते हुए 'भवोहरिउं' संसाररूप प्रवाह के वैरी [ऐसे]

---

† अजितं जितारिगणं, जितसर्वभयं भवौघरिपुम्।
प्रणमाम्यहं प्रयतः, पापं प्रशमयतु मे भगवन् ॥ १० ॥

'अजिअं' अजितनाथ को 'अहं' मै 'पयओ' आदरसहित 'पणमामि प्रणाम करता हूँ, 'भयवं' हे भगवन् 'मे' मेरे 'पावं' पाप को 'पसमेउ' प्रशान्त कर दीजिये ॥ ९ ॥ १० ॥

भावार्थ—इन दो छन्दों में पहले का नाम वेष्टक और दूसरे का नाम रासालुब्धक है। दोनों छन्दों में श्रीअजितनाथ की स्तुति है—

जो प्रथम गृहस्थ अवस्था में श्रावस्ती नगरी का नरपति था, जिस का संस्थान (शरीर का आकार) प्रधान हाथी के मस्तक के समान सुन्दर और विशाल था, जिस की छाती में श्रीवत्स का स्थिर लाञ्छन था, प्रधान गन्ध-हस्ति की चाल की सी जिस की चाल थी, जो प्रशंसा करने लायक है, हाथी की सूँढ़ की सी जिस की भुजाएँ थी, तपे हुए सोने के भूषण के समान जिस का अतिस्वच्छ पीत वर्ण था, अच्छे अच्छे लक्षण वाला, सौम्य और सुन्दर जिस का रूप था, सुनने में सुखकारी, आह्लादकारी और अतिरमणीय ऐसे श्रेष्ठ देव-दुन्दुभि के नाद समान अत्यन्त मधुर और कल्याणकारक जिस की वाणी थी, जिस ने वैरि-गण को और सब भयों को भी जीत लिया और जिस ने राग-द्वेषादि विकाररूप संसार-परम्परा का नाश किया, उस श्रीअजितनाथ को मैं बहुमानपूर्वक प्रणाम करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि हे भगवन् ! आप मेरे पाप को शान्त कीजिये ॥ ९ ॥ १० ॥

* कुरुजणवयहत्थिणाउरनरीसरो पढमं तओ महाचक्क-वट्टिभोए महप्पभावो, जो बावत्तरिपुरवरसहस्सवरनगर-निगमजणवयवई बत्तीसारायवरसहस्साणुयायमग्गो । चउद्-सवररयणनवमहानिहिचउसट्ठिसहस्सपवरजुवईण सुंदरवई, चुलसीहयगयरहसयसहस्ससामी छन्नवइगामकोडिसामी आसी जो भारहंमि भयवं ॥ ११ ॥ (वेड्ढओ)

तं संतिं संतिकरं, संतिण्णं सव्वभया ।
संतिं थुणामि जिणं, संतिं विहेउ मे ॥ १२॥ (रासानंदियं)

अन्वयार्थ—'जो' जो 'पढमं' पहले 'कुरुजणवय' कुरु देश के 'हत्थिणाउर' हस्तिनापुर नगर का 'नरीसरो' नरेश्वर 'तओ' इस के बाद 'महाचक्कवट्टिभोए' चक्रवर्ती के महान् भोगों को भोगने वाला [जैसे :—]'बावत्तरिपुरवरसहस्स' बहत्तर हजार प्रधान प्रधान पुर वाले 'वरनगरनिगम' श्रेष्ठ नगरों तथा निगमों से युक्त ऐसे 'जणवयवई' देश का स्वामी, 'बत्तीसारायवरसहस्स' बत्तीस हजार प्रधान राजाओं से 'अणुयायमग्गो' अनुगत मार्ग

---

* कुरुजनपदहस्तिनापुरनरेश्वरः प्रथमं ततो महाचक्रवर्तिभोगान् [प्राप्तः] महाप्रभावः, यो द्विसप्ततिपुरवरसहस्रवरनगरनिगमजनपदपतिर्द्वात्रिंशद्राजवर-सहस्रानुयातमार्गः । चतुर्दशवररत्ननवमहानिधिचतुःषष्टिसहस्रप्रवरयुवतीनां सुन्दरपतिः, चतुरशीतिहयगजरथशतसहस्रस्वामी षण्णवतिग्रामकोटिस्वामी आसीत् यो भारते भगवान् ॥ ११ ॥

तं शान्तिं शान्तिकरं, संतीर्णं सर्वभयात् ।
शान्तिं स्तौमि जिनं, शान्तिं विदधातु मे ॥ १२ ॥

वाला अर्थात् सेवित, 'चउदसवररयण' चौदह प्रधान रत्नों, 'नव-महानिहि' नव महानिधियों और 'चउसट्ठिसहस्सपवरजुवईण' चौंसठ हज़ार प्रधान युवतियों का 'सुंदरवई' सुन्दर पति, 'चुलसी-हयगयरहसयसहस्स' चौरासी लाख घोड़े, हाथी और रथों का 'सामी' स्वामी, 'छन्नवइगामकोडिसामी' छ्यानवे करोड़ गाँवों का स्वामी [इस प्रकार] 'जो' जो 'महप्पभावो' महाप्रभाव वाला [ऐसा] 'भारहंमि' भरत क्षेत्र का 'भयवं' नाथ 'आसी' हुआ।११।

'तं' उस 'संतिकरं' शान्तिकारक, 'सव्वभया' सब भय से 'संतिएणं' मुक्त [तथा] 'संतिं' शान्ति वाले [ऐसे] 'संतिजिणं' शान्तिनाथ जिनवर की 'थुणामि' [मैं] स्तुति करता हूँ; 'मे' मेरे लिये 'संतिं' शान्ति 'विहेउ' कीजिये ॥ १२ ॥

भावार्थ—इन दो छन्दों में पहले का नाम वेष्टक और दूसरे का नाम रासानन्दितक है। दोनों में सिर्फ श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है।

जो पहले तो कुरु देश की राजधानी हस्तिनापुर नगर का साधारण नरेश था, पर पीछे से जिस को चक्रवर्ती की महा-समृद्धि प्राप्त हुई, अर्थात् जिस के अधिकार में बहत्तर हजार अच्छे अच्छे परा वाले नगरों तथा निगमों (व्यापार के अड्डों) वाला देश आया, बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा जिस के अनु-गामी हुए, चौदह श्रेष्ठ रत्न, नव महानिधि, चौंसठ हजार प्रधान युवतियाँ, चौरसी लाख घोड़े, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ और छ्यानवे करोड़ गाँवं; इतना वैभव जिसे प्राप्त हुआ।

इस प्रकार भरत क्षेत्र का जो महाप्रभावशाली सम्राट् हुआ, उस स्वयं शान्ति वाले, दूसरों को शान्ति पहुँचाने वाले और सब भयों से मुक्त—सारांश यह कि पहले साधारण राजा, पीछे चक्रवर्ती और अन्त में महान् त्यागी, ऐसे श्रीशान्तिनाथ जिनवर की मैं स्तुति करता हूँ, वह श्रीशान्तिनाथ भगवान् मुझ को शान्ति देवे।

* इक्खाग विदेहनरीसर नरवसहा मुणिवसहा,
नवसारयससिसकलाणण विगयतमा विहुअरया।
अजि उत्तम तेअगुणेहिं महामुणिअभिअबला विउलकुला,
पणमामि ते भवभयमूरण जगसरणा मम सरणं ॥ १२ ॥
(चित्तलेहा ।)

अन्वयार्थ—'इक्खाग' इक्ष्वाकु वंश में जन्म लेने वाले, 'विदेहनरीसर' विदेह देश के नरपति, 'नरवसहा' नर-श्रेष्ठ, 'मुणिवसहा' मुनि-श्रेष्ठ, 'नवसारयससिसकलाणण' शरद् ऋतु के नवीन चन्द्र के समान कलापूर्ण मुख वाले, 'विगयतमा' अज्ञान-रूप अन्धकार से रहित, 'विहुअरया' कर्मरूप रज से रहित, 'तेअगुणेहिं' तेजरूप गुणों से 'उत्तम' श्रेष्ठ, 'महामुणिअमिअबला' महामुनियों के द्वारा भी नापा न जा सके ऐसे बल वाले, 'विउलकुला' विशाल कुल वाले. 'भवभयमूरण' सांसारिक

---

* ऐक्ष्वाक ! विदेहनरेश्वर ! नरवृषभ ! मुनिवृषभ !,
नवशारदशशिसकलानन ! विगततमः ! विधुतरजः ! ।
अजित ! उत्तम ! तेजोगुणैर्महामुन्यमितबल ! विपुलकुल ! ,
प्रणमामि तुभ्यं भवभयभञ्जन ! जगच्छरण ! मम शरणम् ॥१२॥

भयों को तोड़ने वाले 'जगसरणा' जगत् के लिये शरणरूप, [ऐसे] 'अजिअ' हे अजितनाथ! 'ते' तुझ को 'पणमामि' [मैं] प्रणाम करता हूँ; [तू] 'मम सरणं' मेरे लिये शरणरूप है ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस चित्रलेखा नामक छन्द में श्रीअजितनाथ प्रभु की स्तुति है।

हे इक्ष्वाकु वंश में जन्म लेने वाले! विदेह देश के स्वामी! मनुष्यों में प्राधन! मुनियों में प्रधान! शरत्काल के नवीन चन्द्र की तरह शोभमान मुख वाले! तमोगुण और कर्म-रज से मुक्त! तेजस्वी गुण वाले! बड़े बड़े मुनि भी जिस का अंदाजा नहीं लगा सकते ऐसे बल वाले! विशाल कुल वाले! दुनियाँ के भयों को मेटने वाले और जगत् को शरण देने वाले, ऐसे हे अजितनाथ भगवन्! मैं तुझ को नमस्कार करता हूँ, क्योंकि तू मेरा आधार है ॥ १३ ॥

* देवदाणविंद चंदसूरवंद हट्ठतुट्ठजिट्ठपरम-
लट्ठरूव धंतरूप्पपट्टसेयसुद्धनिद्धधवल--
दंतपंति संति सत्तिकित्तिमुत्तिजुत्तिगुत्तिपवर,
दित्ततेअवंद धेअ सव्वलोअभाविअप्पभाव णेअ पइस मे
समाहिं ॥ १४ ॥ (नारायओ ।)

---

* देवदानवेन्द्रचन्द्रसूरवन्द्य! हृष्टतुष्टज्येष्ठपरम—
लष्टरूप! ध्मातरूप्यपट्टश्वेतशुद्धस्निग्धधवल—
दन्तपङ्क्ते! शान्ते! शक्तिकीर्तिमुक्तियुक्तिगुप्तिप्रवर!,
दीप्ततेजोवृन्द! ध्येय! सर्वलोकभावितप्रभाव! ज्ञेय! प्रदिश मे समाधिम् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—'देवदाणविंद' देवेन्द्र और दानवेन्द्र के तथा 'चंदसूर' चन्द्र और सूर्य के 'वंद' वन्दनीय ! 'हट्ठ' हर्षयुक्त, 'तुट्ठ' सन्तोषयुक्त, 'जिट्ठ' अत्यन्त प्रशंसा योग्य, 'परम-लट्ठरूव' उत्कृष्ट और पुष्ट स्वरूप वाले ! 'धंत' तपायी हुई 'रूप्प' चाँदी की 'पट्ट' पाट के समान 'सेय' सफेद, 'सुद्ध' शुद्ध, 'निद्ध' चिकनी और 'धवलदंतपंति' कान्ति वाली ऐसी दाँत की पङ्क्ति वाले ! 'सत्ति' शक्ति, 'कित्ति' कीर्ति, 'मुत्ति' निर्लोभता, 'जुत्ति' युक्ति और 'गुत्ति' गुप्ति में 'पवर' प्रधान ! 'दित्त' दीप्ति वाले 'तेअ तेज के 'वंद' पुञ्ज ! धेअ ध्यान करने योग्य ! 'सव्वलोअ' सब लोक में 'भाविअप्पभाव' फैले हुए प्रभाव वाले ! [और] 'णेअ' जानने योग्य ! [ऐसे] 'संति हे शान्तिनाथ भगवन् ! 'मे' मुझ को 'समाहिं' समाधि 'पइस' दे ॥१४॥

भावार्थ—यह नाराचक छन्द है । इस में श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है ।

हे देवेन्द्र, दानवेन्द्र, चन्द्र और सूर्य को वन्दन करने योग्य ! हर्षपूर्ण, प्रसन्न, श्रेष्ठ, उत्कृष्ट और लष्ट-पुष्ट स्वरूप वाले ! तपाकर शोधी हुई चाँदी की पाट के समान सफेद, निर्मल, चिकनी और उज्ज्वल ऐसी दाँत की पङ्क्ति धारण करने वाले ! शक्ति यश निर्ममता युक्ति और गुप्ति में सर्व-श्रेष्ठ ! देदीप्यमान तेज के पुञ्ज ! ध्यान करने योग्य ! सब लोगों में विख्यात महिमा वाले ! और जानने योग्य ! ऐसे हे श्रीशान्तिनाथ भगवन् ! मुझ को शान्ति दीजिए ॥ १४ ॥

† विमलससिकलाइरेअसोमं, वितिमिरसूरकराइरेअतेअं ।
तिअसवइगणाइरेअरूवं, धरणिधरप्पवराइरेअसारं ॥१५॥
(कुसुमलया ।)

सत्ते अ सया अजिअं, सारीरे अ बले अजिअं।
तवसंजमे अ अजिअं, एस थुणामि जिणं अजिअं ॥ १६ ॥
(भुअगपरिरिंगिअं।)

अन्वयार्थ—'विमलससि' निर्मल चन्द्र की 'कला' कलाओं से 'अइरेअसोमं' अधिक शीतल, 'वितिमिर' आवरणरहित 'सूर' सूर्य की 'कर' किरणों से 'अइरेअतेअं' अधिक तेजस्वी, 'तिअसवइ' इन्द्रों के 'गण' गण से 'अइरेअरूवं' अधिक रूप वाले [और] 'धरणिधरप्पवर' पर्वतों में मुख्य अर्थात् सुमेरु से 'अइरेअसारं' अधिक दृढता वाले [ऐसे, तथा—]

'सत्ते' आत्म-बल में 'सया अजिअं' सदा अजेय 'अ' और 'सारीरे बले' शरीर के बल में 'अजिअं' अजेय 'अ' तथा 'तवसंजमे' तपस्या और संयम में 'अजिअं' अजेय [ऐसे] 'अजिअं जिणं' अजितनाथ जिन की 'एस' यह अर्थात् मैं 'थुणामि' स्तुति करता हूँ ॥ १५ ॥ १६ ॥

---

† विमलशशिकलातिरेकसौम्यं, वितिमिरसूरकरातिरेकतेजसम् ।
त्रिदशपतिगणातिरेकरूपं, धरणिधरप्रवरातिरेकसारम् ॥ १५ ॥
सत्त्वे च सदाऽजितं, शारीरे च बलेऽजितम् ।
तपःसंयमे चाऽजितमेष स्तौमि जिनमजितम् ॥ १६ ॥

भावार्थ—इन दो छन्दों में पहला कुसुमलता और दूसरा भुजगपरिरिङ्गित है। इन में श्रीअजितनाथ की स्तुति है।

विशुद्ध चन्द्र की कलाओं से भी ज्यादा शीतल, बादलों से नहीं घिरे हुए सूर्य की किरणों से भी विशेष तेज वाले, इन्द्रों से भी अधिक सुन्दरता वाले और सुमेरु से भी विशेष स्थिरता वाले तथा आत्मिक बल में, शारीरिक बल में और संयम-तपस्या में सदा अजेय, ऐसे श्रीअजितनाथ जिनेश्वर को मैं स्तवन करता हूँ ॥ १५ ॥ १६ ॥

*** सोमगुणेहिं पावइ न तं नवसरयससी,**
तेअगुणेहिं पावइ न तं नवसरयरवी।
रूवगुणेहिं पावइ न तं तिअसगणवई,
सारगुणेहिं पावइ न तं धरणिधरवई ॥१७॥ (खिज्जिअयं।)

तित्थवरपवत्तयं तमरयरहियं, धीरजणथुअच्चिअं चुअ-कलिकलुसं। संतिसुहपवत्तयं तिगरणपयओ, संतिमहं महा-मुणिं सरणमुवणमे ॥१८॥ (ललिअयं।)

अन्वयार्थ—'नव' नवीन 'सरयससी' शरद् ऋतु का चन्द्र 'सोमगुणेहिं' शीतलता के गुणों में 'तं' उस को 'न पावइ' नहीं

---

* सौम्यगुणैः प्राप्नोति न तं नवशरच्छशी,
तेजोगुणैः प्राप्नोति न तं नवशरद्रविः।
रूपगुणैः प्राप्नोति न तं त्रिदशगणपतिः,
सारगुणैः प्राप्नोति न तं धरणिधरपतिः ॥१७॥

तीर्थवरप्रवर्तकं तमरजोरहितं, धीरजनस्तुतार्चितं च्युतकलिकालुष्यम्। शान्तिसुखप्रवर्तकं त्रिकरणप्रयतः, शान्तिमहं महामुनिं शरणमुपनमामि॥१८॥

पाता है, 'नव' नवीन 'सरयरवी' शरत्काल का सूर्य 'तेअगुणेहिं' तेज के गुणों में 'तं' उस को 'न पावइ' नहीं पाता है, 'तिअस-गणवई' देव-गणों का पति 'रूवगुणेहिं' रूप के गुणों में 'तं' उस को 'न पावइ' नहीं पाता है [और] 'धरणिधरवई' पर्वतराज 'सारगुणेहिं' दृढता के गुणों में 'तं' उस को 'न पावइ' नहीं पाता है।

'तित्थवरपवत्तयं' श्रेष्ठ तीर्थ के प्रवर्तक, 'तमरयरहियं' अज्ञान-अन्धकार और कर्म-रज से रहित, 'धीरजण' पण्डित लोगों के द्वारा 'थुअच्चिअं' स्तवन और पूजन किये गये, 'चुअकलिकलुसं' कलह और कलुष भाव से मुक्त, 'संतिसुहपवत्तयं' शान्ति और सुख के प्रवर्तक [और] 'महामुणिं' महान् मुनि [ऐसे] 'संतिम्' श्रीशान्तिनाथ की 'सरणम्' शरण को 'तिगरणपयओ' त्रिकरण से सावधान हो कर 'अहं' मैं 'उवणमे' प्राप्त करता हूँ॥१७॥१८॥

भावार्थ—खिद्यकत और ललितक नामक इन दो छन्दों में श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है।

शीतलता के गुणों में शरत्काल का पूर्ण चन्द्र, तेज के गुणों में शरत्काल का प्रखर सूर्य, सौन्दर्य के गुणों में इन्द्र और दृढता के गुणों में सुमेरु श्रीशान्तिनाथ की बराबरी नहीं कर सकते। सारांश, श्रीशान्तिनाथ भगवान् उक्त गुणों में इन्द्रादि से बढ़ कर है। उत्तम धर्म-तीर्थ को चलाने वाले, अज्ञान और कर्म-मल से परे, विद्वज्जनों के द्वारा स्तवन और पूजन को प्राप्त,

क्लेश और मलिनता से रहित, शान्ति व सुख के प्रचारक और महामुनि, ऐसे श्रीशान्तिनाथ भगवान् की मैं मन, वचन, काया से शरण लेता हूँ ॥ १७ ॥ १८ ॥

* विणओणयसिररइअंजलिरिसिगणसंथुअं थिमिअं,
विबुहाहिवधणवइनरवइथुअमहिअच्चिअं बहुसो ।
अइरुग्गयसरयदिवायरसमहिअसप्पभं तवसा,
गयणंगणवियरणसमुइअचारणवंदिअं सिरसा ॥१९॥
(किसलयमाला ।)

असुरगरुलपरिवंदिअं, किन्नरोरगनमंसिअं ।
देवकोडिसयसंथुअं, समणसंघपरिवंदिअं॥२०॥(सुमुहं।)
अभयं अणहं, अरयं अरुयं ।
अजिअं अजिअं, पयओ पणमे ।२१। (विज्जुविलसिअं।)

अन्वयार्थ—'विणओणय' विनय से नमे हुए 'सिर' मस्तक पर 'रइअंजलि' रची हुई अञ्जलि वाले 'रिसिगण' ऋषि-गण के द्वारा 'संथुअं' भले प्रकार स्तवन किये गये,

---

* विनयावनतशिरोरचिताञ्जलिऋषिगणसंस्तुतं स्तिमितं,
विबुधाधिपधनपतिनरपतिस्तुतमहितार्चितं बहुशः ।
अचिरोद्गतशरद्दिवाकरसमाधिकसत्प्रभं तपसा,
गगनाङ्गनविचरणसमुदितचारणवन्दितं शिरसा ॥१९॥
असुरगरुडपरिवन्दितं, किन्नरोरगनमस्यितम् ।
देवकोटिशतसंस्तुतं, श्रमणसंघपरिवन्दितम् । २०।
अभयमनघमरतमरुजम् । अजितमजितं, प्रयतः प्रणमामि ॥२१॥

'थिमिअं' निश्चल 'बहुसो' अनेक वार 'विबुहाहिव' देवपति के द्वारा 'धणवइ' धनपति के द्वारा 'नरवइ' नरपति के द्वारा 'थुअ' स्तवन किये गये 'महिअ' नमस्कार किये गये और 'अच्चिअं' पूजन किये गये 'तवसा' तप से 'अइरुग्गय' तत्काल उगे हुए 'सरयदिवायर' शरत्काल के सूर्य से 'समहिअ' अधिक 'सप्पभं' प्रभा वाले [और] 'सिरसा' मस्तक नमा कर 'गयणंगण' आकाश-मण्डल में 'वियरण' विचरण करके 'समुइअ' इकट्ठे हुए 'चारण' चारण मुनियों के द्वारा 'वंदिअं' वन्दन किये गये [ऐसे, तथा—]

'असुर' असुरकुमारों से और 'गरुल' सुवर्णकुमारों से 'परिवंदिअं' अच्छी तरह वन्दन किये गये 'किन्नर' किन्नरों से और 'उरग' नागकुमारों से 'नमंसिअं' नमस्कार किये गये 'कोडिसय' सैकड़ों करोड़ 'देव' देवों से 'संथुअं' स्तवन किये गये [और] 'समणसंघ' श्रमण-संघ के द्वारा 'परिवंदिअं' पूरे तौर से वन्दन किये गये [ऐसे, तथा—]

'अभयं' निर्भय, 'अणहं' निष्पाप, 'अरयं' अनासक्त, 'अरुयं' नीरोग [और] 'अजिअं' अजेय [ऐसे] 'अजिअं' श्रीअजितनाथ को 'पयओ' सावधान हो कर 'पणमे' [मैं] प्रणाम करता हूँ ॥ १९–२१ ॥

भावार्थ—किसलयमाला, सुमुख और विद्युद्विलसित नामक इन तीनों छन्दों में श्रीअजितनाथ की स्तुति की गई है।

ऋषियों ने विनय से सिर झुका कर और अञ्जलि बाँध कर जिस की अच्छी तरह स्तुति की है, जो निश्चल है, इन्द्र, कुबेर और चक्रवर्ती तक ने जिस की वार वार स्तुति, वन्दना और

पूजा की है, तपस्या के कारण जिस का तेज शरत्काल के प्रखर सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान है और आकाश-मार्ग से घूमते घूमते इकट्ठे हुए ऐसे जङ्घाचारण, विद्याचारण आदि मुनियों ने सिर झुका कर जिस को वन्दन किया है, असुरकुमार, सुवर्ण-कुमार, किन्नर और नागकुमारों ने जिस को अच्छी तरह नमस्कार किया है, करोड़ों देवों ने जिस की स्तुति की है, साधु-गण ने जिस को विधिपूर्वक वन्दन किया है, जिस के न कोई भय है, न कोई दोष है, न किसी तरह का राग तथा रोग है और जो अजेय है, उस श्रीअजितनाथ को मैं आदरपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

* आगया वरविमाणदिव्वकणग,-रहतुरयपहकरसएहिं हुलिअं। ससंभमोअरणखुभियलुलियचल,-कुंडलंगयतिरीड-सोहंतमउलिमाला ॥ २२ ॥ (वेड्ढओ।)

जं सुरसंघा सासुरसंघा वेरविउत्ता भत्तिसुजुत्ता,
आयरभूसिअसंभमपिंडिअसुट्ठुसुविम्हियसव्वबलोघा।
उत्तमकंचणरयणपरूवियभासुरभूसणभासुरिअंगा,
गायसमोणयभत्तिवसागयपंजलिपेसियसीसपणामा ॥ २३ ॥
(रयणमाला।)

---

* आगताः वरविमानदिव्यकनकरथतुरगसंघातशतैः शीघ्रम्।
ससंभ्रमावनरणक्षुभितलुलितचलकुण्डलाङ्गदकिरीटशोभमानमौलिमालाः ॥ २२ ॥

यं सुरसंघाः सासुरसंघाः वैरवियुक्ताः भक्तिसुयुक्ताः,
आदरभूषितसंभ्रमपिण्डितसुष्ठुसुविस्मितसर्वबलाघाः।
उत्तमकाञ्चनरत्नप्ररूपितभासुरभूषणभासुरिताङ्गाः,
गात्रसमवनताः भक्तिवशागताः प्राञ्जलिप्रेषितशीर्षप्रणामाः ॥ २३ ॥

† वंदिऊण थोऊण तो जिणं, तिगुणमेव य पुणो पयाहिणं ।
पणमिऊण य जिणं सुरासुरा, पमुइआ सभवणाइँ तो गया ॥२४॥
(खित्तयं ।)

तं महामुणिमहं पि पंजली, रागदोसभयमोहवज्जियं ।
देवदाणवनरिंदवंदिअं, संतिमुत्तममहातवं नमे ॥२५॥
(खित्तयं ।)

अन्वयार्थ—'वरविमाण' उत्तम विमान, 'दिव्वकणगरह' दिव्य सुवर्णमय रथ और 'तुरय' अश्वों के 'पहकरसएहिं' सैकड़ों समूहों से 'हुलिअं' शीघ्र 'आगया' आये हुए, 'ससंभमोअरण' जल्दी उतरने के कारण 'खुभिय' व्यग्र, 'लुलिय' हिलने वाले और 'चल' चञ्चल [ऐसे] 'कुंडल' कुण्डलों, 'अंगय' बाजूबन्धों तथा 'तिरीड' मुकटों से 'सोहंतमउलिमाला' शोभमान [ऐसी] मस्तक माला वाले, [ऐसे, तथा—]

'आयरभूसिअ' इच्छापूर्वक भूषण पहिने हुए, 'संभमपिंडिअ' त्वरा से इकट्ठे हुए और 'सुट्ठुसुविम्हिय' अत्यन्त विस्मित [ऐसे] 'सव्वबलोघा' संपूर्ण परिवार-वर्ग को लिये हुए, 'उत्तमकं-

---

† वान्दित्वा स्तुत्वा ततो जिनं, त्रिगुणमेव च पुनः प्रदक्षिणम् ।
प्रणम्य च जिनं सुरासुराः, प्रमुदिताः स्वभवनानि ततो गताः ॥२४॥

तं महामुनिमहमपि प्राञ्जलिः, रागद्वेषभयमोहवर्जितम् ।
देवदानवनरेन्द्रवन्दितं, शान्तिमुत्तममहातपसं नमामि ॥२५॥

चणरयण' उत्तम सुवर्ण और रत्नों से 'परूविय' प्रकाशित तथा 'भासुरभूसण' देदीप्यमान भूषणों से 'भासुरिअंगा' शोभमान अङ्ग वाले, 'गायसमोणय' नमे हुए शरीर वाले, 'भत्तिवसागय' भक्ति-वश आये हुए, 'पंजलिपेसियसीसपणामा' अञ्जलियुक्त मस्तक से प्रणाम करने वाले, 'वेरविउत्ता' शत्रुतारहित [और] 'भत्तिसुजुत्ता' भक्ति में तत्पर [ऐसे] 'सासुरसंघा' असुर-गणसहित 'सुरसंघा' सुर-गण [अर्थात्] 'सुरासुरा' सुर और असुर 'जं' जिस—

'जिणं' जिनेश्वर को 'वंदिऊण' वन्दन करके 'थोऊण' स्तवन कर के 'य' तथा 'तो' इस के बाद 'तिगुणमेव' तीन वार 'पयाहिणं' प्रदक्षिणापूर्वक 'पणमिऊण' प्रणाम करके 'तो' पीछे 'पमुइआ' प्रमुदित हो कर 'सभवणाइं' अपने भवनों में 'गया' चले गये—

'तं' उस 'रागदोसभयमोहवज्जियं' राग, द्वेष, भय और मोह से वर्जित, 'देवदाणवनरिंदवंदिअं' देवों, दानवों और नरेन्द्रों के द्वारा वन्दित, 'उत्तममहातवं' उत्तम और महान् तप वाले [ऐसे] 'संतिम्' श्रीशान्तिनाथ 'महामुणिम्' महामुनि को 'अहं पि' मैं भी 'पंजली' अञ्जलि किये हुए 'नमे' नमन करता हूँ ॥२२—२५॥

भावार्थ—इन चार छन्दों में से पहले का नाम वेष्टक, दूसरे का रत्नमाला और तीसरे और चौथे का क्षिप्तक है। चारों में श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है। इस में कवि ने पहले यह दिखाया

है कि जब भगवान् को वन्दन करने के लिये देव-दानव आते हैं, तब वे किस किस प्रकार के वाहन ले कर, कैसा वेश पहन कर, किस प्रकार के परिवार को ले कर और कैसे भाव वाले हो कर आते हैं। इस के बाद यह वर्णन किया है कि वे सभी देव-दानव वन्दन, स्तवन आदि करके बहुत प्रसन्न हो कर वापस जाते हैं और अन्त में कवि ने भगवान् को नमस्कार किया है।

जल्दी जल्दी आकाश से उतरने के कारण इधर उधर खिसके हुए, हिलायमान और चञ्चल ऐसे कुण्डल, बाजूबन्ध तथा मुकुटों से जिन के मस्तक शोभमान हो रहे हैं, जिन का सारा परिवार खुशी से अलंकारों को पहन कर और अत्यन्त अचरजसहित जल्दी एकत्र हो कर साथ आया है जिन के शरीर उत्तम सुवर्ण तथा रत्नों से बने हुए प्रकाशमान आभरणों से सुशोभित है; जिन्हों ने भक्ति-वश शरीर नमा कर और सिर पर अञ्जलि रख कर प्रणाम किया है, जिन्हों ने शत्रुभाव छोड़ दिया है और जो भक्ति-परायण हैं, ऐसे देव तथा असुर के समूह अपने अपने प्रधान विमान, सुवर्ण के रथ और अश्वों के समूहों को ले कर जिस भगवान् को वन्दन करने के लिये शीघ्र आये और पीछे वन्दन, स्तवन तथा तीन वार प्रदक्षिणापूर्वक प्रणाम करके प्रसन्न हो अपने अपने स्थान को लौट गये; उस वीतराग और महान् तपस्वी श्रीशान्तिनाथ भगवान् को मैं भी हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ ॥ २२—२५ ॥

* अंबरंतरविआरिणिआहिं, ललिअहंसवहुगामिणिआहिं।
पीणसोणिथणसालिणिआहिं, सकलकमलदललोअणिआहिं
॥२६॥ (दीवयं ।)

पीणनिरंतरथणभरविणमिअगायलआहिं,
मणिकंचणपसिढिलमेहलसोहिअसोणितडाहिं ।
वरखिंखिणिनेउरसतिलयवलयविभूसणिआहिं,
रइकरचउरमणोहरसुंदरदंसणिआहिं॥२७॥(चित्तक्खरा।)

देवसुंदरीहिं पायवंदिआहिं वंदिआ य जस्स ते सुविक्कमा कमा, अप्पणो निडालएहिं मंडणोड्डणप्पगारएहिं केहिं केहिं वि । अवंगतिलयपत्तलेहनामएहिं चिल्लएहिं संगयंगयाहिं, भत्तिसंनिविट्ठवंदणागयाहिं हुंति ते वंदिआ पुणो पुणो ॥ २८ ॥ (नारायओ ।)

---

* अम्बरान्तरविचारिणीभिः, ललितहंसवधूगामिनीभिः ।
पीनश्रोणिस्तनशालिनीभिः, सकलकमलदललोचनिकाभिः ॥ २६ ॥

पीनानिरन्तरस्तनभरविनमितगात्रलताभिः,
मणिकाञ्चनप्रशिथिलमेखलाशोभितश्रोणीतटाभिः ।
वरकिङ्किणीनूपुरसतिलकवलयाविभूषणिकाभिः,
रतिकरचतुरमनोहरसुन्दरदर्शनिकाभिः ॥ २७ ॥

देवसुन्दरीभिः पादवन्दिकाभिर्वन्दितौ च यस्य तौ सुविक्रमौ क्रमौ,
आत्मनो ललाटकैर्मण्डनरचनाप्रकारकैः कैः कैरपि ।
अपाङ्गतिलकपत्रलेखनामकैर्दीप्यमानैः संगताङ्गकाभिः,
भक्तिसंनिविष्टवन्दनागताभिर्भवतौ वन्दितौ तौ पुनः पुनः ॥२८॥

* तमहं जिणचंदं, अजिअं जिअमोहं।
धुयसव्वकिलेसं, पयओ पणमामि ॥२९॥ (नंदिअयं।)

अन्वयार्थ—'अंबरंतर' आकाश के बीच 'विआरिणिआहिं' विचरने वाली, 'ललिअ' ललित 'हंसवहु' हंसनी की तरह 'गामिणिआहिं' गमन करने वाली, 'पीण' पुष्ट ऐसे 'सोणि' नितम्ब तथा 'थण' स्तनों से 'सालिणिआहिं' शोभने वाली, 'सकल' अखण्डित 'कमलदल' कमल-पत्रों के समान 'लोआणिआहिं' लोचन वाली [ऐसी, तथा—]

'पीण' पुष्ट और 'निरंतर' अन्तररहित [ऐसे] 'थण' स्तनों के 'भर' भार से 'विणमिअगायलआहिं' नमे हुए लतारूप शरीर वाली, 'मणिकंचण' रत्न और सुवर्ण की 'पासिढिल' शिथिल 'मेहल' कर्धनी से 'सोहिअसोणितडाहिं' सुशोभित कटी तट वाली, 'वरखिंखिणिनेउर' उत्तम घुँघरू वाले झाँझर, 'सतिलय' सुन्दर तिलक और 'वलय' कङ्कणरूप 'विभूसणिआहिं' भूषणों को धारण करने वाली, 'रइकर' प्रीतिकारक और 'चउरमणोहर' चतुर मनुष्य के मन को हरने वाले [ऐसे] 'सुंदरदंसणिआहिं' सुन्दर रूप वाली [ऐसी, तथा-]

'पायवंदिआहिं' किरणों के समूह वाली, [तथा] 'चिल्लएहिं' देदीप्यमान [ऐसे] 'अवंग' नेत्र-प्रान्त अर्थात् उस में लगा हुआ काजल, 'तिलय' तिलक तथा 'पत्तलेहनामएहिं' पत्रलेखा नामक 'केहिं केहिं वि' किन्हीं किन्हीं 'मंडणोड्डणप्पगारएहिं' आभूषण-

* तमहं जिनचन्द्रमजितं जितमोहम्। धुतसर्वक्लेशं, प्रयतः प्रणमामि ॥२९॥

रचना के प्रकारों से 'संगयंगयाहिं' युक्त अङ्ग वाली, [और] 'भक्तिसंनिविट्ठ' भक्तियुक्त हो कर 'वंदणागयाहिं' वन्दन के लिये आई हुई [ऐसी] 'देवसुंदरीहिं' देवाङ्गनाओं के द्वारा 'अप्पणो' अपने 'निडालएहिं' ललाटों से 'जस्स' जिस के 'ते' प्रसिद्ध [और] 'सुविक्कमा' सुन्दर गति वाले 'कमा' चरण 'वंदिआ' वन्दन किये गये [और] 'पुणो पुणो' वार वार 'वंदिआ' वन्दन किये गये 'हुंति' हैं,—

'तम्' उस 'जिअमोहं' मोह को जीते हुए [और] 'धुअसव्वकिलेसं' सब क्लेशों को नष्ट किये हुए [ऐसे] 'अजिअं' अजितनाथ 'जिणचंदं' जिनेश्वर को 'अहं' मै 'पयओ' सावधान हो कर 'पणमामि' प्रणाम करता हूँ ॥ २६—२९ ॥

भावार्थ—दीपक, चित्राक्षरा, नाराचक और नन्दितक नामक इन चार छन्दों में श्रीअजितनाथ की स्तुति है। इस में भगवान् को वन्दन करने के लिये आने वाली देवाङ्गनाओं का वर्णन है।

जो आकाश के बीच में विचरने वाली हैं, जिन की चाल सुन्दर हंसनी की सी है, जो पुष्ट अङ्गों से शोभमान हैं, अखण्डित कमल-पत्र के समान जिन के नेत्र हैं, छाती के बोझ से जिन की देह नमी हुई है, मणि और सुवर्ण की बनी हुई कुछ ढीली मेखला से जिन की कमर सुशोभित है, जिन्हों ने अच्छे अच्छे घुंघरू वाले झाँझर, सुन्दर तिलक और कंकण से सिंगार

किया है, जिन का सुन्दर रूप प्रीतिकारक होने से चतुर लोगों के मन को खींचने वाला है, जिन के शरीर से तेज प्रकट होता है, जिन्हों ने नेत्रों में काजल, ललाट में तिलक और गाल पर चित्र-लेखा (कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थों की चित्र-रचना) इत्यादि प्रकार के सुन्दर शृङ्गारों की विविध रचना करके शरीर को अलंकृत किया है, ऐसी देवाङ्गनाओं ने भक्ति से सिर झुका कर जिस भगवान् के चरणों को सामान्य तथा विशेष-रूप से वार वार वन्दन किया, उस मोह-विजयी और सब क्लेशों को दूर करने वाले अजितनाथ जिनेन्द्र को मैं बहुमानपूर्वक प्रणाम करता हूँ ॥ २८—२९ ॥

× थुअवंदिअस्सा रिसिगणदेवगणेहिं,
तो देववहुहिं पयओ पणमिअस्सा ।
जस्सजगुत्तमसासणअस्सा भत्तिवसागयपिंडिअयाहिं,
देववरच्छरसाबहुआहिं सुरवररइगुणपंडियआहिं ॥३०॥
(भासुरयं ।)

× स्तुतवन्दितस्य ऋषिगणदेवगणैः,
ततो देववधूभिः प्रयतः प्रणतस्य ।
जास्यजगदुत्तमशासनस्य भक्तिवशागतपिण्डितकाभिः,
देववराप्सरोबहुकाभिः सुरवररतिगुणपण्डितकाभिः ॥३० ॥

* वंससद्दतंतितालमेलिए तिउक्खराभिरामसद्दमीसए कए अ, सुइसमाणणे अ सुद्धसज्जगीयपायजालघंटिआहिं । वलयमेहलाकलावनेउराभिरामसद्दमीसए कए अ, देवनट्टिआहिं हावभावविब्भमप्पगारएहिं नच्चिऊण अंगहारएहिं । वंदिआ य जस्स ते सुविक्कमा कमा तयं तिलोयसव्वसत्तसंतिकारयं, पसंतसव्वपावदोसमेसहं नमामि संतिमुत्तमं जिणं ॥३१॥

(नारायओ ।)

अन्वयार्थ—'भत्तिवसागय' भक्ति-वश आई हुई और 'पिंडिअयाहिं' मिली हुई [तथा] 'सुर' देवों को 'वररइगुण' उच्च प्रकार का विनोद कराने में 'पंडियआहिं' दक्ष [ऐसी] 'देव' देवों की 'वरच्छरसाबहुआहिं' अनेक अनेक प्रधान अप्सराओं के द्वारा 'वंससद्द' बंसी के शब्द 'तंति' वीणा और 'ताल' तालों के 'मेलिए' मिलाने वाला, [तथा] 'तिउक्खर' त्रिपुष्कर नामक वाद्य के 'अभिरामसद्द' मनोहर शब्दों से 'मीसए' मिश्रित 'कए' किया गया, 'अ' तथा 'सुद्धसज्जगीय' शुद्ध षड्ज स्वर के गीत और 'पायजालघंटिआहिं' पैर के आभूषणों के घुँघरुओं

* वंशशब्दतन्त्रीतालमिलिते त्रिपुष्कराभिरामशब्दमिश्रके कृते च,
श्रुतिसमानने च शुद्धषड्जगीतपादजालघण्टिकाभिः ।
वलयमेखलाकलापनूपुराभिरामशब्दमिश्रके कृते च,
देवनर्तकीभिः हावभावविभ्रमप्रकारकैः नर्तित्वाऽङ्गहारकैः ।
वन्दितौ च यस्य तौ सुविक्रमौ क्रमौ तकं त्रिलोकसर्वसत्त्वशान्तिकारकं,
प्रशान्तसर्वपापदोषमेष अहं नमामि शान्तिमुत्तमं जिनम् ॥ ३१ ॥

से 'सइसमाणणे' कर्ण को सुख देने वाला 'अ' और 'वलय-मेहलाकलाव' कङ्कण तथा मेखला के समूह के और 'नेउर' झाँझर के 'अभिरामसद्द' मनोहर शब्दों से 'मीसए कए' मिश्रित किया गया [ऐसा संगीत प्रवृत्त किये जाने पर] 'रिसिगण' ऋषि-गण और 'देवगणेहि' देव-गणों से 'थुअवंदिअस्सा' स्तवन किये गये तथा वन्दन किये गये, 'तो' इस के बाद 'देव-वहुहिं' देवाङ्गनाओं से 'पयओ' आदरपूर्वक 'पणमिअस्सा' प्रणाम किये गये [और] 'जस्स' मोक्ष के योग्य तथा 'जगुत्त-मसासणअस्सा' लोक में उत्तम ऐसे शासन वाले 'जस्स' जिस भगवान् के 'सुविक्कमा' सुन्दर गति वाले 'ते' प्रसिद्ध 'कमा' चरणों को 'देवनट्टिआहिं' देव-नर्तकिओं ने 'हावभावविब्भमप्प-गारएहिं' हाव, भाव और विभ्रम के प्रकार वाले 'अंगहारएहिं' अङ्ग विक्षेपों से 'नच्चिऊण' नाच करके 'वंदिआ' वन्दन किया 'तयं' उस 'तिलोयसव्वसत्तसंतिकारयं' तीन लोक के सब प्राणियों को शान्ति पहुँचाने वाले [और] 'पसंतसव्वपावदोसम्, सब पाप-दोषों को शान्त किये हुए [ऐसे] 'उत्तमं' श्रेष्ठ 'संतिम् जिणं' शान्तिनाथ जिनवर को 'एसहं' यह मै 'नमामि' नमन करता हूँ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

भावार्थ—इन भासुरक और नाराचक नामक छन्दों में श्रीशान्तिनाथ की स्तुति है । इस में देवाङ्गनाएँ संगीत तथा नाच-पूर्वक भगवान् का वन्दन करती हैं; इस बात का वर्णन है ।

देवों को विनोद कराने में दक्ष, ऐसी अनेक प्रधान अप्सराएँ भक्ति-वश आ कर आपस में मिलीं। मिल कर उन्हों ने शुद्ध षड्ज स्वर का गीता गाना शुरू किया, जो वंसी तथा वीत्त के स्वर और ताल के मिलाने वाला त्रिपुष्कर नामक वाद्य के मनोहर शब्दों से युक्त, कङ्कणों, मेखलाओं और झाँझरों के अभिराम शब्दों से मिश्रित तथा पैर के जालीबन्ध घुँघरुओं से कर्ण-प्रिय था। इस प्रकार का संगीत चल ही रहा था कि नाच करने वाली देवाङ्गनाओंने अनेक प्रकार के हाव, भाव और विभ्रम वाले अभिनय से नाचना आरम्भ किया और नाच कर उन्हों ने ऋषियों, देवों और देवाङ्गनाओं के द्वारा सादर स्तुत, वन्दित तथा प्रणत और सर्वोत्तम शासन के प्रवर्तक, ऐसे जिस भगवान् के चरणों को वन्दन किया, उस तीन लोक के शान्तिकारक तथा सकल पाप-दोष-रहित श्रीशान्तिनाथ जिनेश्वर को मैं नमन करता हूँ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

† छत्तचामरपडागजूअजवमंडिआ,
झयवरमगरतुरयसिरिवच्छसुलंछणा ।
दीवसमुद्दमंदरदिसागयसोहिआ,
सत्थिअवसहसीहरहचक्कवरंकिया ॥ ३२ ॥ (ललिअयं ।)

---

† छत्रचामरपताकायूपयवमण्डिताः,
ध्वजवरमकरतुरगश्रीवत्ससुलाञ्छनाः ।
द्वीपसमुद्रमन्दरादिग्गजशोभिताः,
स्वस्तिकवृषभसिंहरथचक्रवराङ्किताः ॥ ३२ ॥

* सहावलट्ठा समप्पइट्ठा, अदोसदुट्ठा गुणेहिं जिट्ठा ।
पसायसिट्ठा तवेण पुट्ठा, सिरीहिं इट्ठा रिसीहिं जुट्ठा ।३३।
(वाणवासिआ ।)

ते तवेण धुअसव्वपावया, सव्वलोअहिअमूलपावया ।
संथुआ अजिअसंतिपायया, हुंतु मे सिवसुहाण दायया।३४।
(अपरांतिका ।)

अन्वयार्थ—'छत्त' छत्र, 'चामर' चामर, 'पडाग' पताका, 'जूअ' यज्ञस्तम्भ और 'जव' यव से 'मंडिआ' अलंकृत; 'झयवर' श्रेष्ठ ध्वजदण्ड, 'मगर' मगर, 'तुरय' अश्व और 'सिरिवच्छ' श्रीवत्सरूप 'सुलंछणा' श्रेष्ठ लाञ्छन वाले; 'दीव' द्वीप, 'समुद्द' समुद्र, 'मंदर' मेरु पर्वत और 'दिसागय' दिग्गजों से 'सोहिआ' शोभमान; 'सत्थिअ' स्वस्तिक, 'वसह' वृषभ, 'सीह' सिंह, 'रह' रथ और 'चक्कवर' प्रधान चक्र से 'अंकिया' अङ्कित [ऐसे, तथा—]

'सहावलट्ठा' स्वभाव से सुन्दर, 'समप्पइट्ठा' समभाव में स्थिर, 'अदोसदुट्ठा' दोषरहित, 'गुणेहिं जिट्ठा' गुणों से बड़े, 'पसायसिट्ठा' प्रसाद गुण से श्रेष्ठ, 'तवेण पुट्ठा' तप से पुष्ट, 'सिरीहिं इट्ठा' लक्ष्मी से पूजित, 'रिसीहिं जुट्ठा' ऋषियों से सेवित [ऐसे, तथा—]

---

* स्वभावलष्टाः समप्रतिष्ठाः, अदोषदुष्टाः गुणैर्ज्येष्ठाः ।
प्रसादश्रेष्ठास्तपसा पुष्टाः, श्रीभिरिष्टाः ऋषिभिर्जुष्टाः ॥ ३३ ॥
ते तपसा धुतसर्वपापकाः, सर्वलोकहितमूलप्रापकाः ।
संस्तुताः अजितशान्तिपादाः, भवन्तु मे शिवसुखानां दायकाः ॥ ३४ ॥

'तवेण' तप से 'धुअसव्वपावया' सब पापों को धोये हुए. 'सव्वलोअ' सब लोगों को 'हियमूलपावया' हित का असली रास्ता दिखाने वाले, [और] 'संथुआ' अच्छी तरह स्तुति किये गये [ऐसे] 'ते' वे 'अजिअसंतिपायया' पूज्य अजितनाथ तथा शान्तिनाथ 'मे' मुझ को 'सिवसुहाण' मोक्ष-सुख के 'दायया' देने वाले 'हुंतु' हों ॥ ३२-३४ ॥

भावार्थ—इन ललितक, वानवासिका तथा अपरान्तिका नामक तीन छन्दों में श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों की स्तुति है। पहले छन्द में उन के छत्र, चामर आदि शारीरिक लक्षणों का वर्णन है, दूसरे में स्वभाव-सौन्दर्य आदि आन्तरिक गुणों का व विभूतियों का वर्णन है और तीसरे में उन के निर्दोषत्व गुण की तथा हित-मार्ग दरसाने के गुण की प्रशंसा करके कवि ने उन से सुख के लिये प्रार्थना की है।

जिन के अङ्गों में छत्र, चामर, ध्वजा, यज्ञस्तम्भ, जौ, ध्वजदण्ड, मकर, अश्व, श्रीवत्स, द्वीप, समुद्र, सुमेरु पर्वत, दिग्गज, स्वस्तिक, बैल, सिंह, रथ और चक्र के उत्तम चिह्न व लक्षण हैं, स्वभाव जिन का उत्तम है, समभाव में जिन की स्थिरता है, दोष जिन से दूर हो गये हैं, गुणों से जिन्हों ने महत्ता प्राप्त की है, जिन की प्रसन्नता सर्वोत्तम है, जिन को तपस्या में ही सन्तोष है, लक्ष्मी ने जिन का आदर किया है, मुनियों ने जिन की सेवा की है, जिन्हों ने तप के बल से सब

पाप-मल को धो डाला है, जिन्हों ने सब भव्य लोगों को हित का रास्ता दिखाया है और जिन की सब लोगों ने अच्छी तरह स्तुति की है, वे पूज्य अजितनाथ तथा शान्तिनाथ प्रभु मुझ को मोक्ष-सुख देवें ॥ ३२—३४ ॥

* **एवं तवबलविउलं, थुअं मए अजिअसंतिजिणजुअलं ।**
ववगयकम्मरयमलं, गइं गयं सासयं विउलं ॥३५॥

(गाहा ।)

अन्वयार्थ—'तवबलविउलं' तप के बल से महान्, 'ववगयकम्मरयमलं' कर्म-रज के मल से रहित, [और] 'सासयं' शाश्वती [तथा] 'विउलं' विशाल [ऐसी] 'गइं' गति को 'गयं' प्राप्त [ऐसे] 'अजिअसंतिजिणजुअलं' अजितनाथ तथा शान्तिनाथ जिन-युगल का 'मए' मैं ने 'एवं' इस प्रकार 'थुअं' स्तवन किया ॥३५॥

भावार्थ—इस गाथा नामक छन्द में स्तवन का उपसंहार है।

जिन का तपोबल अपरिमित है, जिन के सब कर्म नष्ट हुए हैं और जो शाश्वती तथा विशाल मोक्ष-गति को पाये हुए हैं, ऐसे श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ जिनेश्वर का मैं ने इस प्रकार स्तवन किया ॥ ३५ ॥

---

* एवं तपोबलविपुलं, स्तुतं मयाऽजितशान्तिजिनयुगलम् ।
व्यपगतकर्मरजोमलं, गतिं गतं शाश्वतीं विपुलाम् ॥ ३५ ॥

† तं बहुगुणप्पसायं, मुक्खसुहेण परमेण अविसायं ।
नासेउ मे विसायं, कुणउ अ परिसा वि अ प्पसायं ॥३६॥
(गाहा ।)

अन्वयार्थ—'बहुगुणप्पसायं' बहुत गुणों के प्रसाद से युक्त, 'परमेण' उत्कृष्ट 'मुक्खसुहेण' मोक्ष-सुख के निमित्त से 'अविसायं' खेदरहित [ऐसा] 'तं' वह अर्थात् श्रीअजितनाथ और शान्तिनाथ का युगल 'मे' मेरे 'विसायं' खेद को 'नासेउ' नष्ट करे, 'अ' तथा 'परिसा वि' सभा के ऊपर भी 'प्पसायं' प्रसाद 'कुणउ' करे ॥३६॥

भावार्थ—इस छन्द का और आगे के छन्द का नाम गाथा है, दोनों छन्दों में प्रार्थना है।

जिन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनेक गुण परिपूर्ण विकसित हैं, जिन्हें सर्वोत्तम मोक्ष-सुख प्राप्त होने के कारण शोक नहीं है, वे श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों मेरे विषाद को हरें और सभा के ऊपर भी अनुग्रह करें ॥३६॥

* तं मोएउ अ नंदिं, पावेउ अ नंदिसेणमभिनंदिं ।
परिसा वि अ सुहनंदिं, मम य दिसउ संजमे नंदिं ॥३७॥
(गाहा ।)

---

† तत् बहुगुणप्रसादं, मोक्षसुखेन परमेणाऽविषादम् ।
नाशयतु मे विषादं, करोतु च पर्षदपि च प्रसादम् ॥ ३६ ॥

* तत् मोदयतु च नन्दिं, प्रापयतु च नन्दिषेणमभिनन्दिम् ।
पर्षदोऽपि च सुखनन्दिं, मम च दिशतु संयमे नन्दिम् ॥३७॥

अन्वयार्थ—'तं' वह युगल 'मोएउ' हर्ष उत्पन्न करे, 'नंदिं' समृद्धि 'पावेउ' प्राप्त करावे, 'नंदिसेणम्' नन्दिषेण को 'अभिनंदिं' विशेष समृद्धि, 'परिसा वि' परिषद् को भी 'सुहनंदिं' सुख-समृद्धि 'अ' तथा 'मम' मुझ को 'संजमे नंदिं' संयम की वृद्धि 'दिसउ' देवे ॥३७॥

भावार्थ—श्रीअजितनाथ तथा शान्तिनाथ दोनों भगवान् प्रमोद बढ़ावें, समृद्धि प्राप्त करावें और नन्दिषेण को विशेष समृद्धि, सभा को सुख-संपत्ति तथा मुझ को संयम में पुष्टि देवें ॥३७॥

† **पक्खिय चाउम्मासिअ, संवच्छरिए अवस्स भणिअव्वो।**
सोअव्वो सव्वेहिं, उवसग्गनिवारणो एसो ॥३८॥

अन्वयार्थ—'उवसग्गनिवारणो' उपसर्ग निवारण करने वाला 'एसो' यह [स्तवन] 'पक्खिय' पाक्षिक, 'चाउम्मासिअ' चातुर्मासिक [और] 'संवच्छरिए' सांवत्सरिक [प्रतिक्रमण में] 'सव्वेहिं' सब को 'अवस्स' अवश्य 'भणिअव्वो' पढ़ने योग्य [तथा] 'सोअव्वो' सुनने योग्य है ॥३८॥

भावार्थ—इस में तथा आगे की दोनों गाथाओं में स्तवन की महिमा है।

---

† पाक्षिके चातुर्मासिके, सांवत्सरिके अवश्यं भणितव्यः।
श्रोतव्यः सर्वैः, उपसर्गनिवारणः एषः ॥३८॥

यह स्तवन उपसर्गों को हरण करने वाला है, इस लिये इसे पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में अवश्य पढ़ना चाहिये और सुनना चाहिये[1] ॥३८॥

‡ **जो पढइ जो अ निसुणइ, उभओकालं पि अजिअसंतिथअं ।**
न उ हुंति तस्स रोगा, पुव्वुप्पन्ना वि नासंति ॥३९॥

अन्वयार्थ—'अजिअसंतिथअं' इस अजित-शान्ति स्तवन को 'उभओकालं पि' दोनों वख्त 'जो पढइ' जो पढ़ता है 'अ' और 'जो निसुणइ' जो सुनता है, 'तस्स' उस को 'रोगा' रोग 'हु' कभी 'न हुंति' नहीं होते, [और] 'पुव्वुप्पन्ना' पहले के उत्पन्न हुए 'वि' भी 'नासंति' नष्ट हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य इस अजित-शान्ति स्तवन को सुबह शाम दोनों वख्त पढ़ता या सुनता है, उस को नये रोग नहीं होते हैं और पहले के भी नष्ट हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

* **जइ इच्छह परमपयं, अहवा कित्तिं सुवित्थडं भुवणे ।**
ता तेलुक्कुद्धरणे, जिणवयणे आयरं कुणह ॥४०॥

अन्वयार्थ—'जइ' अगर 'परमपयं' परमपद को 'अहवा' अथवा 'भुवणे' लोक में 'सुवित्थडं' अतिविस्तृत 'कित्तिं' कीर्ति

1—एक व्यक्ति पढ़े और शेष सब सुनें, ऐसा संप्रदाय चला आता है ।

‡ यः पठति यश्च निश्रणोति, उभयकालमप्यजितशान्तिस्तवम्
नैव भवन्ति तस्य रोगाः, पूर्वोत्पन्ना अपि नश्यन्ति ॥२९॥

* यदीच्छथ परमपदं, अथवा कीर्तिं सुविस्तृतां भुवने ।
तदा त्रैलोक्योद्धरणे, जिनवचने आदरं कुरुध्वम् ॥ ४० ॥

को 'इच्छह' चाहते हो 'ता' तो 'तेलुक्कुद्धरणे' तीन लोक का उद्धार करने वाले [ऐसे] 'जिणवयणे' जिन-वचन पर 'आयरं' आदर 'कुणह' करो ॥ ४० ॥

भावार्थ—अगर तुम लोग मोक्ष की या तीन जगत् में यश फैलाने की चाह रखते हो तो समस्त विश्व का उद्धार करने वाले जिन-वचन का बहुमान करो ॥ ४० ॥

५८—बृहत् शान्ति[1] ।

भो भो भव्याः शृणुत वचनं प्रस्तुतं सर्वमेतद्,
ये यात्रायां त्रिभुवनगुरोरार्हता भक्तिभाजः ।
तेषां शान्तिर्भवतु भवतामर्हदादिप्रभावा-,
दारोग्यश्रीधृतिमतिकरी क्लेशविध्वंसहेतुः ॥१॥

१—यह 'बृहत् शान्ति' वादिवेताल श्रीशान्तिसूरिकी बनाई हुई है। यह कोई स्वतन्त्र स्तोत्र नहीं है किन्तु उक्त आचार्य के रचे हुए 'अर्हद्भिषेक-विधि' नामक ग्रन्थ का 'शान्तिपर्व' नाम का सातवाँ हिस्सा है। इस के सबूत में "इति शान्तिसूरिवादिवेतालीयेऽर्हद्भिषेकविधौ सप्तमं शान्तिपर्व समाप्तमिति" यह उल्लेख मिलता है।

उक्त उल्लेख, पाटण के एक भण्डार में वर्तमान 'शान्ति' की एक लिखित प्रति में है, जो सम्वत् १३५८ में उपकेशगच्छीय पं० महीचन्द्र के द्वारा लिखी हुई है।

उक्त लिखित प्रति के पाठ में और प्रचलित पाठ में कहीं न्यूनाधिक भी है, जो कि यथास्थान दे दिया गया है। अर्थात् [कोष्ठक] वाला पाठ उक्त लिखित प्रति में अधिक है और रेखाङ्कित पाठ प्रचलित शान्ति में अधिक है।

अर्थ—हे भव्य जनो, आप यह सब समयोपयोगी कथन सुनिये । जो आर्हत (जैन) तीन जगत् के गुरु श्रीतीर्थङ्कर की जन्माभिषेक-यात्रा के विषय में भक्ति रखते है, उन सबं महानुभावों को अरिहन्त, सिद्ध आदिके प्रभाव से शान्ति मिले; जिस से कि आरोग्य, संपत्ति, धीरज और बुद्धि प्राप्त हो तथा क्लेशोंका नाश हो ॥१॥

भो भो भव्यलोका इह हि भरतैरावतविदेहसंभवानां समस्ततीर्थकृतां जन्मन्यासनप्रकम्पानन्तरमवधिना विज्ञाय सौधर्माधिपतिः सुघोषाघण्टाचालनानन्तरं सकलसुरासुरेन्द्रैः सह समागत्य सविनयमर्हद्भट्टारकं गृहीत्वा गत्वा कनकाद्रिशृङ्गे विहितजन्माभिषेकः शान्तिमुद्घोषयति यथा ततोऽहं कृतानुकारमिति कृत्वा महाजनो येन गतः स पन्थाः इति भव्यजनैः सह समेत्य स्नात्रं विधाय [अधुना] शान्तिमुद्घोषयामि तत्पूजायात्रास्नात्रादिमहोत्सवानन्तरमिति कृत्वा [इति] कर्णं दत्त्वा [निशाम्यताम्] निशम्यतां निशम्यतां स्वाहा ।

अर्थ—हे भव्य लोग इस लोक के अन्दर भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में पैदा होने वाले सभी तीर्थंकरों के जन्म के समय सौधर्म नामक प्रथम देवलोक के इन्द्र का आसन कम्पित होता है। इस से वह अवधिज्ञान द्वारा उपयोग लगा कर उस कम्पन का कारण, जो तीर्थंकर का जन्म है, उसे जान लेता है

और इस के वाद अपनी सुघोषा नामक घण्टा को वजवाता है। घण्टा के वजते ही अनेक सुर तथा असुर इकट्ठे हो जाते हैं। फिर उन सब सुर-असुरों के साथ वह इन्द्र जन्म-स्थान में आ कर विनयपूर्वक भावी अरिहन्त—उस बालक—को उठा लेता है और सुमेरु पर्वत के शिखर पर जा कर जन्माभिषेक करके शान्ति की घोषणा करता है। इस कारण मैं भी भव्य जनों के साथ मिल कर स्नात्रपीठ--स्नान की चौकी--पर स्नात्र करके शान्ति की घोषणा करता हूँ। क्योंकि सब कोई किये हुए कार्य का अनुकरण करते हैं और महाजन—बड़े लोग--शिष्ट जन--जिस मार्ग पर चले हों, वही औरों के लिये मार्ग बन जाता है। इस लिये सब कोई कान लगा कर अवश्य सुनिये, स्वाहा।

ॐ पुण्याहं पुण्याहं प्रीयन्तां प्रीयन्तां भगवन्तोऽर्हन्तः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनस्त्रिलोकनाथास्त्रिलोकमहितास्त्रिलोकपूज्यास्त्रिलोकेश्वरास्त्रिलोकोद्योतकराः।

अर्थ—ओं, यह दिन परम पवित्र है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीन लोक के नाथ, तीन लोक से पूजित, तीनों लोक के पूज्य, तीनों लोक का ऐश्वर्य धारण करने वाले और तीनों लोक में ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले, ऐसे जो अरिहन्त भगवान् है, वे अत्यन्त प्रसन्न हों।

[ॐ] ऋषभ-अजित-संभव-अभिनन्दन-सुमति--पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-सुविधि-शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्य-विमल-अनन्त धर्म-शान्ति-कुन्थु--अर--मल्लि--मुनिसुव्रत--नमि--नेमि--पार्श्व-वर्द्धमानान्ताः जिनाः शान्ताः शान्तिकराः भवन्तु स्वाहा ।

अर्थ—ओं, शान्ति को पाये हुए, ऐसे जो ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्धमान (महावीर स्वामी) पर्यन्त चौवीस जिनेश्वर हैं, वे सब के लिये शान्ति करने वाले हों, स्वाहा ।

ॐ मुनिप्रवरा रिपुविजयदुर्भिक्षकान्तारेषु दुर्गमार्गेषु रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा ।

अर्थ—ओं, मुनियों में प्रधान, ऐसे जो मुनि अर्थात् महामुनि हैं, वे वैरियों पर विजय पाने में, अकाल के समय, घने जङ्गलों में और बीहड़ रास्तों मे हम सब लोगों की हमेशा रक्षा करें, स्वाहा ।

ॐ [श्री ह्री] ह्रीं श्रीं धृति-मति-कीर्ति-कान्ति-बुद्धि लक्ष्मी-मेधा-विद्या-साधन-प्रवेशन-निवेशनेषु सुगृहीतनामानो जयन्तु ते जिनेन्द्राः ।

अर्थ—ओं ह्रीं श्रीं धीरज, मनन-शक्ति, यश, सुन्दरता, ज्ञान-शक्ति, संपत्ति, धारणा-शक्ति आर शास्त्र-ज्ञान की साधना

करते समय तथा साधना की विधि में प्रवेश करते समय तथा उस नें स्थिर होते समय साधक लोग जिन के नाम को विधि-पूर्वक पढ़ते हैं; वे जिनेश्वर जयवान् रहे ।

ॐ रोहिणी-प्रज्ञप्ति-वज्रशृङ्खला-वज्राङ्कुशी-अप्रतिचक्रा-पुरुषदत्ता-काली-महाकाली-गौरी-गान्धारी-सर्वास्त्रा-महाज्वाला-मानवी-वैरोट्या-अच्छुप्ता-मानसी-महामानसीषोडशविद्या-देव्यःरक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा ।

अर्थ—ओं, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृङ्खला, वज्राङ्कुशी, अप्रतिचक्रा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, सर्वास्त्रा महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसी और महा-मानसी नामक, जो सोलह विद्याधिष्ठायिका देवियाँ हैं, वे तुम लोगों की नित्य रक्षा करें ।

ॐ आचार्योपाध्यायप्रभृतिचातुर्वर्ण्य (र्ण) स्य श्रीश्रमण-संघस्य शान्तिर्भवतु, तुष्टिर्भवतु पुष्टिर्भवतु ।

अर्थ—ओं, आचार्य, उपाध्याय आदि जो चतुर्वर्ण साधु-संघ है, उसे शान्ति, तुष्टि और पुष्टि प्राप्त हो ।

१—विद्यादेवियों के जो नाम यहाँ है, वे ही नाम 'संतिकरं स्तोत्र' की पाँचवी और छठी गाथा मे है, पर उस में "सर्वास्त्रा" नाम नहीं हैं । दूसरे, मूल में 'षोडश' शब्द से सोलह देवियो का ही कथन करना इष्ट है और "सर्वास्त्रा" को अलग देवी गिनने से उन की संख्या सत्रह हो जाती है । इस से जान पड़ता है कि यह नाम यहाँ अधिक दाखिल हो गया है अथवा किसी देवी का यह दूसरा नाम या विशेषण होना चाहिये । उस नाम की कोई अलग देवी न होनी चाहिये ।

ॐ ग्रहाश्चन्द्र-सूर्याङ्गारक-बुध-बृहस्पति-शुक्र-शनै (नी) श्चर-राहु-केतुसहिताः सलोकपालाः सोम-यम-वरुण-कुबेर-चासवादित्य-स्कन्द (न्ध) विनायकोपेताः (विनायकाः) ये चान्येऽपि ग्रामनगरक्षेत्रदेवतादयस्ते सर्वे प्रीयन्तां प्रीयन्तां अक्षीणकोष्टागारा (र) नरपतयश्च भवन्तु स्वाहा ।

अर्थ—ओं, चन्द्र, सूर्य, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु, ये नौ महाग्रह तथा अन्य सामान्य ग्रह, लोक-पाल, सोम, यम, वरुण, कुबेर, वासव (इन्द्र), आदित्य, स्कन्द और विनायक तथा जो दूसरे गाँव, शहर और क्षेत्र के देव आदि हैं, वे सब अत्यन्त प्रसन्न हों और राजा लोग अटूट खजाने तथा कोठार वाले बने रहें, स्वाहा ।

ॐ पुत्र-मित्र-भ्रातृ-कलत्र-सुहृत्-स्वजन-संबन्धि-बन्धुवर्ग-सहिताः नित्यं चामोदप्रमोदकारिणः आस्मिंश्च भूमण्डलाय-(ले आय) तननिवासिसाधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकाणां रोगो-पसर्गव्याधिदुःखदुर्भिक्षदौर्मनस्योपशमनाय शान्तिर्भवतु ।

अर्थ—ओं, तुम लोग अपने-अपने पुत्र, मित्र, भाई, स्त्री, हितैषी, कुटुम्बी, रिश्तेदार और स्नेही-वर्गसहित हमेशा आमोद-प्रमोद करने वाले-खुश बने रहो । तथा इस भूमण्डल (पृथ्वी) पर अपनी-अपनी मर्यादा में निवास करने वाले जो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाएँ हैं, उन के रोग, परीषह, व्याधि, दुःख, दुर्भिक्ष और मनोमालिन्य (विषाद) की उपशान्ति के लिये शान्ति हो ।

ॐ तुष्टि-पुष्टि-ऋद्धि-वृद्धि-मांगल्योत्स [च्छ] वाः सदा प्रादुर्भूतानि पापानि [दुरितानि] शाम्यन्तु दुरितानि [पापानि] शत्रवः पराङ् [न्] मुखा भवन्तु स्वाहा ।

अर्थ—ओं, तुष्टि, पुष्टि, समृद्धि, वृद्धि, मंगल और उत्सव हों तथा जो कठिन पाप कर्म उदयमान हुए हों, वे सदा के लिये शान्त हो जायँ और जो शत्रु हैं, वे परान्मुख हो जायँ अर्थात् हार मान कर अपना मुख फेरि लेवें; स्वाहा ।

श्रीमते शान्तिनाथाय, नमः शान्तिविधायिने ।
त्रैलोक्यस्यामराधीश,-मुकुटाभ्यर्चिताङ्घ्र [तांह्र] ये ।१।

शान्तिः शान्तिकरः श्रीमान्, शान्तिं दिशतु मे गुरुः ।
शान्तिरेव सदा तेषां, येषां शान्तिर्गृहे गृहे ॥ २ ॥
उन्मृष्टरिष्टदुष्ट,-ग्रहगतिदुस्स्वप्नदुर्निमित्तादि ।
संपादितहितसंप,-न्नामग्रहणं जयति शान्तेः ॥ ३ ॥
श्रीसंघजगज्जनपद,-राजाधिपराजसन्निवेशानाम् ।
गोष्ठिकपुरमुख्यानां व्याहरणैर्व्याहरेच्छान्तिम् ॥ ४ ॥

श्रीश्रमणसंघस्य शान्तिर्भवतु, [श्रीजनपदानां शान्तिर्भवतु] श्रीराजाधिपानां शान्तिर्भवतु, श्रीराजसन्निवेशानां शान्तिर्भवतु श्रीगोष्ठिकानां शान्तिर्भवतु, श्रीपौरमुख्याणां शान्तिर्भवतु, श्रीपौरजनस्य शान्तिर्भवतु, श्रीब्रह्मलोकस्य शान्तिर्भवतु, ॐ स्वाहा ॐ स्वाहा ॐ श्रीपार्श्वनाथाय स्वाहा ।

अर्थ—ओं, इन्द्रों के मुकुटों से जिस के चरण पूजित हैं, अर्थात् जिस के चरणों में इन्द्रों ने सिर झुकाया है और जो तीनों

लोक में शान्ति करने वाला है, उस श्रीमान् शान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार हो ॥ १ ॥

शान्तिकारक और महान् ऐसे श्रीशान्तिनाथ प्रभु मुझ को शान्ति देवें, जिन के घर-घर में शान्तिनाथ विराजमान हों, अर्थात् जो शान्तिनाथ की पूजा-प्रतिष्ठा करते है, उन को सदा शान्ति ही बनी रहती है ॥२॥

अरिष्ट (विघ्न), दुष्ट ग्रहों की गति, अशुभ स्वप्न और अशुभ शकुन आदि निमित्त जिस के कारण दूर हो जाते हैं, अर्थात् उन का बुरा प्रभाव जिस से मिट जाता है और जिस के प्रभाव से हित (भलाई) तथा संपत्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो शान्तिनाथ भगवान् के नाम का उच्चारण है, उस की जय वर्तती है ॥३॥

संघ, जगत्, जनपद, राजाधिप, राजसन्निवेश, गोष्ठिक और पुरमुख्यों के नाम के उच्चारण के साथ शान्ति पद का उच्चारण करना चाहिये ॥४॥ जैसे :—

श्रीश्रमणसंघ को शान्ति मिले, देशवासियों को शान्ति मिले, राजाओं के स्वामी अर्थात् सम्राटों को शान्ति मिले, राजाओं के निवासों में शान्ति हो, सभ्य लोगों में शान्ति हो, शहर के अगुओं में शान्ति हो, नगर-निवासी जनों में शान्ति हो और ब्रह्मलोक में शान्ति हो । ओं स्वाहा, ओं स्वाहा, ओं श्री पार्श्वनाथाय स्वाहा ।

एषा शान्तिः प्रतिष्ठायात्रास्नात्राद्यवसानेषु शान्ति-कलशं गृहीत्वा कुङ्कुमचन्दनकर्पूरागुरुधूपवासकुसुमाञ्जलि-समेतः स्नात्रचतुष्किकायां श्रीसंघसमेतः शुचिशुचिवपुः पुष्पवस्त्रचन्दनाभरणाऽलंकृतः पुष्पमालां कण्ठे कृत्वा शान्ति-मुद्घोषयित्वा शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यमिति ।

अर्थ—प्रतिष्ठा, यात्रा और स्नात्र आदि उत्सवों के अन्त में यह शान्ति पढ़नी चाहिये । [इस की विधि इस प्रकार है:—] शान्ति पढ़ने वाला शान्ति-कलश को ग्रहण करके कुङ्कुम, चन्दन, कपूर और अगर के धूप के सुवास से युक्त हो कर तथा अञ्जलि में फूल ले कर स्नात्र-भूमि में श्रीसंघ के साथ रह कर शरीर को अतिशुद्ध बना कर पुष्प, वस्त्र, चन्दन और आभूषणों से सज कर और गले में फूल की माला पहिन कर शान्ति की घोषणा करे । घोषणा करने के बाद संघ के सिर पर शान्ति-जल छिड़का जाय ।

नृत्यन्ति नित्यं मणिपुष्पवर्षं,
सृजन्ति गायन्ति च मंगलानि ।
स्तोत्राणि गोत्राणि पठन्ति मन्त्रान्,
कल्याणभाजो हि जिना [जन्मा] भिषेके ॥१॥

अर्थ—जो पुण्यशाली हैं, वे तीर्थंकरों के अभिषेक के समय नाच करते हैं, रत्न और फूलों की वर्षा करते हैं, मंगल गीत गाते हैं और भगवान् के स्तोत्र, नाम तथा मन्त्रों को हमेशा पढ़ते हैं ॥१॥

‡ शिवमस्तु सर्वजगतः, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखीभवतु लोकः ॥२॥
अहं तित्थयरमाया, सिवादेवी तुम्हनयरनिवासिनी ।
अम्ह सिवं तुम्ह सिवं, असिवोवसमं सिवं भवतु स्वाहा॥३॥
उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः ।
मनः प्रसन्नतामेति, पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥ ४ ॥
सर्वमंगलमांगल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥ ५ ॥

अर्थ—संपूर्ण जगत् का कल्याण हो, प्राणि-गण परोपकार करने में तत्पर हों, दोष नष्ट हों, सब जगह लोग सुखी हों ॥२॥

मैं शिवादेवी तीर्थंकर की माता हूँ और तुम्हारे नगरों में निवास करने वाली हूँ, हमारा और तुम्हारा कल्याण हो और उपद्रवों की शान्ति हो । कल्याण हो स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—पूर्ववत् ॥ ४ ॥
अर्थ—पूर्ववत् ॥ ५ ॥

५९—संतिकर स्तवन ।

* संतिकरं संतिजिणं, जगसरणं जयसिरीइ दायारं ।
समरामि भत्तपालग,-निव्वाणीगरुडकयसेवं ॥१॥

अन्वयार्थ—'संतिकरं' शान्ति करने वाले, 'जगसरणं' जगत् के शरणरूप, 'जयसिरीइ दायारं' जय-लक्ष्मी देने वाले

---

‡ अन्त के ये चार श्लोक पूर्वोक्त लिखित प्रति में कतई नहीं हैं । अतः पीछे से प्रक्षिप्त हुए जान पड़ते हैं ।

* शान्तिकरं शान्तिजिनं जगच्छरणं जयश्रियाः दातारम् ।
स्मरामि भक्तपालकनिर्वाणीगरुडकृतसेवम् ॥१॥

[और] 'भत्तपालगनिव्वाणीगरुडकयसेवं' भक्त-पालक निर्वाणी देवी तथा गरुड यक्ष के द्वारा सेवित [ऐसे] 'संतिजिणं' श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र को 'समरामि' [मैं] स्मरण करता हूँ ॥१॥

भावार्थ—जो शान्तिकारक है, जो सब के लिये शरण-रूप है, जो जय-लक्ष्मी का दाता है, भक्तों का पालन करने वाली निर्वाणी देवी तथा गरुड यक्ष ने जिस की सेवा की है, उस श्रीशान्तिनाथ भगवान् का मैं स्मरण करता हूँ ॥१॥

† ॐ सनमो विप्पोसहि,-पत्ताणं संतिसामिपायाणं ।
झ्रौंस्वाहामंतेणं, सव्वासिवदुरिअहरणाणं ॥२॥

अन्वयार्थ—'विप्पोसहिपत्ताणं' विप्रुडोषधि लब्धि को पाये हुए [और]'झ्रौंस्वाहामंतेणं' झ्रौंस्वाहा मन्त्र से 'सव्वासिवदुरिअ-हरणाणं' सब उपद्रव तथा पाप को हरने वाले [ऐसे] 'संतिसामिपा-याणं'पूज्य शान्तिनाथ स्वामी को 'ओं सनमो' ओंकारपूर्वक नमस्कार हो ॥२॥

भावार्थ—जिन्हों ने विप्रुड्-औषधि नामक लब्धि पायी है और जो 'झ्रौंस्वाहा' इस प्रकार के मन्त्र का जप करने से सभी अमङ्गल व पाप को नष्ट करते हैं, ऐसे पूज्य शान्तिनाथ प्रभु को ओंकारपूर्वक नमस्कार हो ॥२॥

---

† ओं सनमः विप्रुडौषधिप्राप्तेभ्यः शान्तिस्वामिपादेभ्यः ।
झ्रौंस्वाहामन्त्रेण सर्वाशिवदुरितहरणेभ्यः ॥२॥

* ॐ संतिनमुक्कारो, खेलोसहिमाइलद्धिपत्ताणं ।
सौंह्रींनमो सव्वो,-सहिपत्ताणं च देइ सिरिं ॥३॥

अन्वयार्थ—'ॐ संतिनमुक्कारो' श्रीशान्तिनाथ भगवान् को ओंकारपूर्वक किया हुआ नमस्कार 'खेलोसहिमाइलद्धिपत्ताणं' श्लेष्मौषधि आदि लब्धि पाने वालों को 'च' और 'सौंह्रीनमो' ओं तथा ह्रीं-पूर्वक किया हुआ नमस्कार 'सव्वोसहिपत्ताणं' सर्वौषधि लब्धि पाने वालों को 'सिरिं' संपत्ति 'देइ' देता है ॥३॥

भावार्थ—श्रीशान्तिनाथ प्रभु को ओंकारपूर्वक किया हुआ नमस्कार श्लेष्म-औषधि आदि लब्धियाँ पाये हुए मुनियों को शान्ति की संपत्ति देता है । इसी तरह ओं तथा ह्रीं-पूर्वक किया हुआ नमस्कार सर्व-औषधि लब्धि पाये हुए मुनियों को ज्ञानादि संपत्ति देता है ॥३॥

† वाणीतिहुअणसामिणि,-सिरिदेवीजक्खरायगणिपिडगा ।
गहदिसिपालसुरिंदा, सया वि रक्खंतु जिणभत्ते ॥४॥

अन्वयार्थ—'वाणी' सरस्वती, 'तिहुअणसामिणि' त्रिभुवन-स्वामिनी, 'सिरिदेवी' श्रीदेवी, 'जक्खरायगणिपिडगा' गणिपिटक का अधिष्ठाता यक्षराज, 'गह' ग्रह, 'दिसिपाल' दिक्पाल और

---

* ॐ शान्तिनमस्कारः श्लेष्मौषध्यादिलब्धिप्राप्तेभ्यः
सौंह्रींनमः सर्वौषधिप्राप्तेभ्यश्च ददाति श्रियम् ॥३॥

† वाणीत्रिभुवनस्वामिनीश्रीदेवीयक्षराजगणिपिटकाः ।
ग्रहदिक्पालसुरेन्द्राः सदाऽपि रक्षन्तु जिनभक्तान् ॥४॥

'सुरिंदा' सुरेन्द्र 'जिणभत्ते' जिनेश्वर के भक्तों का 'सया वि' सदैव 'रक्खंतु' रक्षण करें ॥४॥

भावार्थ—सरस्वती त्रिभुवनस्वामिनी और लक्ष्मी, ये देवियाँ तथा गणिपिटक (बारह अङ्ग) का अधिष्ठायक यक्षराज, ग्रह, दिक्पाल और इन्द्र, ये सब जिनेश्वर के भक्तों की हमेशा रक्षा करें ॥ ४ ॥

† रक्खंतु मम रोहिणी, पन्नत्ती वज्जसिंखला य सया।
वज्जंकुसि चक्केसरि, नरदत्ता कालि महकाली ॥ ५ ॥
गोरी तह गंधारी, महजाला माणवी अ वइरुट्टा।
अच्छुत्ता माणसिआ, महमाणसिआउ देवीओ ॥ ६ ॥

अर्थ—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृङ्खला, वज्राङ्कुशी, चक्रेश्वरी, नरदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुप्ता, मानसिका और महामानसिका, ये [सोलह] देवियाँ मेरी हमेशा रक्षा करें ॥ ५ ॥ ६ ॥

§ जक्खा गोमुह महजक्ख, तिमुह जक्खेस तुंबरु कुसुमो।
मायंगविजयअजिआ, बंभो मणुओ सुरकुमारो ॥७॥

---

† रक्षन्तु मां रोहिणी प्रज्ञप्तिर्वज्रशृङ्खला च सदा।
वज्राङ्कुशी चक्रेश्वरी नरदत्ता काली महाकाली ॥५॥
गौरी तथा गान्धारी महाज्वाला मानवी च वैरोट्या।
अच्छुप्ता मानसिका महामानसिका देव्यः ॥६॥
§ यक्षा गोमुखो महायक्षस्त्रिमुखो यक्षेशस्तुम्बरुः कुसुमः।
मातङ्गविजयाजिताः ब्रह्मा मनुजः सुरकुमारः ॥७॥

† छम्मुह पयाल किन्नर, गरुडो गंधव्व तह य जक्खिंदो।
कूबर वरुणो भिउडी, गोमेहो पास मायंगो ॥८॥

अर्थ—गोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश, तुम्बरु, कुसुम, मातङ्ग, विजय, अजित, ब्रह्मा, मनुज, सुरकुमार, षण्मुख, पाताल, किन्नर, गरुड, गन्धर्व, यक्षेन्द्र, कूबर, वरुण, भृकुटि, गोमेध, पार्श्व और मातङ्ग [ये सब] यक्ष तथा—॥७॥८॥

‡ देवीओ चक्केसरि, अजिआ दुरिआरि कालि महकाली।
अच्चुअ संता जाला, सुतारयासोअ सिरिवच्छा ॥९॥
चंडा विजयंकुसि प,-न्न इत्ति निव्वाणि अच्चुआ धरणी।
वइरुट्ट दत्त गंधा,-रि अंब पउमावई सिद्धा ॥१०॥

अर्थ—चक्रेश्वरी, अजिता, दुरितारी, काली, महाकाली, अच्युता, शान्ता, ज्वाला, सुतारका, अशोका, श्रीवत्सा, चण्डा, विजया, अङ्कुशा, पन्नगा, निर्वाणी, अच्युता, धारिणी, वैरोट्या, दत्ता, गान्धारी, अम्बा, पद्मावती और सिद्धा [ये सब] देवियाँ ९।१०

---

† षण्मुखः पातालः किन्नरो गरुडो गन्धर्वस्तथा च यक्षेन्द्रः।
कूबरो वरुणो भृकुटिर्गोमेधः पार्श्वो मातङ्गः ॥८॥

‡ देव्यश्चक्रेश्वर्यजिता दुरितारी काली महाकाली।
अच्युता शान्ता ज्वाला सुतारकाऽशोका श्रीवत्सा ॥९॥
चण्डा विजयाऽङ्कुशी पन्नगेति निर्वाण्यच्युता धारिणी।
वैरोट्या दत्ता गान्धार्यम्बा पद्मावती सिद्धा ॥१०॥

† इअ तित्थरक्खणरया, अन्ने वि सुरासुरी य चउहा वि।
वंतरजोइणिपमुहा, कुणंतु रक्खं सया अम्हं ॥११॥

अन्वयार्थ—'इअ' इस प्रकार 'तित्थरक्खणरया' तीर्थ-रक्षा में तत्पर [ऐसे] 'वंतरजोइणिपमुहा' व्यन्तर, ज्योतिषी वगैरह 'अन्ने वि' और भी 'चउहा वि' चारों प्रकार की 'सुरासुरी' देव तथा देवियाँ 'सया' सदा 'अम्हं' हमारी 'रक्खं' रक्षा 'कुणंतु' करें ॥११॥

भावार्थ—उपर्युक्त गोमुख आदि चौबीस शासनाधिष्ठायक देव तथा चक्रेश्वरी आदि चौबीस शासनाधिष्ठायक देवियाँ और अन्य भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष तथा वैमानिक-रूप चारों प्रकार के तीर्थ-रक्षा-तत्पर देव और देवियाँ सब हमारी निरन्तर रक्षा करें ॥७-११॥

× एवं सुदिट्ठिसुरगण,—सहिओ संघस्स संतिजिणचंदो।
मज्झ वि करेउ रक्खं, मुणिसुंदरसूरिथुअमहिमा ॥१२॥

अन्वयार्थ—'एवं' इस प्रकार 'मुणिसुंदरसूरिथुअ-महिमा' मुनिसुन्दर सूरि ने जिस की महिमा गायी है [ऐसा]

---

† इति तीर्थरक्षणरता अन्येऽपि सुरासुर्यश्च चतुर्धाऽपि।
व्यन्तरयोगिनीप्रमुखाः कुर्वन्तु रक्षां सदाऽस्माकम् ॥११॥

× एवं सुदृष्टिसुरगणसहितस्संघस्य शान्तिजिनचन्द्रः।
ममाऽपि करोतु रक्षां मुनिसुन्दरसूरिस्तुतमहिमा ॥ १२ ॥

१—इस पद के, मुनिसुन्दर नामक सूरि तथा मुनियों में श्रेष्ठ आचार्य ऐसे दो अर्थ हैं। पहिले अर्थ के द्वारा प्रस्तुत स्तोत्र के कर्ता ने अपना नाम सूचित किया है और दूसरे अर्थ के द्वारा भगवान् की महिमा की आकर्षकता दिखाई है।

'सुदिट्ठिसुरगणसहिओ' सम्यक्त्वी देवगणसहित 'संतिजिणचंदो' श्रीशान्तिनाथ जिनेश्वर 'संघस्स' संघ की [तथा] 'मज्झ वि' मेरी भी 'रक्खं' रक्षा 'करेउ' करे ॥१२॥

भावार्थ—मुनियों में उत्तम ऐसे आचार्यों ने जिस का यशोगान किया है, वह शान्तिनाथ भगवान् तथा सम्यक्त्वधारी देव-समूह संघ की और मेरी रक्षा करे ॥१२॥

† इअ संतिनाहसम्म,-दिट्ठी रक्खं सरइ तिकालं जो।
सव्वोवद्दवरहिओ, स लहइ सुहसंपयं परमं ॥१३॥

अन्वयार्थ—'इअ' इस प्रकार 'रक्खं' रक्षा के लिये 'संतिनाहसम्मादिट्ठी' शान्तिनाथ तथा सम्यग्दृष्टि को 'जो' जो 'तिकालं' तीनों काल 'सरइ' स्मरण करता है, 'स' वह 'सव्वो-वद्दवरहिओ' सब उपद्रवों से रहित हो कर 'परमं' परम 'सुह-संपयं' सुख-सम्पत्ति को 'लहइ' पाता है ॥१३॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब तरह से रक्षण प्राप्त करने के लिये श्रीशान्तिनाथ भगवान् तथा सम्यक्त्वी देवों को उपर्युक्त रीति से सुबह, दुपहर और शाम तीनों काल याद करता है, वह सब प्रकार की बाधाओं से छूट कर सर्वोत्तम सुख पाता है ॥१३॥

---

† इति शान्तिनाथसम्यग्दृष्टी रक्षायै स्मरति त्रिकालं यः।
सर्वोपद्रवरहितः स लभते सुखसंपदं परमम् ॥१३॥

+ तवगच्छगयणदिणयर,-जुगवरसिरिसोमसुंदरगुरूणं ।
सुपसायलद्धगणहर,-विज्जासिद्धी भणइ सीसो॥१४॥*

अन्वयार्थ—'तवगच्छगयणदिणयर' तपोगच्छरूप आकाश में सूर्य समान [और] 'युगवर' युग में प्रधान [ऐसे] 'सोमसुंदरगुरूणं' सोमसुन्दर गुरु के 'सुपसाय' प्रसाद से 'लद्धगणहरविज्जासिद्धी' गणधर की विद्या को सिद्ध कर लेने वाला [मुनिसुन्दर सूरि] 'सीसो' शिष्य 'भणइ' [यों] कहता है॥१४॥

भावार्थ—यह स्तवन श्रीमुनिसुन्दर सूरि का बनाया हुआ है, जिन्हों ने अपने गुरु श्रीसोमसुन्दर सूरि के प्रसाद से 'गणधर-विद्या' प्राप्त की । श्रीसोमसुन्दर सूरि तपोगच्छ में अद्वितीय यशस्वी हुए ॥१४॥

६०—पाक्षिक अतिचार ।

नाणंमि दंसणंमि अ, चरणंमि तवंमि तह य विरियंमि ।
आयरणं आयारो, इअ एसो पंचहा भणिओ ॥ १ ॥

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार, वीर्याचार, इन पाँचों आचारों में जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं ।

+ तपोगच्छगगनदिनकरयुगवरश्रीसोमसुन्दरगुरूणाम् ।
सुप्रसादलब्धगणधरविद्यासिद्धिर्भणति शिष्यः ॥१४॥

* यह गाथा क्षेपक है ।

तत्र ज्ञानाचार के आठ अतिचार :—

काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तह अनिण्हवणे।
वंजणअत्थतदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥ २॥

ज्ञान नियमित वक्त में पढ़ा नहीं। अकाल वक्त में पढ़ा। विनयरहित, बहुमानरहित, योगोपधानरहित पढ़ा। ज्ञान जिस से पढ़ा, उस से अतिरिक्त को गुरु माना या कहा। देव-वन्दन, गुरु-वन्दन करते हुए तथा प्रतिक्रमण, सज्झाय पढ़ते या गुणते अशुद्ध अक्षर कहा। लग-मात्रा न्यूनाधिक कही। सूत्र असत्य कहा। अर्थ अशुद्ध किया। अथवा सूत्र और अर्थ दोनों असत्य कहे। पढ़ कर भूला। असज्झाई के समय में थविरावली, प्रतिक्रमण, उपदेशमाला आदि सिद्धान्त पढ़ा। अपवित्र स्थान में पढ़ा या विना साफ किये घृणित भूमि पर रखा। ज्ञान के उपकरण तखती, पोथी, ठवणी, कवली, माला, पुस्तक रखने की रील, कागज, कलम, दवात आदि के पैर लगा, थूक लगा अथवा थूक से अक्षर मिटाया, ज्ञान के उपकरण को मस्तक के नीचे रखा अथवा पास में लिये हुए आहार-निहार किया, ज्ञान-द्रव्य भक्षण करने वाले की उपेक्षा की, ज्ञान-द्रव्य की सार-सँभाल न की, उलटा नुकसान किया, ज्ञानवान् ऊपर द्वेष किया, ईर्षा की तथा अवज्ञा, आशातना की, किसी को पढ़ने-गुणने में विघ्न डाला, अपने जानपने का मान किया। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः—

पर्यवज्ञान और केवलज्ञान, इन पाँचों ज्ञानों में श्रद्धा न की। गूँगे तोतले की हँसी की। ज्ञान में कुतर्क की, ज्ञान की विपरीत प्ररूपणा की। इत्यादि ज्ञानाचारसम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

दर्शनाचार के आठ अतिचार :—

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी अ
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥३॥

देव-गुरु-धर्म में निःशङ्क न हुआ, एकान्त निश्चय न किया। धर्मसम्बन्धी फल में संदेह किया। साधु-साध्वी की जुगुप्सा-निन्दा की। मिथ्यात्वियों की पूजा-प्रभावना देख कर मूढदृष्टिपना किया। कुचारित्री को देख कर चारित्र वाले पर भी अभाव हुआ। संघ में गुणवान् की प्रशंसा न की। धर्म से पतित होते हुए जीव को स्थिर न किया। साधर्मी का हित न चाहा। भक्ति न की। अपमान किया। देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्य, साधारण-द्रव्यकी हानि होते हुए उपेक्षा की। शक्ति के होते हुए भले प्रकार सार-सँभाल न की। साधर्मी से कलह-क्लेश करके कर्मबन्धन किया। मुखकोश बाँधे विना भगवत् देव की पूजा की। धूपदानी, खस, कूची, कलश आदिक से प्रतिमाजी को ठपका लगाया। जिनबिम्ब हाथ से

छूटा । श्वासोच्छ्वास लेते आशातना हुई । मन्दिर तथा पौषधशाला में थूका तथा मल श्लेश्म किया, हँसी-मश्करी की, कुतूहल किया। जिनमन्दिरसम्बन्धी चौरासी आशातना में से और गुरु महाराजसम्बन्धी तेतीस आशातना में से कोई आशातना हुई हो । स्थापनाचार्य हाथ से गिरे हों या उन की पडिलेहण न हुई हो । गुरु के वचन को मान न दिया हो इत्यादि दर्शनाचारसम्बन्धी जो कोई अति-चार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं ।

चारित्राचार के आठ अतिचार :—

पणिहाणजोगजुत्तो, पंचहिं समिईहिं तीहिं गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ ४ ॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्ड-मात्रनिक्षेपणासमिति और पारिष्ठापनिकासमिति; मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, ये आठ प्रवचनमाता सामा-यिक पौषधादिक में अच्छी तरह पाली नहीं । चारित्राचार-सम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं ।

विशेषतः श्रावकधर्मसम्बन्धी श्रीसम्यक्त्व मूल बारह व्रत सम्यक्त्वके पाँच अतिचार :—

संका कंख विगिच्छा० ॥ ६ ॥

शङ्काः--श्रीअरिहंत प्रभुके बल अतिशय ज्ञान लक्ष्मी गम्भीर्यादि गुण शाश्वती प्रतिमा चारित्रवान् के चारित्र में तथा जिनेश्वरदेव के वचन में संदेह किया। आकाङ्क्षाः-ब्रह्मा, विष्णु, महेश, क्षेत्रपाल, गरुड, गूगा, दिक्पाल, गोत्रदेवता, नव-ग्रहपूजा, गणेश, हनुमान, सुग्रीव, बाली, माता, मसानी, आदिक तथा देश, नगर, ग्राम, गोत्र के जुदे जुदे देवादिकों का प्रभाव देख कर शरीर में रोगातङ्क कष्टादि के आने पर इस-लोक परलोक के लिये पूजा मानता की। बौद्ध, सांख्यादिक, सन्यासी, भगत, लिंगिये, जोगी, फकीर, पीर इत्यादि अन्य दर्शनियों के मन्त्र यन्त्र चमत्कार को देख कर विना परमार्थ जाने मोहित हुआ। कुशास्त्र पढ़ा। सुना। श्राद्ध, संवत्सरी, होली, राखडीपूनम—राखी, अजा एकम, प्रेत दूज, गौरी तीज, गणेश चौथ, नाग पञ्चमी, स्कन्द षष्ठी, झीलणा छठ, शील सप्तमी, दुर्गा अष्टमी, राम नौमी, विजया दशमी, व्रत एकादशी, वामन द्वादशी, वत्स द्वादशी, धन तेरस, अनन्त चौदश, शिव-रात्रि, काली चौदस, अमावस्या, आदित्यवार, उत्तरायण याग भोगादि किये, कराये करते को भला माना। पीपल में पानी डाला डलवाया। कुआ, तालाव, नदी, द्रह, बावड़ी, समुद्र, कुण्ड ऊपर पुण्यनिमित्त स्नान तथा दान किया, कराया, अनुमोदन किया। ग्रहण, शनिश्चर, माघ मास, नवरात्रि का स्नान किया। नवरात्रि-व्रत किया। अज्ञानियों के माने हुए

वृतादि किये, कराये। वितिगिच्छा—धर्मसम्बन्धी फल में संदेह किया। जिन वीतराग अरिहंत भगवान् धर्म के आगर विश्वोपकार सागर मोक्षमार्ग दातार इत्यादि गुणयुक्त जान कर पूजा न की। इसलोक परलोक-सम्बन्धी भोग वाञ्छा के लिये पूजा की। रोग आतङ्क कष्ट के आने पर क्षीण वचन बोला। मानता मानी। महात्मा महासती के आहार पानी आदि की निन्दा की। मिथ्यादृष्टि की पूजा-प्रभावना देख कर प्रशंसा की। प्रीति की। दाक्षिण्यता से उस का धर्म माना। मिथ्यात्व को धर्म कहा। इत्यादि श्रीसम्यक्त्व वृतसम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

पहले स्थूलप्राणातिपातविरमण व्रत के पाँच अतिचारः-
वह बंध छविच्छेए० ॥१०॥

द्विपद, चतुष्पद आदि जीव को क्रोध-वश ताड़न किया, घाव लगाया, जकड़ कर बाँधा। अधिक बोझ लादा। निर्लाञ्छन कर्म—नासिका छिदवाई, कर्ण छेदन करवाया। खस्सी किया। दाना घास पानी की समय पर सार-सँभाल न की, लेन देन में किसी के बदले किसी को भूखा रखा, पास खड़ा हो कर मरवाया। कैद करवाया। सड़े हुए धान को विना शोधे काम में लिया, अनाज शोधे विना पिसवाया। धूप में सुकाया। पानी यतना से न छाना, ईंधन,

लकड़ी, उपले, गोहे आदि बिना देखे बाले। उस में सर्प, बिच्छू, कानखजूरा, कीड़ी, मकौड़ी आदि जीव का नाश हुआ। किसी जीव को दबाया। दुःख दिया। दुःखी जीव को अच्छी जगह पर न रखा। चील, काग, कबूतर आदि के रहने की जगह का नाश किया। घौंसले तोड़े। चलते फिरते या अन्य कुछ काम काज करते निर्दयपना किया। भली प्रकार जीव-रक्षा न की। बिना छाने पानी से स्नानादि काम काज किया, कपड़े धोये। यतनापूर्वक काम काज न किया। चारपाई, खटोला, पीढ़ा, पीढ़ी आदि धूप में रखे। डंडे आदि से झड़काये। जीव-संसक्त जमीन लीपी। दलते, कूटते, लीपते या अन्य कुछ काम काज करते यतना न की। अष्टमी, चौदस आदि तिथि का नियम तोड़ा। धूनी करवाई। इत्यादि पहले स्थूलप्राणातिपातविरमण-व्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

दूसरे स्थूलमृषावादविरमणव्रत के पाँच अतिचारः—
"सहसा रहस्सदारे०" ॥१२॥

सहसाकार—बिना विचारे एकदम किसी को अयोग्य आल कलङ्क दिया। स्वस्त्रीसंबन्धी गुप्त बात प्रगट की अथवा अन्य किसी का मन्त्र, भेद, मर्म प्रकट किया। किसी को दुः

करने के लिये खोटी सलाह दी । झूठा लेख लिखा । झूठी गवाही दी । अमानत में खयानत की । किसी की धरोहर वस्तु वापिस न दी । कन्या, गो, भूमिसंबन्धी लैन-दैन में लड़ते-झगड़ते वाद-विवाद में मोटा झूठ बोला । हाथ पैर आदि की गाली दी । इत्यादि स्थूलमृषावादविरमणव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं ।

तृतीय स्थूल-अदत्तादानविरमणव्रत के पाँच अतिचारः—
" तेनाहडप्पओगे०" ॥१४॥

घर, बाहिर, खेत, खला में विना मालिक के भेजे वस्तु ग्रहण की अथवा विना आज्ञा अपने काम में ली । चोरी की वस्तु ली । चोर को सहायता दी । राज्य-विरुद्ध कर्म किया । अच्छी, बुरी, सजीव, निर्जीव, नई, पुरानी वस्तु का मेल मिश्रण किया । जकात की । चोरी की । लेते देते तराजू की डंडी चढ़ाई अथवा देते हुए कमती दिया । लेते हुए अधिक लिया । रिशवत खाई । विश्वासघात किया । ठगी की । हिसाब किताब में किसी को धोखा दिया । माता, पिता, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिकों के साथ ठगी कर किसी को दिया अथवा पूँजी अलहदा रखी । अमानत रखी हुई वस्तु से इन्कार किया । किसी को हिसाब किताब में ठगा । पड़ी हुई चीज़

उठाई। इत्यादि स्थूल-अदत्तादानविरमणव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

चोथे स्वदारासंतोष-परस्त्रीगमनविरमणव्रत के पाँच अतिचार:—

"अप्परिग्गहिया इत्तर०" ॥१६॥

परस्त्री-गमन किया। अविवाहिता कुमारी, विधवा, वेश्यादिक से गमन किया। अनङ्गक्रीडा की। काम आदि की विशेष जाग्रति की अभिलाषा से सराग वचन कहा। अष्टमी, चौदश आदि पर्वतिथि का नियम तोड़ा। स्त्री के अङ्गोपाङ्ग देखे। तीव्र अभिलाषा की। कुविकल्प चिन्तन किया। पराये नाते जोड़े। गुडडे गुड्डियोंका विवाह किया। वा कराया। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार, स्वप्न, स्वप्नान्तर हुआ। कुस्वप्न आया। स्त्री, नट, विट, भाँड, वेश्यादिक से हास्य किया। स्वस्त्री में संतोष न किया। इत्यादि स्वदारासंतोष-परस्त्रीगमनविरमणव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

पाँचवें स्थूलपरिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार:—

"धणधन्नखित्तवत्थू०" ॥ १८॥

धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, सोना, चाँदी, वर्त्तन आदि; द्विपद--दास, दासी, नौकर; चतुष्पद--गौ, बैल; घोड़ा आदि

नव प्रकार के परिग्रह का नियम न लिया। ले कर बढ़ाया। अथवा अधिक देख कर मूर्च्छा-वश माता, पिता, पुत्र, स्त्री के नाम किया। परिग्रह का प्रमाण नहीं किया। करके भुलाया। याद न किया। इत्यादि स्थूलपरिग्रहपरिमाणव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

छठ्ठे दिक्परिमाणव्रत के पाँच अतिचार :—

"गमणस्स उ परिमाणे०" ॥१९॥

ऊर्ध्वदिशि, अधोदिशि, तिर्यग्दिशि जाने आने के नियमित प्रमाण उपरान्त भूल से गया। नियम तोड़ा। प्रमाण उपरान्त सांसारिक कार्य के लिये अन्य देश से वस्तु मँगवाई। अपने पास से वहाँ भेजी। नौका, जहाज आदि द्वारा व्यापार किया। वर्षाकाल में एक ग्राम से दूसरे ग्राम में गया। एक दिशा के प्रमाण को कम करके दूसरी दिशा में अधिक गया। इत्यादि छट्ठे दिक्परिमाणव्रतसम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

सातवें भोगोपभोगव्रत के भोजन-आश्रित पाँच और कर्म-आश्रित पंद्रह अतिचार :—

"सच्चित्ते पडिबद्धे०" ॥२१॥

सचित्त—खान-पान की वस्तु नियम से अधिक स्वीकार की। सचित्त से मिली हुई वस्तु खाई। तुच्छ

औषधि का भक्षण किया। अपक्व आहार, दुष्पक्व आहार किया। कोमल इमली, बूँट, भुट्टे, फलियाँ आदि वस्तु खाई।

"सच्चित्त[1]-दव्व[2]-विगई[3],-वाणह[4]-तंबोल[5]-वत्थ[6]-कुसुमेसु[7]।
वाहण[8]-सयण[9]-विलेवण[10],-बंभ[11]-दिसि[12]-न्हाण[13]-भत्तेसु[14]" ॥१॥

ये चौदह नियम लिये नहीं। ले कर भुलाये। बड़, पीपल, पिलंखण, कठूँवर, गूलर, ये पाँच फल; मदिरा, मांस, शहद, मक्खन, ये चार महाविगई; बरफ, ओले, कच्ची मिट्टी, रात्रिभोजन, बहुबीजाफल, अचार, घोलवड़े, द्विदल, बैंगण, तुच्छफल, अजानाफल, चलितरस, अनन्त-काय, ये बाईस अभक्ष्य; सूरन--जिमीकन्द, कच्ची हल्दी, सतावरी, कच्चा नरकचूर, अदरक, कुवाँरपाठा, थोर, गिलोय, लसन, गाजर, गठा--प्याज, गोंगलु, कोमल फल-फूल-पत्र, थेगी, हरा मोत्था, अमृतवेल, मूली, पदबहेडा, आलू, कचालू, रतालू, पिंडालू आदि अनन्तकाय का भक्षण किया। दिवस अस्त होते हुए भोजन किया। सूर्योदय से पहले भोजन किया। तथा कर्मतः पंद्रह कर्मादानः--इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडिकम्मे, भाडीकम्मे, फोडी-कम्मे, ये पाँच कर्म; दंतवाणिज्ज, लक्खवाणिज्ज, रसवाणिज्ज, केसवाणिज्ज, विसवाणिज्ज, ये पाँच वाणिज्ज; जंतपिल्लण-कम्म, निल्लंछनकम्म, दवग्गिदावणिया, सरदहतलावसोस-

णया, असइपोसणया, ये पाँच सामान्य, एवं कुल पंद्रह क्रर्मादान महा आरम्भ किये कराये करते को अच्छा समझा। श्वान, बिल्ली आदि पोषे पाले। महासावद्य पापकारी कठोर काम किया। इत्यादि सातवें भोगोपभोगव्रतसम्बन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

आठवें अनर्थदण्ड के पाँच अतिचार :—
"कंदप्पे कुक्कुइए०" ॥२६॥

कन्दर्प—कामाधीन हो कर नट, विट, वेश्या आदिक से हास्य खेल क्रीडा कुतूहल किया। स्त्री पुरुष के हाव, भाव, रूप, शृङ्गारसंबन्धी वार्त्ता की। विषयरसपोषक कथा की। स्त्रीकथा, देशकथा, भक्तकथा, राजकथा, ये चार विकथा कीं। पराई भाँजगढ़ की। किसी की चुगलखोरी की। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ध्याया। खांडा, कटार, कशि, कुल्हाडी, रथ, ऊखल, मूसल, अग्नि, चक्की, आदिक वस्तु दाक्षिण्यता-वश किसी को माँगी दी। पापोपदेश दिया। अष्टमी, चतुर्दशी के दिन दलने पीसने का नियम तोड़ा। मूर्खता से असंबद्ध वाक्य बोला। प्रमादाचरण सेवन किया। घी, तेल, दूध, दही, गुड़, छाछ आदि का भाजन खुला रखा, उस में जीवादि का नाश हुआ। वासा मक्खन रखा और तपाया। न्हाते, धोते, दाँतन करते जीव-आकुलित मोरी में पानी डाला। [illegible] में झूला। जुआ खेला। नाटक आदि देखा। ढोर,

डंगर खरीदवाये। कर्कश वचन कहा। किचाकिची ली। ताड़ना तर्जना की। मत्सरता धारण की। श्राप दिया। भैंसा, साँड़, मेंढ़ा, मुरगा, कुत्ते आदिक लड़वाये या इन की लड़ाई देखी। ऋद्धिमान् की ऋद्धि देख ईर्षा की। मिट्टी, नमक, धान, बिनोले विना कारण मसले। हरी वनस्पति खूँदी। शस्त्रादिक बनवाये। राग-द्वेष के वश से एक का भला चाहा। एक का बुरा चाहा। मृत्यु की वाञ्छा की। मैना, तोते, कबूतर, बटेर, चकोर आदि पक्षियों को पींजरे में डाला। इत्यादि आठवें अनर्थदण्डविरमणव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

नौवें सामायिकव्रत के पाँच अतिचारः—
"तिविहे दुप्पणिहाणे०" ॥२७॥

सामायिक में संकल्प किया। चित्त स्थिर न रखा। सावद्य वचन बोला। प्रमार्जन किये विना शरीर हलाया, इधर उधर किया। शक्ति के होते हुए सामायिक न किया। सामायिक में खुले मुँह बोला। नींद ली। विकथा की। घरसम्बन्धी विचार किया। दीपक या बिजली का प्रकाश शरीर पर पड़ा। सचित्त वस्तु का संघट्टन हुआ। स्त्री तिर्यञ्च आदि का निरन्तर परस्पर संघट्टन हुआ। मुहपत्ति संघट्टी। सामायिक अधूरा पारा, विना पारे उठा। इत्यादि

सामायिकव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं ।

दसवें देशावकाशिकव्रत के पाँच अतिचार :—

"आणवणे पेसवणे०" ॥२८॥

आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाई, रूवाणुवाई, बहियापुग्गलपक्खेवे, नियमित भूमि में बाहिर से वस्तु मँगवाई। अपने पास से अन्यत्र भिजवाई। खुंखारा आदि शब्द करके, रूप दिखाके या कंकर आदि फेंक कर अपना होना मालूम कराया। इत्यादि दसवें देशावकाशिकव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं ।

ग्यारहवें पौषधोपवासव्रत के पाँच अतिचार :—

"संथारुच्चारविहि ०" ॥२९॥

अप्पडिलेहिअ, दुप्पडिलेहिअ, सिज्जासंथारए। अप्पडिलेहिय, दुप्पडिलेहिय उच्चार-पासवण भूमि। पौषध ले कर सोने की जगह विना पूँजे प्रमार्जे सोया। स्थंडिल आदि की भूमि भले प्रकार शोधी नहीं। लघु नीति, बड़ी नीति करने या परठने के समय 'अणुजाणह जस्सुग्गह' न कहा। परठे बाद तीन बार 'वोसिरे' न कहा। जिनमन्दिर और उपाश्रय में

प्रवेश करते हुए 'निसिही' और बाहिर निकलते 'आवस्सही' तीन वार न कही। वस्त्र आदि उपधि की पडिलेहणा न की। पृथिवीकाय, अप्काय, तेजः काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय का संघट्टन हुआ। संथारा पोरिसी पढ़नी भुलाई। विना संथारे जमीन पर सोया। पोरिसी में नींद ली। पारना आदि की चिन्ता की। समयसर देव-चन्दन न किया। प्रतिक्रमण न किया। पौषध देरी से लिया और जल्दी पारा। पर्वतिथि को पोसह न लिया। इत्यादि ग्यारहवें पौषधव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

बारहवें अतिथिसंविभागव्रत के पाँच अतिचारः—

"सच्चित्ते निक्खिवणे०" ॥३०॥

सचित्त वस्तु के संघट्टे वाला अकल्पनीय आहार पानी साधु साध्वी को दिया। देने की इच्छा से सदोष वस्तु को निर्दोष कही। देने की इच्छा से पराई वस्तु को अपनी कही। न देने की इच्छा से निर्दोष वस्तु को सदोष कही। न देने की इच्छा से अपनी वस्तु को पराई कही। गोचरी के वक्त इधर उधर हो गया। गोचरी का समय टाला। बेवक्त साधु महाराज को प्रार्थना की। आये हुए गुणवान् की भक्ति न की। शक्ति के होते हुए स्वामी-वात्सल्य न किया। अन्य किसी धर्मक्षेत्र को पड़ता

देख मदद न की। दीन दुःखी की अनुकम्पा न की। इत्यादि बारहवें अतिथिसंविभागव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

संलेषणा के पाँच अतिचारः—
"इहलोए परलोए०" ॥३३॥

इहलोगासंसप्पओगे। परलोगासंसप्पओगे। जीवियासंसप्पओगे। मरणासंसप्पओगे। कामभोगासंसप्पओगे। धर्म के प्रभाव से इस लोकसंबन्धी राज ऋद्धि भोगादि की वाञ्छा की। परलोक में देव, देवेन्द्र, चक्रवर्त्ती आदि पदवी की इच्छा की। सुखी अवस्था में जीने की इच्छा की। दुःख आने पर मरने की वाञ्छा की। कामभोग की वाञ्छा की। इत्यादि संलेषणाव्रतसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

तप-आचार के बारह भेदः—छह बाह्य, छह अभ्यन्तर।
"अणसणमूणोअरिया०" ॥६॥

अनशन—शक्ति के होते हुए पर्वतिथि को उपवास आदि तप न किया। ऊनोदरी—दो चार ग्रास कम न खाये। वृत्तिसंक्षेपः—द्रव्य—खाने की वस्तुओं का संक्षेप न किया। रस-विगय त्याग न किया। कायक्लेश—लोच आदि कष्ट न किया। संलीनता—अङ्गोपाङ्ग का संकोच न किया। पच्च-

क्खाण तोड़ा। भोजन करते समय एकासणा,आयंबिल-प्रमुख में चौकी, पटड़ा, अखला आदि हिलता ठीक न किया। पच्चक्खाण पारना भुलाया। बैठते नवकार न पढ़ा। उठते पच्चक्खाण न किया। निवि, आयंबिल, उपवास आदि तप में कच्चा पानी पिया। वमन हुआ। इत्यादि बाह्य तपसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

अभ्यन्तर तपः—
"पायच्छित्तं विणओ०" ॥७॥

शुद्धान्तःकरणपूर्वक गुरुमहाराज से आलोचना न ली। गुरु की दी हुई आलोचना संपूर्ण न की। देव, गुरु, सङ्घ, साधर्मीका विनय न किया। बाल, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी आदि की वैय्यावृत्य न की। वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा लक्षण पाँच प्रकार का स्वाध्याय न किया। धर्मध्यान, शुक्लध्यान ध्याया नहीं। आर्तध्यान, रौद्रध्यान ध्याया। दुःख-क्षय कर्म-क्षय के निमित्त दश बीस लोगस्स का काउसग्ग न किया। इत्यादि अभ्यन्तर तपसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

वीर्याचार के तीन अतिचारः—
"अणिगूहिय बलविरियो०" ॥८॥

पढ़ते, गुणते, विनय, वैय्यावृत्य, देवपूजा, सामायिक, पौषध, दान, शील, तप, भावनादिक धर्मकृत्य में-मन वचन-काया का बल, वीर्य, पराक्रम फोरा नहीं। विधिपूर्वक पञ्चाङ्ग खमासमण न दिया। द्वादशावर्त्त-वन्दन की विधि भले प्रकार न की। अन्य-चित्त निरादर से बैठा। देव-वन्दन, प्रतिक्रमण में जल्दी की। इत्यादि वीर्याचारसंबन्धी जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

"नाणाइ अट्ठ पइवय,-समसंलेहण पण पन्नर कम्मेसु।
बारस तव विरिअ तिगं, चउव्वीसं सय अइयारा॥"
"पडिसिद्धाणं करणे०" ॥४८॥

प्रतिषेध—अभक्ष्य, अनन्तकाय, बहुबीज भक्षण, महारम्भ, परिग्रहादि किया। देवपूजन आदि षट्कर्म, सामायिकादि छह आवश्यक, विनयादिक, अरिहन्त की भक्ति-प्रमुख करणीय कार्य किये नहीं। जीवाजीवादिक सूक्ष्म विचार की सद्दहणा न की। अपनी कुमति से उत्सूत्र प्ररूपणा की। तथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति, अरति, परपरिवाद, माया मृषावाद, मिथ्यात्वशल्य, ये अठारह पापस्थान किये कराये अनुमोदे। दिनकृत्य, प्रतिक्रमण, विनय, वैयावृत्य न किया। और भी जो कुछ वीतराग की आज्ञा से विरुद्ध किया कराया करते को भला जाना। इन

चार प्रकार के अतिचार में जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

एवंकारे श्रावकधर्म सम्यक्त्वमूल बारह व्रतसंबन्धी एक सौ चौबीस अतिचारों में से जो कोई अतिचार पक्ष-दिवस में सूक्ष्म या बादर जानते-अनजानते लगा हो, वह सब मन-वचन-काया कर मिच्छा मि दुक्कडं।

चैत्य-वन्दन—स्तवनादि।

[दूज का चैत्य-वन्दन।]

दुविध धर्म जिणे उपदिश्यो, चोथा अभिनन्दन।
बीजे जन्म्या ते प्रभु, भव दुःख निकंदन ॥१॥
दुविध ध्यान तुम परिहरो, आदरो दोय ध्यान।
इम प्रकाश्युं सुमति जिने, ते चविया बीज दिन॥२॥
दोय बन्धन राग द्वेष, तेहने भवि तजीये।
मुज परे शीतल जिन कहे, बीज दिन शिव भजीये॥३॥
जीवाजीव पदार्थनुं, करो नाण सुजाण।
बिज दिन वासुपूज्य परे, लहो केवल नाण ॥४॥
निश्चय नय व्यवहार दोय, एकान्त न ग्रहीये।
अर जिन बिज दिन चवी, एम जन आगल कहीये॥५॥
वर्तमान चोविसीए, एम जिन कल्याण।
बीज दिने केई पामीया, प्रभु नाण निर्वाण ॥६॥

एम अनन्त चोविसीए, हुआ बहु कल्याण ।
'जिन उत्तम' पद पद्म ने, नमतां होय सुखखाण ॥७॥

[पञ्चमी का चैत्य-वन्दन ।]

त्रिगडे बेठा वीर जिन, भाखे भवि जन आगे ।
त्रिकरण से त्रिहुं लोक जन, निसुणो मन रागे ॥१॥
आराधो भली भाँतसे, पांचम अजुवाली ।
ज्ञानाराधन कारणे, एहिज तिथि निहाली ॥२॥
ज्ञान विना पशु सारिखा, जाणो इणे संसार ।
ज्ञानाराधनथी लहे, शिव पद सुख श्रीकार ॥३॥
ज्ञान रहित क्रिया कही, काश कुसुम उपमान ।
लोकालोक प्रकाशकर, ज्ञान एक परधान ॥४॥
ज्ञानी श्वासोच्छ्वाससें, करे कर्मनो खेह ।
पूर्व कोडी वरसां लगे, अज्ञाने करे तेह ॥५॥
देश आराधक क्रिया कही, सर्व आराधक ज्ञान ।
ज्ञान तणो महिमा घणो, अंग पांचमे भगवान ॥६॥
पंच मास लघु पंचमी, जाव जीव उत्कृष्टि ।
पंच वर्ष पंच मासनी, पंचमी करो शुभ दृष्टि ॥७॥
एकावन ही पंचनो ए, काउस्सग लोगस्स केरो ।
ऊजमणुं करो भावसुं, टाले भव फेरो ॥८॥
इणीपरे पंचमी आराहीये ए, आणी भाव अपार ।
वरदत्त गुणमंजरी परे, 'रंगविजय' लहो सार ॥९॥

[अष्टमी का चैत्य-वन्दन।]

माहा सुदी आठमने दिने, विजया सुत जायो ।
तिम फागुण सुदी आठमे, संभव चवी आयो ॥१॥
चैतर वदनी आठमे, जन्म्या रिषभ जिणंद ।
दीक्षा पण ए दिन लही, हुआ प्रथम मुनिचंद ॥२॥
माधव सुदी आठम दिने, आठ कर्म करी दूर ।
अभिनन्दन चोथा प्रभु, पाम्या सुख भरपूर ॥३॥
एहीज आठम ऊजली, जन्म्या सुमति जिणंद ।
आठ जाति कलशे करी, नवरावे सुर इन्द्र ॥४॥
जन्म्या जेठ वदी आठमे, मुनिसुव्रत स्वामी ।
नेम आषाढ़ सुदी आठमे, अष्टमी गति पामी ॥५॥
श्रावण वदनी आठमे, जन्म्या नमि जग भाण ।
तिम श्रावण सुदी आठमे, पासजीनुं निर्वाण ॥६॥
भाद्रवा वदी आठम दिने, चविया स्वामी सुपास ।
'जिन उत्तम' पद पद्मने, सेव्याथी शिव वास ॥७॥

[एकादशी का चैत्य-वन्दन ।]

शासन नायक वीरजी, वर केवल पायो ।
संघ चतुर्विध थापवा, महसेन वन आयो ॥१॥
माधव सित एकादशी, सोमल द्विज यज्ञ ।
इन्द्रभूति आदि मिल्या, एकादश विज्ञ ॥२॥
एकादशसें चउ गुणा, तेहनो परिवार ।
वेद अर्थ अवलो करे, मन अभिमान अपार ॥३॥
जीवादिक संशय हरी, एकादश गणधार ।
वीरे थाप्या वंदीये, जिन शासन जयकार ॥४॥

मल्लि जन्म अर मल्लि पास, वर चरण विलासी ।
रिषभ अजित सुमति नमी, मल्लि घनघाती विनाशी ॥५॥
पद्मप्रभ शिव वास पास, भव-भवना तोडी ।
एकादशी दिन आपणी, रिद्धि सघली जोडी ॥६॥
दश खेत्र तिहुं कालना, त्रणसें कल्याण ।
वरस अग्यार एकादशी, आराधो वर नाण ॥७॥
अगीआर अंग लखावीये, एकादश पाठां ।
पूंजणी ठवणी वींटणी, मसी कागल काठां ॥८॥
अगीआर अव्रत छांडवा, वहो पडिमा अगीआर ।
'क्षमाविजय' जिन शासने, सफल करो अवतार ॥९॥

[सिद्धचक्रजी का चैत्य-वन्दन ।]

पेहेले पद अरिहंतना, गुण गाउं नित्ये ।
बीजे सिद्ध तणा घणा, समरो एक चित्ते ॥१॥
आचारज त्रीजे पदे, प्रणमो बिहु कर जोडी ।
नमीये श्रीउवज्झायने, चोथे मद मोडी ॥२॥
पंचम पद सब साधुनुं, नमतां न आणो लाज ।
ए परमेष्ठी पंचने, ध्याने अविचल राज ॥३॥
दंसण-शंकादिक रहित, पद छट्ठे धारो ।
सर्व नाण पद सातमे, क्षण एक न विसारो ॥४॥
चारित्र चोखूं चित्तथी, पद अष्टम जपीये ।
सकल भेद बीच दान-फल, तप नववें तपीये ॥५॥
ए सिद्धचक्र आराधतां, पूरे वंछित कोड ।
'सुमतिविजय' कविरायनो, 'राम' कहे कर जोड ॥६॥

[पर्युषण का चैत्य-वन्दन ।]

पर्व पजुसण गुणनीलो, नव कल्प विहार ।
चउ मासांतर थिर रहे, एहिज अर्थ उदार ॥ १ ॥
आषाढ सुद चउदश थकी, संवत्सरी पचास ।
मुनिवर दिन सित्तेरमें, पड़िकमतां चौमास ॥ २ ॥
श्रावक पण समता धरी, करे गुरुनुं बहुमान ।
कल्पसूत्र सुविहित मुखे, सांभले थई एक तान ॥ ३ ॥
जिनवर चैत्य जुहारीये, गुरु भक्ति विशाल ।
प्राये अष्ट भवांतरे, वरीये शिव वरमाल ॥ ४ ॥
दर्पणथी निजरूपनो, जुए सुदृष्टि रूप ।
दर्पण अनुभव अर्पणा, ध्यान रमण मुनि भूप ॥ ५ ॥
आत्म स्वरूप विलोकतां, प्रगट्यो मित्र स्वभाव ।
'राय उदायी' खामणां, पर्व पजुसण दाव ॥ ६ ॥
नव वखाण पूजी सुणो, शुक्ल चतुर्थी सीम ।
पंचमी दिन वांचे सुणे, होय विरोधी नीम ॥ ७ ॥
ए नहीं पर्वे पंचमी, सर्व समाणी चोथे ।
भव भीरु मुनि मानसे, भाख्युं अरिहानाथे ॥ ८ ॥
श्रुतकेवली वयणा सुणी, लही मानव अवतार ।
'श्रीशुभ' वीरने शासने, पाम्या जय जय कार ॥ ९ ॥

[दिवाली का चैत्य-वन्दन ।]

सिद्धारथ नृप कुल-तिलो, त्रिशला जस मात ।
हरि लंछन तनु सात हाथ, महिमा विख्यात ॥ १ ॥

तीस वरस गृह वास छंडी, लिये संयम भार।
बार वरस छद्मस्थ मान, लही केवल सार ॥ २ ॥
तीस वरस इम सवि मली, बहोंतर आयु प्रमाण।
दीवाली दिन शिव गया, 'नय' कहे ते गुण खाण ॥ ३ ॥

[दूज का स्तवन।]

प्रणमी शारद माय, शासन वीर सुहंकरु जी।
बीज तिथि गुण-गेह, आदरो भवियण सुंदरु जी ॥१॥
इस दिन पंच कल्याण, विवरीने कहुं ते सुणो जी।
माघ सुदी बीजे जाण, जन्म अभिनन्दनतणो जी ॥२॥
श्रावण सुदीनी बीज, सुमति चव्या सुरलोकथी जी।
तारण भवोदधि तेह, तस पद सेवे सुर थोकथी जी ॥३॥
संमेतशिखर शुभ ठाण, दशमा शीतल जिन गणुं जी।
चैत्र वदीनी हो बीज, मुक्ति वर्या तस सुख घणुं जी ॥४॥
फल्गुन मासनी बीज, उत्तम उज्वलता मासनी जी।
अरनाथ च्यवन, कर्म क्षये भव पासनी जी ॥५॥
उत्तम माघज मास, सुदी बीजे वासुपूज्यनो जी।
एहिज दिन केवलनाण, शरण करो जिनराजनो जी ॥६॥
करणी रूप करो खेत, समकित रूप रोपो तिहां जी।
खातर किरिया हो जाण, खेड समता करी जिहां जी ॥७॥
उपशम तद्रूप नीर, समकित छोड़ प्रगट होवे जी।
संतोष करी अहो वाड़, पच्चखाण व्रत चोकी सोहे जी ॥८॥
नाशे करम रिपु चोर, समकित वृक्ष फल्यो तिहां जी।

मांजर अनुभव रूप, उतरे चारित्र फल जिहां जी ॥९॥
शान्ति सुधारस वारि, पान करी सुख लीजिए जी ।
तंबोल सम ल्यो स्वाद, जीवने संतोष रस कीजिए जी ।१०।
बीज करो दोय मास, उत्कृष्टि बावीस मासनी जी ।
चौविहार उपवास, पालिये शील वसुधासनी जी ।११।
आवश्यक दोय वार, पडिलेहण दोय लीजिए जी ।
देव-वन्दन त्रण काल, मन वच कायाए कीजिए जी ।१२।
ऊजमणुं शुभ चित्त, करी धरीये संयोगथी जी ।
जिनवाणी रस एम, पीजिए श्रुत उपयोगथी जी ।१३।
इण विधि करीये बीज, राग ने द्वेष दूरे करी जी ।
केवल पद लही तास, मुक्ति वरे ऊलट धरी जी ।१४।
जिनपूजा गुरुभक्ति, विनय करी सेवो सदा जी ।
'पद्मविजय' नो शिष्य, 'भक्ति' पामे सुख संपदा जी ॥१५॥

[पञ्चमी का स्तवन ।]

पञ्चमी तप तुमें करो रे प्राणी, जिम पामो निर्मल ज्ञान रे ।
पहेलुं ज्ञान ने पछी किरिया, नहीं कोई ज्ञान समान रे । पं०।१।
नंदीसूत्रमां ज्ञान वखाण्युं, ज्ञानना पांच प्रकार रे ।
मति श्रुत अवधि ने मनःपर्यव, केवलज्ञान श्रीकार रे । पं०।२।
मति अट्ठावीस श्रुत चउदह वीस, अवधि छ असंख्य प्रकार रे ।
दोय भेदे मनःपर्यव दाख्युं, केवल एक उदार रे । पं०।३।
चन्द्र सूर्य ग्रह नक्षत्र तारा, एह अनेक आकाश रे ।

केवलज्ञान समुं नहीं कोई, लोकालोक प्रकाश रे ।पं०।४।
पारसनाथ पसाय करीने, माहरी पूरो उमेद रे ।
'समयसुन्दर' कहे हुं पण पामुं, ज्ञाननो पांचमो भेद रे।पं०।५।

[अष्टमी का स्तवन ।]

वीर जिनवर एम उपदिशे, सांभलो चतुर सुजाण रे।
मोहनी निंद्मां कां पड़ो, ओलखो धर्मना ठाण रे।१।
विरतिए सुमति धरी आदरो ॥१॥ परिहरो विषय कषाय रे ।
बापड़ा पंच परमादथी, कां पड़ो कुगतिमां धाय रे।वि.।२।
करी सको धर्म करणी सदा, तो करो एह उपदेश रे ।
सर्व काले करी नवि सको, तो करो पर्व सुविशेष रे ।वि०।३।
जूजुआं पर्व खटनां कह्यां, फल घणां आगमे जोय रे ।
वचन अनुसार आराधतां, सर्वथा सिद्धि फल होय रे।वि०।४।
जीवने आयु परभव तणुं, तिथि दिने बन्ध होय प्राय रे।
तेह भणी एह आराधतां, प्राणिओ सद्गति जाय रे। वि० ।५।
तेहने अष्टमी फल तिहां, पूछे श्रीगौतम स्वाम रे।
भविक जीव जाणवा कारणे, कहे श्रीवीर प्रभु ताम रे। वि०।६।
अष्ट महासिद्धि होय एहथी, संपदा आठनी वृद्धि रे ।
बुद्धिना आठ गुण संपजे, एहथी आठ गुण सिद्धि रे।वि०।७।
लाभ होय आठ पाडिहारनो, आठ पवयण फल होय रे ।
नाश अड कर्मनो मूलथी, अष्टमीनुं फल जोय रे । वि०।८।
आदि जिन जन्म दीक्षा तणो, अजितनो जन्म कल्याण रे।
चवन संभव तणो एह तिथे, अभिनन्दन निरवाण रे । वि०।९।

सुमति सुव्रत नमि जन्मीया, नेमनो मुक्ति दिन जाण रे ।
पास जिन एह तिथे सिद्धला, सातमा जिन चवन माण रे। वि.।१०।
एह तिथे साधतो राजीयो, दंडवीरज लह्यो मुक्ति रे ।
कर्म हणवा भणी अष्टमी, कहे श्रीसूत्र निर्युक्ति रे । वि.।११।
अतीत अनागत कालनां, जिनतणां केई कल्याण रे ।
एह तिथे वली घणा संयमी, पामसे पद निरवाण रे । वि.।१२।
धर्म-वासित पशु पंखिया, एह तिथे करे उपवास रे।
व्रतधारी जीव पौषध करे, जेहने धर्म अभ्यास रे । वि० ।१३।
भाखियो वीरे आठमतणो, भविक हित एह अधिकार रे।
जिन मुखे ऊचरी प्राणिया, पामसे भवतणो पार रे । वि.।१४।
एहथी संपदा सवी लहे, टले वली कष्टनी कोड रे ।
सेवजो शिष्य बुध 'प्रेम' नो, कहे 'कान्ति' कर जोड़ रे । वि.।१५।

[कलश ।]

एम त्रिजग भासन, अचल शासन, वर्धमान जिनेश्वरु ।
बुध प्रेम गुरु, सुपसाय पामी, संथुण्यो अलवेसरु ॥
जिन गुण प्रसंगे, भण्यो रंगे, स्तवन ए आठमतणो ।
जे भविक भावे, सुणे गावे, 'कान्ति' सुख पावे घणो ।१६

[एकादशी का स्तवन ।]

समवसरण बेठा भगवंत, धर्म प्रकाशे श्रीअरिहंत ।
बार परषदा बेठी रुड़ी, मागसिर सुदी अगीआरस बड़ी ।१।
मल्लिनाथना तीन कल्याण, जन्म दीक्षा ने केवलनाण ।
अरजिन दीक्षा लीधी रुड़ी, मागसिर सुदी अगीआरस बड़ी ।२।

नमीने उपज्युं केवलज्ञान, पांच कल्याणक अतिप्रधान।
ए तिथिनी महिमा वड़ी, माग० ॥ ३ ॥
पांच भरत ऐरवत इम ही ज, पांच कल्याणक हुए तिम ही ज।
पचासनी संख्या परगड़ी, माग० ॥ ४ ॥
अतीत अनागत गणतां एम, दोढ़ सो कल्याणक थाय तेम।
कुण तिथि छे ए तिथि जे बड़ी, माग० ॥ ५ ॥
अनंत चोवीसी इण परे गणो, लाभ अनंत उपवास तणो।
ए तिथि सहु शिर ए खड़ी, माग० ॥ ६ ॥
मौनपणे रह्या श्रीमल्लिनाथ, एक दिवस संयम व्रत साथ।
मौनतणी परे व्रत इम बड़ी, माग० ॥ ७ ॥
आठ पहोरी पोसह लीजिए, चौविहाहार विधिशुं कीजिए।
पण प्रमाद न कीजे घड़ी, माग० ॥ ८ ॥
वर्ष इग्यार कीजे उपवास, जाव जीव पण अधिक उल्लास।
ए तिथि मोक्षतणी पावड़ी, माग० ॥ ९ ॥
ऊजमणुं कीजे श्रीकार, ज्ञानोपगरण इग्यार इग्यार।
करो काउस्सग्ग गुरुपाये पड़ी, माग० ॥१०॥
देहरे स्नात्र कीजिजे वली, पोथी पूजिजे मन रली।
मुक्ति पुरी कीजे ढूंकड़ी, माग० ॥११॥
मौन अग्यारस मोटुं पर्व, आराध्यां सुख लहीये सर्व।
व्रत पच्चक्खाण करो आखड़ी, माग० ॥१२॥
जेसल सोल इक्यासी समे, कीधुं स्तवन सहु मन गमे।
'समयसुन्दर' कहे दाहाड़ी, माग० ॥१३॥

[सिद्धचक्र(नवपद)जी का स्तवन ।]

सेवो सिद्धचक्र भवी सुखकारी रे, नवपद महिमा जग भारी । से०।
कहै जोग असंख प्रकारा रे, मुख्य नवपद मनमें धारा रे,
होवे भवीजन भवोदधि पारा ॥ सेवो० ॥ १ ॥
अरिहंत प्रथम पद जानों रे, नहीं दोष अष्टादश मानों रे,
प्रभु चार अनन्त बखानों ॥ सेवो० ॥ २ ॥
बीजे पद सिद्ध अनंता रे, खपी कर्म हुए भगवंता रे,
निज रूपमें रमण करंता ॥ सेवो० ॥ ३ ॥
तीजे पद श्रीसूरि राया रे, षट्त्रिंश गुणे करी ठाया रे,
पाले पंच आचार सवाया ॥ सेवो० ॥ ४ ॥
चौथे पद पाठक सोहे रे, मुनि गण भवी जनको बोहे रे,
जिनशासनमें नित जोहे ॥ सेवो० ॥ ५ ॥
पंचम पद साधु कहावे रे, पाले पंच महाव्रत भावे रे,
गुण रिषि करे मान धरावे ॥ सेवो० ॥ ६ ॥
पद छट्ठे दर्शन प्यारा रे, ज्ञान चरण विना जस खारा रे,
शुभ सडसठ भेद विचारा ॥ सेवो० ॥ ७ ॥
पद सातमे ज्ञान विकासे रे, अज्ञान तिमिरको विनाशे रे,
निज आतम रूप प्रकाशे ॥ सेवो० ॥ ८ ॥
पद आठमे चरण सुहावे रे, जस शरण परम सुख पावे रे,
रंक चरण पसाय पूजावे ॥ सेवो० ॥ ९ ॥
नवमें पद तप सुखदाई रे, महाकठिन कर्म क्षय थाई रे,
देवे ज्योतिमें ज्योति मिलाई ॥ सेवो० ॥ १० ॥

तपगच्छ सूरि महाराया रे, नमी 'विजयानन्द सूरि' पाया रे,
नयाशहर 'वल्लभ' गुण गाया ॥ सेवो० ॥ ११ ॥

[पर्युषण पर्व का स्तवन ।]

उत्तम पर्युषण आये, श्रीवीर जिनन्दा ।
पूजा सतरां भेदे करी, सेवो भवि चन्दा ॥ उ० ॥१॥
शाश्वती चैतर आसु दो, चउमासे तीन सोहंदा ।
भादो पर्युषण चउथी, अट्ठाई कहंदा ॥ उ० ॥२॥
जीवाभिगममें देखो, चउविह सूर इंदा ।
नंदीश्वर जाके महोच्छव, अट्ठाई करंदा ॥ उ० ॥३॥
ठामे निज नर विद्याधर, जिन चैत्य जमंदा ।
अट्ठाई महोच्छव करके, टारे भव फंदा ॥ उ० ॥४॥
अमारी आठ दिवस तप, अट्ठम अतिनंदा ।
करी खामण सुध भावोंसे, निज कर्म जरंदा ॥ उ० ॥५॥
परिपाटी चैत्य सुहंकर, परमानन्द कंदा ।
साधर्मी वत्सल करके, पुण्य भार भरंदा ॥ उ० ॥६॥
मंतरमें पंच परमिट्ठी, तीरथमें सिद्ध गिरिंदा ।
पर्वोंमें पर्व पजूसन, सूत्रोंमें कल्प अमंदा ॥ उ० ॥७॥
छठ करके बड़ा कलपका, सुनीये श्रीवीर जिनंदा ।
एकम दिन जनम महोच्छव, मंगल वरतंदा ॥ उ० ॥८॥
तेलाधर गणधर सुनीये, अतिवाद करंदा ।
निर्वाण महोच्छव करते, मिल सुर नर इंदा ॥ उ० ॥९॥

पारस नेमि जिन अंतर, श्रीरिषभ जिनंदा।
गुर्वावली अरु बारांसे, सामाचारी नंदा ॥ उ०॥१०॥
सुनके वाचनी नव भावें, शिव लक्ष्मी वरंदा।
निज आतमराम सरूपे, 'वल्लभ' हर्षदा ॥ उ०॥११॥

[दिवाली का स्तवन।]

जयो जगस्वामी वीर जिनंद ॥ टेर ॥
नगर अपापामें प्रभु आये,
भवि जनको उपकार करंद ॥ ज० ॥ १ ॥
निज निरवान समयको जानी,
सोलां पहर प्रभु धर्म कहंद ॥ ज० ॥ २ ॥
कार्तिक वदी पंद्रसकी राते,
प्रातःकाल प्रभु मुक्ति लहंद ॥ ज० ॥ ३ ॥
परमातम पद छिनकेमें लीनो,
आठ करमको दूर हरंद ॥ ज० ॥ ४ ॥
कल्याणक निर्वाण महोच्छव,
कारण मिल कर आये सुरींद ॥ ज० ॥ ५ ॥
पापा नगरी नाम कहायो,
अस्त भयो जिहां ज्ञान दिनंद ॥ ज० ॥ ६ ॥
नव मल्ली नव लच्छी राजा,
शोक अतिशय दिलमें धरंद ॥ ज० ॥ ७ ॥
भाव उद्योत गया अब जगसे,
द्रव्य उद्योतको दीप करंद ॥ ज० ॥ ८ ॥

तिस कारन दीवाली होई,
ध्यान धरो प्रभु वीर जिनंद ॥ ज० ॥ ९ ॥
कार्तिक सुदी एकम दिन थावे,
गौतम केवलज्ञान गहंद ॥ ज० ॥ १० ॥
आतमराम परम पद पामे,
'वल्लभ' चित्तमें हर्ष अमंद ॥ ज० ॥ ११ ॥

[संमेतशिखर का स्तवन ।]

यात्रा नित करीये नित करीये, गिरि समेतशिखर पग परीये
वीस जिनेश्वर मोक्ष पधारे, दर्शन करी सब तरीये । या० ।१।
काम क्रोध माया मद तृष्णा, मोह मूल परिहरीये । या० ।२।
वीसो टूंके वीस प्रभुके, चरण कमल मन धरीये । या० ।३।
आश्रव रोध संवर मन आणी, कठिन कर्म निर्जरीये । या० ।४।
राग द्वेष प्रतिमल्लको जीती, वीतराग पद वरीये । या० ।५।
भद्रबाहु गुरु एम पयंपे, दर्शनशुद्धि अनुसरीये । या० ।६।
मूलनायक श्रीपास जिनेसर, करी दर्शन चित्त ठरीये । या० ।७।
शुभ भावे प्रभु तीरथ 'वल्लभ', आतम आनन्द भरीये । या० ।८।

[आबूजी का स्तवन ।]

सेवो भवि आदिनाथ जग त्राता रे, आबू मंडन सुखदाता । सेवो०
प्रभु चार निक्षेपे सोहे रे, नाम स्थापना द्रव्य भाव मोहे रे,
तत्त्व सम्यग्दृष्टि बोहे ॥ सेवो० ॥ १ ॥
प्रभु-नाम नाम जिन कहिये रे, स्थापना जिन पड़िमा लहिये रे,
द्रव्य जीव जिनेश्वर गहिये ॥ सेवो० ॥ २ ॥

समवसरणमें भाव जिनंदा रे, शोभे उडु-गणमें जिम चंदा रे,
टारे जन्म मरण भव फंदा ॥ सेवो० ॥ ३ ॥
प्रभु-मूर्ति प्रभु सम जानी रे, अंगीकार करे शुभ ध्यानी रे,
ए तो मोक्षतणी छे निशानी ॥ सेवो० ॥ ४ ॥
नहीं हाथ धरे जपमाला रे, नहीं नाटक मोहना चाला रे,
प्रभु निर्मल दीनदयाला ॥ सेवो० ॥ ५ ॥
नहीं शस्त्र नहीं संग नारी रे, प्रभु वीतराग अविकारी रे,
जग जीवतणा हितकारी ॥ सेवो० ॥ ६ ॥
प्रभु-मुद्रा शान्त सुधारी रे, आतम आनंद सुखकारी रे,
'वल्लभ' मन हर्ष अपारी ॥ सेवो० ॥ ७ ॥

[तारङ्गाजी का स्तवन ।]

अजित जिनेश्वर भेटीये हो लाल,
तीर्थ तारंगा सुखकार, बलिहारी रे ।
यात्रा करो भवी भावथी हो लाल,
समकित मूल आचार, बलि० ॥ अ० ॥ १ ॥
थया उद्धार पूर्वे घणा हो लाल,
कुमारपाल वर्तमान, बलि० ।
कर्यो उद्धार सुहामणो हो लाल,
गणधर थासे भगवान, बलि० ॥ अ० ॥ २ ॥
चैत्य मनोहर शोभतुं हो लाल,
मेरु महीधर जान, बलि० ।
मुक्ति स्वर्ग आरोहणे हो लाल,

सोपान पंक्ति समान, बलि०॥ अ० ॥ ३ ॥
पांचमे आरे दोहिलो हो लाल,
तीरथ दर्शन स्वल्प, बलि०।
पुण्यहीन पामें नहीं हो लाल,
मरुधरमां जिम कल्प, बलि०॥ अ० ॥ ४ ॥
गर्भतणा परतापथी हो लाल,
विजया न जीत्यो कंत, बलि०।
तेह कारण नाम थापियो हो लाल,
अजितनाथ भगवंत, बलि०॥ अ० ॥ ५ ॥
नाम यथारथ साचव्यो हो लाल,
जीती मोह नरींद, बलि०।
अजित आजित पदवी वरी हो लाल,
सेवे सुर नर इंद, बलि०॥ अ० ॥ ६ ॥
अजितनाथ करुणा करो हो लाल,
होवे सेवक जीत, बलि०।
आतम लक्ष्मी संपजे हो लाल,
प्रगटे 'वल्लभ' प्रीत, बलि०॥ अ० ॥ ७ ॥

[राणकपुर का स्तवन।]

राणकपुर रलीयामणुं रे लाल, श्रीआदीश्वर देव, मन मोह्युं रे।
उत्तंग तोरण देहरुं रे लाल, निरखीजे नित्यमेव, म०॥ रा० ॥ १ ॥
चौवीस मंडप चिहुं दिशे रे लाल, चउमुख प्रतिमा चार, म०।
त्रिभुवन दीपक देहरुं रे लाल, समोवड़ नहीं संसार, म०। रा०।२।

देहरी चोरासी दीपती रे लाल, मांड्यो अष्टापद मेर, म० ।
भले जुहार्यां भोंयरां रे लाल, सुतां ऊठी सवेर, म० ॥ रा० ॥३॥
देश आणीतुं देहरुं रे लाल, मोटो देश मेवाड़, म० ।
लाख नवाणुं लगावीया रे लाल, 'धन्न' धरणे पोरवाड़, म० । रा०
खरतर वसई खांतशुं रे लाल, नीरखतां सुख थाय, म० ।
प्रासाद पांच बीजा वली रे लाल, जोतां पातक जाय, म० । रा० ५
आज कृतारथ हुं थयो रे लाल, आज थयो आनंद, म० ।
यात्रा करी जिनवरतणी रे लाल, दूर गयुं दुःख दंद, म० । रा० ६
संवत सोल ने छोंतरे रे लाल, मागसर मास मोझार, म० ।
राणकपुर यात्रा करी रे लाल, 'समयसुन्दर' सुखकार, म० । रा०

[आदीश्वरजी का स्तवन ।]

जग-जीवन जगवाल हो, मरुदेवीनो नंद लाल रे ।
मुख दीठे सुख ऊपजे, दर्शन अति ही आनन्द लाल रे । ज० ॥१॥
आंखडी अंबुज पांखड़ी, अष्टमी शशी सम भाल लाल रे ।
वदन ते शारद चंदलो, वाणी अति ही सरल लाल रे । ज० ॥२॥
लक्षण अंगे विराजतां, अड़हियसहस उदार लाल रे ।
रेखा कर चरणादिके, अभ्यंतर नहीं पार लाल रे । ज० ॥३॥
इंद्र चंद्र रवि गिरितणा, गुण लई घड़ीयुं अंग लाल रे ।
भाग्य किहां थकी आवीयुं, अचरज एह उत्तंग लाल रे । ज० ॥४॥
गुण सघला अंगे कर्या, दूर कर्या सवी दोष लाल रे ।
वाचक 'जशविजये' थुण्यो, देजो सुखनो पोष लाल रे । ज० ॥५॥

[श्रीअनन्तनाथ जिन का स्तवन।]

अनंत जिनंदसुं प्रीतड़ी, नीकी लागी हो अमृत रस जेम।
अवर सरागी देवनी, विष सरखी हो सेवा करूं केम। अ० ॥१॥
जिम पद्मनी मन पिउ वसे, निर्धनीया हो मन धनकी प्रीत।
मधुकर केतकी मन वसे, जिम साजन हो विरही जन चित्त। अ०२
करसण मेघ आषाढ़ ज्यूं, निज वाछड़ हो सुरभि जिम प्रेम।
साहिब अनंत जिनंदसुं, मुझ लागी हो भक्ति मन तेम। अ०॥३॥
प्रीति अनादिनी दुःख भरी, मैं कीधी हो पर पुद्गल संग।
जगत भम्यो तिन प्रीतसुं, सांग धारी हो नाच्यो नव २ रंग। अ०
जिनको अपना जानीया, तिन दीधा हो छिनमें अति छेह।
पर-जन केरी प्रीतड़ी, मैं देखी हो अंते निसनेह। अ० ॥५॥
मेरो नहीं कोई जगतमें, तुम छोड़ी हो जगमें जगदीश।
प्रीत करूं अब कोनसुं, तूं त्राता हो मोने विसवा वीस। अ० ॥६॥
'आतमराम' तूं माहरो, सिर सेहरो हो हियड़ानो हार।
दीनदयाल कृपा करो, मुझ वेगा हो अब पार उतार ॥ अ०॥७॥

[श्रीमहावीर-जिन का स्तवन।]

गिरुआ रे गुण तुमतणा, श्रीवर्धमान जिनराया रे।
सुणतां श्रवणे अमी झरे, निर्मल थाये मोरी काया रे॥ गि० ॥१॥
तुम गुण-गण गंगा-जले, हुं झीली निर्मल थाऊं रे।
अवर न धंधो आदरूं, निशि दिन तोरा गुण गाऊं रे॥ गि०॥२॥
झील्या जे गंगा-जले, ते छिल्लर जल नवि पेसे रे।
जे मालती फूले मोहिया, ते बावल जई नवि बेसे रे॥ गि० ॥३॥

एम अमे तुम गुण गोठसुं, रंगे राच्या ने वली माच्या रे ।
तें केम पर सुर आदरुं, जे परनारी-वश राच्या रे ॥ गि० ॥४॥
तुं गति तुं मति आसरो, तुं आलंबन मुझ प्यारो रे ।
'वाचकजश' कहे माहरे, तुं जीव जीवन आधारो रे ॥ गि० ॥५॥

[दूज की स्तुति ।]

(१)

जंबूद्वीपे, अहनिश दीपे, दोय सूरज दोय चंदा जी ।
तास विमाने, श्रीरिषभादिक, शाश्वता जिनचंदाजी ॥
तेह भणी उगते शशी निरखी, प्रणमे भवी जन वृंदा जी ।
बीज आराधो, धर्मनी बीजे, पूजी शान्ति जिणंदा जी ॥१॥

(१)

द्रव्य भाव दोय, भेदे पूजो, चोवीशे जिनचंदाजी ।
बंधन दोय, करीने दूरे, पाम्या परमाणंदा जी ॥
दुष्ट ध्यान दोय, मत्त मातंगज, भेदन मत्त महेंदा जी ।
बीजतणे दिन जेह आराधे, ते जगमां चिर नंदा जी ॥२॥

(१)

दुविध धर्म जिन-राज प्रकाशे, समवसरण मंडाण जी ।
निश्चय ने, व्यवहार बेहु सुं, आगम मधुरी वाणी जी ॥
नरक तिर्यच गति, दोय न होवे, जे बीज तिथि आराधे जी ।
दुविध दया तस, थावर केरी, करता शिव सुख साधे जी ॥३॥

(१)

बीज चंद परे, भूषणभूषित, दीपे ललवट चंदा जी ।
गरुड़ जक्ष नारी सुखकारी, निरवाणी सुख कंदा जी ।
बीजतणो तप, करतां भविने, समकित सानिध्यकारी जी ।
'धीरविमल' कवि,शिष्य कहे सीख,संघना विघन निवारी जी

[पञ्चमी की स्तुति ।]

(१)

नेमी जिनेसर, प्रभु परमेसर, वंदो मन उल्लास जी ।
श्रावण सुदी, पंचमी दिन जनम्या, हुओ त्रिजग प्रकाश जी ॥
जन्म महोच्छव,करवा सुरपति, पांच रूप करी आवे जी ।
मेरु शिखरपर, उत्सव करीने, विबुध सयल सुख पावे जी ॥१॥

(१)

श्रीशत्तरुंजय, गिरिनार वंदूं, कंचन गिरि वैभार जी ।
समेतशिखर, अष्टापद आबू, तारंग गिरिने जुहार जी ।
श्रीफलवर्धा, पास मंडोवर, शंखेसर प्रभु देव जी ।
सयल तीरथनुं, ध्यान धरीजे, अहनिश कीजे सेव जी ॥२॥

(१)

वरदत्त ने गुणमंजरी परबंध, नेमी जिनेसर दाख्यो जी ।
पंचमी तप करतां सुख पाम्या, सुत्र सकलमां भांख्यो जी ॥
नमो नाणस्स इम, गणणुं गणीये, विधि सहित तप कीजे जी ।
उलट धरी ऊजमणुं करतां, पंचमी गति सुख लीजे जी॥३॥

(१)

पंचमीनुं तप, जे नर करशे, सान्निध्य करे अंबाई जी ।
दौलत दाई अधिक, सवाई, देवी दे ठकुराई जी ॥
तपगच्छ अंबर, दिनकर सरिखो, 'श्रीविजयसिंह' सूरीश जी ।
'वीरविजय' पंडित कविराजा, विबुध सदा सुजगीश जी ॥४॥

[अष्टमी की स्तुति ।]

(१)

मंगल आठ करी जस आगल, भाव धरी सुरराज जी ।
आठ जातिना, कलश भरी ने, नवरावे जिनराज जी ॥
वीर जिनेश्वर, जन्म महोत्सव, करतां शिव सुख साधे जी ।
आठमनो तप, करतां अमघर, मंगल कमला वाधे जी ॥१॥

(१)

अष्ट करम वयरी गज गंजन, अष्टापद परे बलिया जी ।
आठमे आठ सुरूप विचारी, मद आठे तस गलिया जी ॥
अष्टमी गति जे, पहोंता जिनवर, फरस आठ नहीं अंग जी ।
आठमनो तप करतां अमघर, नित नित वाधे रंग जी॥२॥

(१)

प्रातिहारज, आठ विराजे, समवसरण जिन राजे जी ।
आठमे आठसो, आगम भाखी, भवी मन संशय भांजे जी॥
आठे जे प्रवचननी माता, पाले निरतिचारो जी ।
आठमने दिन, अष्ट प्रकारे, जीव दया चित्त धारो जी॥३।

(४)

अष्ट प्रकारी, पूजा करी ने, मानव भव फल लीजे जी।
सिद्धाई देवी, जिनवर सेवी, अष्ट महासिद्धि दीजे जी ॥
आठमनो तप, करतां लीजे, निर्मल केवलनाण जी।
'धीरविमल' कवि, सेवक 'नय' केहे, तपथी कोड़ कल्याण जी॥४॥

[एकादशी की स्तुति ।]

(१)

एकादशी अति रूअड़ी, गोविंद पूछे नेम ।
कोण कारण ए पर्व महोड़ुं, कहो मुजसुं तेम ॥
जिनवर कल्याणक अतिघणा, एक सो ने पच्चास ।
तेणे कारण ए पर्व महोड़ुं, करो मौन उपवास ॥१॥

(२)

अगीयार श्रावक तणी प्रतिमा, कही ते जिनवर देव ।
एकादशी एम अधिक सेवो, वन-गजा जिम रेव ॥
चोवीस जिनवर सयल सुखकर, जैसा सुरतरु चंग ।
जेम गंग निर्मल नीर जेहवो, करो जिनसुं रंग ॥२॥

(३)

अगीयार अंग लखावीये, अगीयार पाठां सार ।
अगीयार कवली वींटणां, ठवणी पूंजणी सार ॥
चाबखी चंगी विविध रंगी, शास्त्रतणे अनुसार ।
एकादशी एम ऊजवो, जेम पामीये भवपार ॥३॥

(१)

वर कमलनयणी कमलवयणी, कमल सुकोमल काय ।
भुज दंड चंड अखंड जेहने, समरतां सुख थाय ॥
एकादशी एम मन वशी, गणी 'हर्ष' पंडित शिष्य ।
शासनदेवी विघन निवारो, संघतणा निश दिस ॥४॥

[सिद्धचक्रजी की स्तुति ।]

(१)

वीर जिनेसर, भवन दिनेसर, जगदीसर जयकारी जी ।
श्रेणिक नरपति, आगल जंपे, सिद्धचक्र तप सारी जी ॥
समकित दृष्टि, त्रिकरण शुद्धे, जे भवियण आराधे जी ।
श्रीश्रीपाल नरिंद परे तस, मंगल कमला वाधे जी ॥१॥

(१)

अरिहंत बीच सिद्ध सूरि पाठक, साधु चिहुं दिशि सोहे जी ।
दंसण नाण चरण तप विदिशे, ए नव पद मन मोहे जी ॥
आठ पांखडी हृदयांबुज रोपी, लोपी राग ने रीस जी ।
ॐ ह्रीं पद, एकनी गणीये, नवकारवाली वीस जी ॥२॥

(१)

आसो चैतर सुदी सातमथी, मांडी शुभ मंडाण जी ।
नव निधि दायक, नव नव आंबिल, एम एकाशी प्रमाण जी ॥
देव-वन्दन पडिक्कमणुं पूजा, स्नात्र महोत्सव चंग जी ।
ए विधि सघलो, जिहां उपदिश्यो, प्रणमुं अंग उपांग जी ॥३॥

(१)

तप पूरे ऊजमणुं कीजे, लीजे नर भव लाह जी।
जिनगृह-पड़िमा, स्वामी-वत्सल, साधु-भक्ति उत्साहं जी ॥
विमलेसर, चक्केसरी देवी, सान्निध्य कारी राजे जी।
श्रीगुरु 'क्षमाविजय' सुपसाये, मुनि 'जिन' महिमा छाजे जी४

[पर्युषण पर्व की स्तुति ।]

(१)

सत्तर भेदी जिन, पूजा रची ने, स्नात्र महोत्सव कीजे जी।
ढोल ददामा, भेरी नफेरी, झल्लरी नाद सुणीजे जी ॥
वीर जिन आगल, भावना भावी, मानव भव फल लीजे जी।
पर्व पजुसण, पूरव पुण्ये, आव्यां एम जाणीजे जी ॥१॥

(१)

मास पास वली, दसम दुवालस, चत्तारी अट्ठ कीजे जी।
ऊपर वली दश, दोय करी ने, जिन चौवीस पूजीजे जी॥
वड़ा कल्पनो, छट्ठ करी ने, वीर वखाण सुणी जे जी।
पड़वेने दिन, जन्म महोत्सव, धवल मंगल वरतीजे जी ॥२॥

(१)

आठ दिवस लगे अमर पलावी, अट्ठमनो तप कीजे जी।
नागकेतुनी परे, केवल लहीये, जो शुभ भावें रहीये जी ॥
तेलाधर दिन, त्रण कल्याणक, गणधर वाद वदीजे जी।
पास नेमीसर, अंतर तीजे, रिषभ चरित्र सुणीजे जी ॥३॥

(१)

बारसा सूत्र ने, सामाचारी, संवच्छरी पड़िक्कमीये जी।
चैत्य प्रवाड़ी, विधिसुं कीजे, सकल जंतु खामीजे जी॥
पारणाने दिन, स्वामी-वत्सल, कीजे अधिक वड़ाई जी।
'मानविजय' कहे, सकल मनोरथ, पूरे देवी सिद्धाई जी॥४॥

[दीवाली की स्तुति।]

(१)

मनोहर मूर्ति महावीरतणी, जिणे सोल पहोर देशना पभणी।
नवमल्ली नवलच्छी नृपति सुणी, कही शिव पाम्या त्रिभुवन-धणी।

(१)

शिव पहोंता रिषभ चउदश भक्ते, बावीस लह्या शिव मास थीते
छट्ठे शिव पाम्या वीर वली, कार्तिक वदी अमावस्या निर्मली।

(१)

आगामी भावी भाव कह्या, दीवाली कल्पे जेह लह्या।
पुण्य पाप फल अज्झयणे कह्या, सवी तहत्ति करी ने सद्दह्या।३।

(१)

सवी देव मिली उद्योत करे, परभाते गौतम ज्ञान वरे।
'ज्ञानविमल' सद्गुण विस्तरे, जिनशासनमां जयकार करे।४।

[क्रोध की सज्झाय।]

कडवां फल छे क्रोधना, ज्ञानी एम बोले।
रीसतणो रस जाणीए, हलाहल तोले। क्रो० ॥१॥

क्रोधे क्रोड़ पूरवतणुं, संजम फल जाय ।
क्रोध सहित तप जे करे, ते तो लेखे न थाय। क० ॥२॥
साधु घणो तपीयो हतो, धरतो मन वैराग ।
शिष्यना क्रोधथकी थयो, चंडकोशीयो नाग । क० ॥३॥
आग ऊठे जे घरथकी, ते पहेलुं घर बाले ।
जलनो जोग जो नवि मिले, तो पासेनुं पर जाले। क० ॥४॥
क्रोधतणी गति एहवी, कहे केवलनाणी ।
हाण करे जे हितनी, जालवजो इम जाणी ।क०॥५॥
'उदयरत्न' कहे क्रोधने, काढजो गले साही ।
काया करजो निर्मली, उपशम रस नाही । क० ॥६॥

[मौन एकादशी की सज्झाय ।]

आज मारे एकादशी रे, नणदल मौन करी मुख रहीये
पुछयानो पडुत्तर पाछो, केहने कांई न कहीये ।आ० ।१।
मारो नणदोई तुजने वहालो, मुजने तारो वीरो ।
धूँआड़ानो बाचक भरतां, हाथ न आवे हीरो। आ० ।२।
घरनो धंधो घणो कर्यो पण, एक न आव्यो आड़ो।
परभव जातां पालव झाले, ते मुजने देखाड़ो। आ० ।३।
मागसर सुदी अगीयारस मोटी, नेवुं जिनना निरखो ।
दोढ सो कल्याणक मोटां, पोथी जोईने हरखो। आ०।४।
सुव्रत शेठ थयो शुद्ध श्रावक, मौन धरी मुख रहीयो।
पावक पूर सघलो परजाल्यो, एहनो कांई न दहीयो।आ०५

आठ पहोरनो पोसह करीये, ध्यान प्रभुनुं धरीये ।
मन वच काया जो वश करीये, तो भव सायर तरीये । आ० ।६।
इर्यासमिति भाषा न बोले, आडुं अवलुं पेखे ।
पडिक्कमणासुं प्रेम न राखे, कहो केम लागे लेखे । आ० ।७।
कर ऊपरं तो माला फिरती, जीव फिरे मन मांहीं ।
चितडुं तो चिहुँ दिशि डोले, इण भजने सुख नाहीं । आ० ।८।
पोपथशाले भेगां थईने, चार कथा वली सांधे ।
कांईक पाप मिटावण आवे, बार गणुं वली बांधे । आ० ।९।
एक ऊठती आलस मोड़े, बीजी ऊँघे बैठी ।
नदीयो मांथी कांइक निसरती, जई दरियामां पेठी । आ० ।१०।
आई बाई नणंद भोजाई, नानी मोटी वहुने ।
सासु ससरो मा ने मासी, शिखामण छे सहुने । आ० ।११
'उदयरत्न वाचक' उपदेशे, जे नर नारी रहेशे ।
पोसहमांहे प्रेम धरीने, अविचल लीला लेशे । आ० ।१२।

[आप स्वभाव की सज्झाय ।]

आप स्वभाव में रे, अवधु सदा मगन में रहना ।
जगत जीव है कर्माधिना, अचरज कछुअ न लिना । आ० ।१।
तुम नहीं केरा कोई नहीं तेरा, क्या करे मेरा मेरा ।
तेरा है सो तेरी पासे, अवर सभी अनेरा । आ० ।२।
वपु विनाशी तू अविनाशी, अब है इन का विलासी ।
वपु संग जब दूर निकासी, तब तुम शिव का वासी । आ० ।३।

राग ने रीसा दोय खवीसा, ए तुम दुःख का दीसा।
जब तुम इन को दूर करीसा, तब तुम जग का ईसा। आ०।४।
पर की आशा सदा निराशा, ए है जग जन पाशा।
ते काटन कुं करो अभ्यासा, लहो सदा सुख वासा। आ०।५।
कबहीक काजी कबहीक पाजी, कबहीक हुआ अथभ्राजी।
कबहीक जग में कीर्ति गाजी, सब पुद्गल की बाजी। आ०।६।
शुद्ध उपयोग ने समता धारी, ज्ञान ध्यान मनोहारी।
कर्म कलंक कुं दूर निवारी, 'जीव' वरे शिव नारी। आ०।७।

[अनित्य भावना की सज्झाय ।]

यौवन धन थीर नहीं रहना रे।
प्रात समय जो निजरे आवे, मध्य दिने नहीं दीसे।
जो मध्याने सो नहीं राते, क्यों विरथा मन हींसे। यौ०।१।
पवन झकोरे बादल विनसे, त्युं शरीर तुम नासे।
लच्छी जल-तरंगवत् चपला, क्यों बांधे मन आसे। यौ०।२।
वल्लभ संग सुपन सी माया, इन में राग ही कैसा।
छिन में ऊड़े अर्क तूल ज्यूं, यौवन जग में ऐसा। यौ०।३।
चक्री हरि पुरंदर राजे, मद माते रस मोहे।
कौन देश में मरी पहुंते, तिन की खबर न कोहे। यौ०।४।
जग माया में नहीं लोभावे, 'आतमराम' सयाने।
अजर अमर तू सदा नित्य है, जिनधुनि यह सुनी काने। यौ०५।

[एकत्व भावना की सज्झाय।]

तू क्यों भूल परे ममता में, या जग में कह कौन है तेरो।
आयो एक ही एक ही जावे, साथी नहीं जग सुपन वसेरो।
एक ही सुखदुःख भोगवे प्राणी, संचित जो जन्मांतर केरो। तू ।१
धन संच्यो करी पाप भयंकर, भोगत स्वजन आनंद भरे रो।
आप मरी गयो नरक ही थाने, सहे कलेश अनंत खरे रो। तू ।२।
जिस वनिता से मदन हीं मातो, दिये आभरण ही वसन भले रो।
वह तनु तजी परपुरुष के संगे, भोग करे मन हर्ष घनेरो। तू ।३।
जीवितरूप विद्युतसम चंचल, डाभ अनी उदबिंदु लगे रो।
इन में क्यों मुरझायो चेतन, सत चिद आनंद रूप एके रो। तू४।
एक ही 'आतमराम' सुहंकर, सर्व भयंकर दूर टरे रो।
सम्यग दरसन ज्ञान स्वरूपी, भेख संयोग ही बाह्य धरे रो। तू ५।

[पद १।]

आशा औरन की क्या कीजे, ज्ञान सुधारस पीजे।
भटके द्वार द्वार लोकन के, कूकर आशा धारी।
आतम अनुभव रस के रसिया, उत्तरे न कबहु खुमारी। आ०।१।
आशा दासी के जे जाया, ते जन जग के दासा।
आशा दासी करे जे नायक, लायक अनुभव प्यासा। आ०२।
मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म-अग्नि परजाली।
तन भाठी अवटाई पिये कस, जागे अनुभव लाली। आ०।३
अगम पियाला पियो मतवाला, चिन्ही अध्यातम वासा।
'आनन्दघन' चेतन व्है खेले, देखे लोक तमासा। आ०।४।

[२ ।]

हम मगन भये प्रभु ध्यान में ।
बिसर गई दुविधा तन मन की, अचिरासुत-गुन-गान में ।ह० १।
हरि हर ब्रह्म पुरंदर की रिद्धि, आवत नांहीं कोउ मान में ।
चिदानंद की मौज मची है, समता रस के पान में । ह०२।
इतने दिन तू नाहीं पिछान्यो, मेरो जन्म गमायो अजान में ।
अब तो अधिकारी होई बैठे, प्रभुगुन अखय खजान में ।ह० ३।
गई दीनता सब ही हमारी, प्रभु तुझ समकित दान में ।
प्रभु-गुन-अनुभव के रस आगे, आवत नहीं कोउ मान में ।ह० ४।
जिन ही पाया तिन ही छिपाया, न कहे कोउ के कान में ।
ताली लागी जब अनुभव की, तब जाने कोउ सान में । ह०५।
प्रभु-गुन-अनुभव चंद्रहास ज्यों, सो तो न रहे म्यान में ।
'वाचक जश' कहे मोह महा अरि, जीत लियो है मैदान में ।ह० ६।

[३।]

कथनी कथे सहु कोई, रहेणी अतिदुर्लभ होई ।
शुक राम का नाम वखाने, नवि परमारथ तस जाने रे ।
या विध भणी वेद सुणावे, पण अकल कला नवि पावे ।क०।१।
खटत्रीस प्रकार रसोई, मुख गिनतां तृप्ति न होई रे ।
शिशु नाम नहीं तस लेवे, रस स्वादत अतिसुख लेवे । क०।२
बंदीजन कड़खा गावे, सुनी शूरा सीस कटावे रे ।
जब रुंड मुंडता भासे, सहु आगल चारण नासे ।क०।३।

कथनी तो जगत मजूरी, रहेणी है वंदी हजूरी रे।
कथनी साकर सम मीठी, रहेणी अति लागे अनीठी। क०।४।
जब रहेणी का घर पावे, कथनी तब गिनती आवे रे।
अब 'चिदानन्द' इम जोई, रहेणी की सेज रहे सोई। क०।५।

[आरति ।]

विविध रत्न-मणि जड़ित रच्चो,
थाल विशाल अनुपम लावो।
आरति उतारो प्रभुजीनी आगे,
भावना भावी शिव सुख मागे ॥ आ०॥१॥
सात चौद ने एक वीस भेवा,
त्रण त्रण वार प्रदक्षिण देवा। आ०॥२॥
जिम तिम जलधारा देई जंपे,
जिम तिम दोहग थर थर कंपे। आ०॥३॥
बहु भव संचित पाप पणा,
सब पूजाथी भाव उल्लासे। आ०॥४॥
चौद भुवनमां जिनजी,
कोई नहीं, आरति इम बोले। आ०॥५॥

[मंगल-दीपक।]

चारो मंगल चार, आज मोरे चारो मंगल चार।
देखा दरस सरस जिनजी का, शोभा सुंदर सार। आ० ॥ १ ॥
छिनु छिनु छिनु मन मोहन चरचो, घसी केसर घन सार। आ०

विविध जाति के पुष्प मंगाओ, मोघर लाल गुलाब । आ० ॥३॥
धूप उवेखी ने करो आरति, मुख बोलो जयकार । आ० ॥४॥
हर्ष धरी आदीसर पूजो, चौमुख प्रतिमा चार । आ० ॥५॥
हेत धरी भवी भावना भावो, जिम पामो भव पार । आ० ॥६॥
'सकल चंद' सेवक जिनजी का, आनंदघन उपकार । आ० ॥७॥

[श्रीरत्नाकरपञ्चविंशिका ।]

श्रेयःश्रियां मंगलकेलिसद्म !, नरेन्द्रदेवेन्द्रनताङ्घ्रिपद्म ! ।
सर्वज्ञ ! सर्वातिशयप्रधान !, चिरं जय ज्ञानकलानिधान! ॥१॥

भावार्थ—मुक्तिरूप लक्ष्मी के पवित्र लीला-मन्दिर अर्थात् मुक्ति के निवास-स्थान ! राजाओं तथा इन्द्रों से पूजित ! सब अर्थात् चौंतीस अतिशयों से सहित होने के कारण सर्वोत्तम ! और ज्ञान तथा कलाओं के भण्डार ! ऐसे हे सर्वज्ञ प्रभो ! तेरी सदा जय हो ॥ १ ॥

जगत्त्रयाधार ! कृपावतार !, दुर्वारसंसारविकारवैद्य ! ।
श्रीवीतराग ! त्वयि मुग्धभावात्, विज्ञप्रभो! विज्ञपयामि किञ्चित्

भावार्थ—तीनों लोक के अर्थात् सकल भव्य प्राणियों के आलम्बनभूत ! दया की साक्षात् मूर्ति ! जिन को रोकना सहल नहीं, ऐसे सांसारिक विकारों को अर्थात् काम, क्रोध आदि वासनाओं को मिटाने के लिये वैद्य के तुल्य ! ऐसे हे विशेषज्ञ वीतराग प्रभो ! सरल भाव से तेरे प्रति कुछ निवेदन करता हूँ ॥२॥

किं बाललीलाकलितो न बालः, पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः।
तथा यथार्थं कथयामि नाथ !, निजाशयं सानुशयस्तवाग्रे॥३॥

भावार्थ--क्या, बालक बाल क्रीडा-वश अपने माता-पिता के सामने विना कुछ सोचे-विचारे सम्भाषण नहीं करता ? अर्थात् जैसे बालक अपने माता-पिता के सन्मुख किसी तरह की शङ्का न रख कर खुले दिल से अपना भाव प्रकट कर देता है, वैसे ही हे प्रभो ! पछतावे में पड़ा हुआ मै भी तेरे आगे अपना अभिप्राय यथार्थरूप में कहे देता हूँ ॥ ३ ॥

दत्तं न दानं परिशीलितं च, न शालि शीलं न तपोऽभितप्तम्
शुभो न भावोऽप्यभवद्भवेऽस्मिन्, विभो! मया भ्रान्तमहो मुधैव४

भावार्थ—मै ने न तो कोई दान दिया, न सुन्दर शील अर्थात् ब्रह्मचर्य का ही पालन किया और न कोई तप तपा, इसी तरह मुझ में कोई सुन्दर भाव भी पैदा नही हुआ, इस लिये हे प्रभो ! मुझे खेद है कि मै ने ससार में विफल ही भ्रमण किया अर्थात् जन्म ले कर उस से कोई फायदा नहीं उठाया ॥४॥

दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन दष्टो, दुष्टेन लोभाख्यमहोरगेण ।
ग्रस्तोऽभिमानाजगरेण माया,-जालेन बद्धोऽस्मि कथं भजे त्वाम्

भावार्थ—एक तो मै क्रोधरूप अग्नि से ही जला हुआ हूँ, तिस पर लोभरूप महान् साँप ने मुझ को डंक मारा है तथा मानरूप अजगर ने तो निगल ही लिया है, इस के उपरान्त माया के जाल में भी मैं फँसा हुआ हूँ अर्थात् चारों कषायों से लिप्त हूँ,

अत एव हे भगवन् ! मैं तेरी सेवा किस तरह करूँ ? अर्थात् तेरी सेवा के लिये कोई रास्ता मुझे नहीं दीखता ॥ ५ ॥

कृतं मयाऽमुत्र हितं न चेह, लोकेऽपि लोकेश ! सुखं न मेऽभूत्।
अस्मादृशां केवलमेव जन्म, जिनेश ! जज्ञे भवपूरणाय ॥६॥

भावार्थ—पारलौकिक हित का भी साधन नहीं किया और इस लोक में भी सुख नहीं मिला, इस लिये हे जिनेश्वर देव ! हमारे जैसे उभय-लोक-भ्रष्ट प्राणियों का जन्म सिर्फ भवों—जन्म-प्रवाह की पूर्ति के लिये ही हुआ ॥६॥

मन्ये मनो यन्न मनोज्ञवृत्त !, त्वदास्यपीयूषमयूखलाभात् ।
द्रुतं महानन्दरसं कठोर,-मस्मादृशां देव ! तदश्मतोऽपि ॥७॥

भावार्थ—हे सुन्दर-चरित्र-सम्पन्न विभो ! तेरे मुखरूप चन्द्र को अर्थात् उस की अमृतमय किरणों को पा कर भी मेरे मन में से महान् आनन्द-रस का अर्थात् हर्ष-जल का प्रवाह नहीं बहा, इस लिये जान पड़ता है कि मेरा मन पत्थर से भी अधिक कठिन है । सारांश यह है कि चन्द्र की किरणों का संसर्ग होते ही चन्द्रकान्त नामक पत्थर भी द्रुत होता है, यहाँ तक कि उस में से जल टपकने लगता है, पर हे प्रभो ! तेरे चन्द्र-सदृश मुख के संसर्ग से भी मेरा मन द्रुत नहीं हुआ—उस में से आनन्द-रस नहीं बहा, इस लिये ऐसे मन को मैं पत्थर से भी अधिक कठिन समझता हूँ ॥७॥

त्वत्तः सुदुष्प्राप्यमिदं मयाऽऽप्तं, रत्नत्रयं भूरिभवभ्रमेण ।
प्रमादनिद्रावशतो गतं तत्, कस्याग्रतो नायक ! पूत्करोमि ।८ ।

भावार्थ—अत्यन्त दुर्लभ ऐसा जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र-रूप रत्न-त्रय है, उस को मै ने अनेक जन्म में घूमते-घूमते अन्त में तेरी ही कृपा से प्राप्त किया; परन्तु वह दुर्लभ रत्न-त्रय भी प्रमाद की निद्रा में मेरे हाथ से चला गया, अब हे स्वामिन् ! किस के आगे जा कर पुकार करूँ अर्थात् अपना दुःख किसे सुनाऊँ ? ॥ ८ ॥

वैराग्यरङ्गः परवञ्चनाय, धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय ।
वादाय विद्याऽध्ययनं च मेऽभूत्, कियद् ब्रुवे हास्यकरं स्वमीश ।९

भावार्थ—मैं ने औरों को ठगने के लिये ही वैराग्य का रङ्ग धारण किया, लोगों को खुश करने के लिये अर्थात् तद्द्वारा प्रतिष्ठा पाने के लिये ही धर्म का उपदेश किया और मेरा शास्त्राभ्यास भी शुष्क वाद-विवाद का ही कारण हुआ अर्थात् वैराग्य, धार्मिक-उपदेश और शास्त्र-ज्ञान जैसी महत्त्वपूर्ण उपयोगी वस्तुओं से भी मैं ने कोई तात्त्विक लाभ नहीं उठाया, हे प्रभो ! मैं अपना उपहास-जनक वृत्तान्त कितना कहूँ ? ॥९ ॥

परापवादेन मुखं सदोषं, नेत्रं परस्त्रीजनवीक्षणेन ।
चेतः परापायविचिन्तनेन, कृतं भविष्यामि कथं विभोऽहम् १०

भावार्थ—मैं ने परनिन्दा करके मुख को, परस्त्री की ओर दृष्टि-पात करके नेत्र को और दूसरों की बुराई चिन्तन से चित्त को दूषित किया है, हे परमेश्वर ! अब मेरी क्या दशा होगी ? ॥१०॥

विडम्बितं यत्स्मरघस्मरार्ति,-दशावशात् स्वं विषयान्धलेन।
प्रकाशितं तद्भवतो ह्रियैव,सर्वज्ञ ! सर्वं स्वयमेव वेत्सि ॥११॥

भावार्थ—मैं ने विषयान्ध हो कर कामरोग-जनित पीड़ा की परवशता से अपने आत्मा को जो कुछ विडम्बना पहुँचाई, उस को आप से लज्जित हो कर ही प्रकट कर दिया है, क्योंकि हे सर्वज्ञ प्रभो ! आप स्वयं ही उस सब वृत्तान्त को जानते हैं ॥ ११ ॥

ध्वस्तोऽन्यमन्त्रैः परमेष्ठिमन्त्रः, कुशास्त्रवाक्यैर्निहताऽऽगमोक्तिः
कर्त्तुं वृथा कर्म कुदेवसंगा,-दवाञ्छि ही नाथ ! मतिभ्रमो मे १२

भावार्थ—मैं ने अन्य मन्त्रों की महिमा की दुराशा में परमेष्ठी जैसे अपूर्व मन्त्र का अनादर किया, कुवासना बढ़ाने वाले कामशास्त्र आदि मिथ्या शास्त्रों के जाल में फँस कर सच्चे आगम-ग्रन्थों की अवहेलना की और सराग देवों की उपासना के निमित्त से तुच्छ कर्म करने की इच्छा भी की, हे नाथ ! सच-मुच ही यह सब मेरा मति-भ्रम—बुद्धि का विपर्यासमात्र है ।१२।

विमुच्य दृग्लक्ष्यगतं भवन्तं, ध्याता मया मूढधिया हृदन्तः ।
कटाक्षवक्षोजगभीरनाभि,-कटीतटीयाः सुदृशां विलासाः ।१३।

भावार्थ- हे भगवन् ! जब आप मेरी निगाह में पड़े--आप के दर्शन का जब समय आया, तब मति-मूढ़ता के कारण मैं ने उधर से मन हटा कर स्त्रियों के सुन्दर-सुन्दर नेत्रों का, कटाक्षों का, स्तनों का, गहरी टुंड़ी का, कमर-किनारे का और हाव-भावों का ही ध्यान किया ॥ १३ ॥

लोलेक्षणावक्त्रनिरीक्षणेन, यो मानसे रागलवो विलग्नः ।
न शुद्धसिद्धान्तपयोधिमध्ये, धौतोऽप्यगात्तारक! कारणं किम्

भावार्थ—स्त्रियों का मुख देखने से मेरे मन में रागरूप मल का जो अंशमात्र लग गया है, वह पवित्र सिद्धान्तरूप समुद्र में धोने पर भी अभी तक दूर नहीं हुआ । हे संसार-तारक! इस का क्या कारण है ? ॥१४॥

अङ्गं न चङ्गं न गणो गुणानां, न निर्मलः कोऽपि कलाविलासः
स्फुरत्प्रभा न प्रभुता च काऽपि, तथाऽप्यहङ्कारकदर्थितोऽहम् ।

भावार्थ—न तो मेरा शरीर सुन्दर है, न मुझ में कोई गुण-समूह है, न मेरे पास कोई सुन्दर कला ही है और मेरे पास ऐसा कोई ऐश्वर्य भी नहीं है, जो आकर्षक हो, फिर भी अहङ्कार ने मुझ को बिगाड़ रक्खा है ॥ १५ ॥

आयुर्गलत्याशु न पापबुद्धि,-र्गतं वयो नो विषयाभिलाषः ।
यत्नश्च भैषज्यविधौ न धर्मे, स्वामिन्महामोहविडम्बना मे ॥१६॥

भावार्थ—आयु बराबर कम हो रही है, पर पाप-बुद्धि—दुर्वासना कम नहीं होती । उम्र गई यानी बुढ़ापा आगया, पर अभी तक विषय-तृष्णा नही गई अर्थात् वह जैसी की तैसी है । प्रयत्न किया जाता है, पर वह दवा-दारू आदि के लिये ही, धर्म के लिये नहीं । यह सब मेरी महामोह की विडम्बना ही है ॥ १६ ॥

नात्मा न पुण्यं न भवो न पापं, मया विटानां कटुगीरपीयम् ।
अधारि कर्णे त्वयि केवलार्के, परिस्फुटे सत्यपि देव! धिङ्मास्॥

भावार्थ—आप के केवलज्ञानरूप सूर्य के प्रकाशमान रहते हुए भी मैं ने 'न आत्मा है, न पुण्य-पाप है और न पुनर्जन्म ही है,' इस प्रकार की (आत्म-) चोरों की कटु वाणि—मिथ्या भाषा हे भगवन्! अपने कानों में धारण की। मुझ को धिक्कार है ॥१७॥

न देवपूजा न च पात्रपूजा, न श्राद्धधर्मश्च न साधुधर्मः ।
लब्ध्वाऽपि मानुष्यमिदं समस्तं,कृतं मयाऽरण्यविलापतुल्यम्१८

भावार्थ—न मैं ने देव-पूजा की, न अतिथि-सत्कार किया, न गृहस्थ-धर्म और न साधु-धर्म का ही पालन किया! मनुष्य-जन्म पा कर भी मैं ने उसे अरण्य-रोदन की तरह—निष्फल ही किया ॥१८॥

चक्रे मयाऽसत्स्वपि कामधेनु,-कल्पद्रुचिन्तामणिषु स्पृहार्त्तिः ।
न जैनधर्मे स्फुटशर्मदेऽपि, जिनेश! मे पश्य विमूढभावम् ।१९।

भावार्थ—मैं ने कामधेनु, कल्प-वृक्ष और चिन्तामणि-रत्न जैसे असत्—मिथ्या पदार्थों की तो चाह की, पर प्रत्यक्ष कल्याण करने वाले जैनधर्म की चाह नहीं की। हे जिनेश्वर! तूँ मेरी इस मूढता को तो देख—वह कितनी अधिक है ॥१९॥

सद्भोगलीला न च रोगकीला, धनागमो नो निधनागमश्च ।
दारा न कारा नरकस्य चित्ते,व्यचिन्ति नित्यं मयकाऽधमेन।२०।

भावार्थ—मुझ नीच ने जिन का हमेशा ध्यान किया; वे सुन्दर सुन्दर भोग-विलास, भोग-विलास नही, बल्कि रोगों की जड़ हैं; धन का आना,धन का आना नहीं, बल्कि नाश का आना है और स्त्री, स्त्री नहीं, बल्कि नरक की बेड़ी है ॥२०॥

स्थितं न साधोर्हृदि साधुवृत्तात्, परोपकारान्न यशोऽर्जितं च ।
कृतं न तीर्थोद्धरणादि कृत्यं, मया मुधा हारितमेव जन्म ॥२१॥

भावार्थ—मैं ने सदाचार का पालन करके साधु पुरुष के हृदय में स्थान नहीं पाया अर्थात् सदाचार से महात्माओं को प्रसन्न नहीं किया, परोपकार करके यश न कमाया और तीर्थोद्धार आदि [कोई पवित्र] काम भी नहीं किया । मैं ने जन्म व्यर्थ ही गँवाया ॥२१॥

वैराग्यरङ्गो न गुरूदितेषु, न दुर्जनानां वचनेषु शान्तिः ।
नाध्यात्मलेशो मम कोऽपि देव!, तार्यः कथंकारमयं भवाब्धिः ॥२२॥

भावार्थ—मुझे न गुरु-उपदेश से वैराग्य हुआ, न मैं ने दुर्जनों के वचनों को सुन कर शान्ति धारण की और आध्यात्मिक भाव का लेश भी मुझ में पैदा नहीं हुआ । [अतः] हे भगवन्! मुझ से यह संसार-समुद्र कैसे पार होगा ?॥ २२ ॥

पूर्वे भवेऽकारि मया न पुण्य,-मागामि जन्मन्यपि नो करिष्ये ।
यदीदृशोऽहं मम तेन नष्टा, भूतोद्भवद्भाविभवत्रयीश ! ॥२३॥

भावार्थ—मैं ने पूर्व जन्म में तो कोई पुण्य किया ही नहीं है [क्योंकि यदि किया होता तो इस जन्म में ऐसी दुरवस्था प्राप्त नहीं होती । और इस वर्तमान जन्म की दुरवस्था के कारण] मुझ से अगले जन्म में भी पुण्य होना सम्भव नहीं है । अगर मैं ऐसा ही रहा तो हे भगवन्! मेरे भूत, वर्तमान और भविष्यत्—तीनों जन्म यों ही बर्बाद हुए—उन से कुछ भी इष्ट-सिद्धि नहीं हुई ॥ २३ ॥

किं वा मुधाहं बहुधा सुधाभुक्, पूज्य ! त्वदग्रे चरितं स्वकीयम् ।
जल्पामि यस्मात्त्रिजगत्स्वरूप,-निरूपकस्त्वं कियदेतदत्र ।२४।

भावार्थ—अथवा, देवताओं के भी पूज्य हे प्रभो ! तेरे आगे अपने चरित्र को मैं तरह-तरह से व्यर्थ ही कह रहा हूँ, क्योंकि तू तो तीनों जगत् के स्वरूप को [प्रत्यक्ष देख कर] कहने वाला है । तेरे लिये यह क्या [चीज़] है ॥ २४ ॥

दीनोद्धारधुरन्धरस्त्वदपरो नाऽस्ते मदन्यः कृपा,-
पात्रं नात्र जने जिनेश्वर ! तथाऽप्येतां न याचे श्रियम् ।
किंत्वर्हन्निदमेव केवलमहो सद्बोधिरत्नं शिवं,
श्रीरत्नाकर ! मङ्गलैकनिलय ! श्रेयस्करं प्रार्थये ॥२५॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! इस लोक में तुझ से बढ़ कर दूसरा कोई दीन-दुःखियों का उद्धार करने वाला नहीं है और मुझ से बढ़ कर दूसरा कोई दीन—दया का पात्र नहीं है तथापि मैं इस लक्ष्मी—सांसारिक वैभव को मैं नहीं चाहता; किन्तु मोक्ष-लक्ष्मी की उत्पत्ति के लिये रत्नाकर—समुद्र के समान और मंगलों के प्रधान स्थान, ऐसे हे अर्हन् प्रभो ! मैं सिर्फ उस सम्यग्ज्ञानरूप रत्न की, जो मांगलिक और मोक्षप्रद है, प्रार्थना करता हूँ । अर्थात् तू रत्नाकर है—तुझ में अनेक रत्न हैं और मेरी माँग तो सिर्फ एक ही रत्न की है । एक रत्न पाने से मेरा तो कल्याण हो ही जायगा और तुझ में कोई कमी नहीं आयगी ॥ २५ ॥

विधियाँ [२]।

पाक्षिक-प्रतिक्रमण की विधि।

प्रथम वंदित्तु सूत्र तक तो दैवसिक-प्रतिक्रमण की तरह कुल विधि समझना चाहिये। चैत्य-वन्दन में सकलार्हत्० और थुइयाँ स्नातस्या० की कहे। पीछे 'इच्छामि० देवसिअ आलोइअ पडिक्कंता, इच्छाकारेण० पक्खियमुहपत्ति पडिलेहुँ?, इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहके द्वादशावर्त वन्दना दे। पीछे 'इच्छाकारेण० संबुद्धा खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर-पक्खिअं खामेउँ?, इच्छं, खामेमि पक्खिअं एगपक्खस्स पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं जं किंचि अपत्तिअं०' कहे। पीछे 'इच्छा० पक्खियं आलोउँ?, इच्छं, आलोएमि जो मे पक्खिओ अइआरो कओ०' कह कर 'इच्छा० पक्खिय-अतिचार आलोउँ?, इच्छं' कहे। पीछे अतिचार कहे। पीछे 'सव्वस्स वि पक्खिअ दुच्चिंतिअ दुब्भासिअ दुच्चिट्ठिअ इच्छाकारेण संदिसह भगवन्, इच्छं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं, इच्छकारि भगवन् पसायकरी पक्खिय तप प्रसाद करो जी' कहे। पक्खिय के बदले 'एक उपवास, दो आयंबिल, तीन निवि, चार एकासना, आठ बिआसना और दो हजार सज्झाय करी पइट्ठ पूरनी जी' कहे। फिर द्वादशावर्त वन्दन कर के 'इच्छा० पत्तेय खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर-पक्खियं खामेउँ?, इच्छं, खामेमि पक्खियं एगपक्खस्स

पन्नरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं जं किंचि०' कहे। पीछे द्वादशावर्त वन्दना दे कर 'देवसिअ आलोइय पडिक्कंता इच्छा० पक्खिअं पडिक्कमुँ ?, इच्छं, सम्मं पडिक्कमामि' कह कर 'करेमि भंते० इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ०' कहे। पीछे 'इच्छामि०, इच्छा० पक्खिय सूत्र पढुँ ?, इच्छं' कहे। पीछे तीन नवकारपूर्वक वंदित्तु सूत्र पढ़ कर सुअदेवया० की थुइ कह कर नीचे बैठे। दाहिना घुटना खड़ा करके एक नवकार पढ़ कर 'करेमि भंते, इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खिओ०' और वंदित्तु सूत्र कहे। पीछे खड़े हो कर 'करेमि भंते०, इच्छामि ठामि०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ०' कह कर बारह लोगस्स का कायोत्सर्ग करे। उसे पारके प्रकट लोगस्स पढ़ कर मुहपत्ति पडिलेह कर द्वादशावर्त वन्दना दे। पीछे 'इच्छा० समाप्त खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर-पक्खिअं खामेउँ?, इच्छं, खामेमि पक्खिअं एगपक्खस्स पन्नरसण्हं दिवसाणं०' कह कर 'इच्छामि०, इच्छा० पक्खियखामणा खामुँ?' कह कर इच्छामि० पढ़ कर हाथ नीचे रख शिर झुका एक नवकार पढ़े। इस रीति से चार दफा करे। पीछे दैवासिक-प्रतिक्रमण में वंदित्तु के बाद जो विधि है, वही कुल समझ लेना चाहिये। विशेष इतना है कि 'सुअ-देवया०' की जगह 'ज्ञानादिगुणयुतानां०' और 'जिस्से खित्ते०' की जगह 'यस्याः क्षेत्रं समाश्रित्य०' कहे। स्तवन के स्थान में अजितशान्ति; सज्झाय के स्थान में उवसग्गहरं और संसारदावा० की चारों थुइयाँ और शान्ति के स्थान में बृहत् शान्ति पढ़े।

चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण की विधि।

चउमासी प्रतिक्रमण में कुल विधि पक्खी प्रतिक्रमण की तरह ही समझना चाहिये। फर्क इतना ही है कि बारह लोगस्स के स्थान में बीस लोगस्स का कायोत्सर्ग करे और जहाँ-जहाँ 'पक्खिय' शब्द आया हो, वहाँ-वहाँ 'चउमासिय' शब्द कहे। चउमासी तप की जगह दो उपवास, चार आयंबिल, छह निवि, आठ एकासना, सोलह बिआसना और चार हजार सज्झाय कहे।

सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण की विधि।

इस में भी कुल विधि पूर्वोक्त प्रकार समझना चाहिये। फर्क इतना ही है कि काउस्सग्ग चालीस लोगस्स और एक नवकार का करे। 'पक्खिय' की जगह 'संवच्छरिय' शब्द कहे। तप 'एक अट्ठम, तीन उपवास, छह आयंबिल, नौ निवि, बारह एकासना, चौवीस बिआसना सज्झाय छह हजार' कहे।
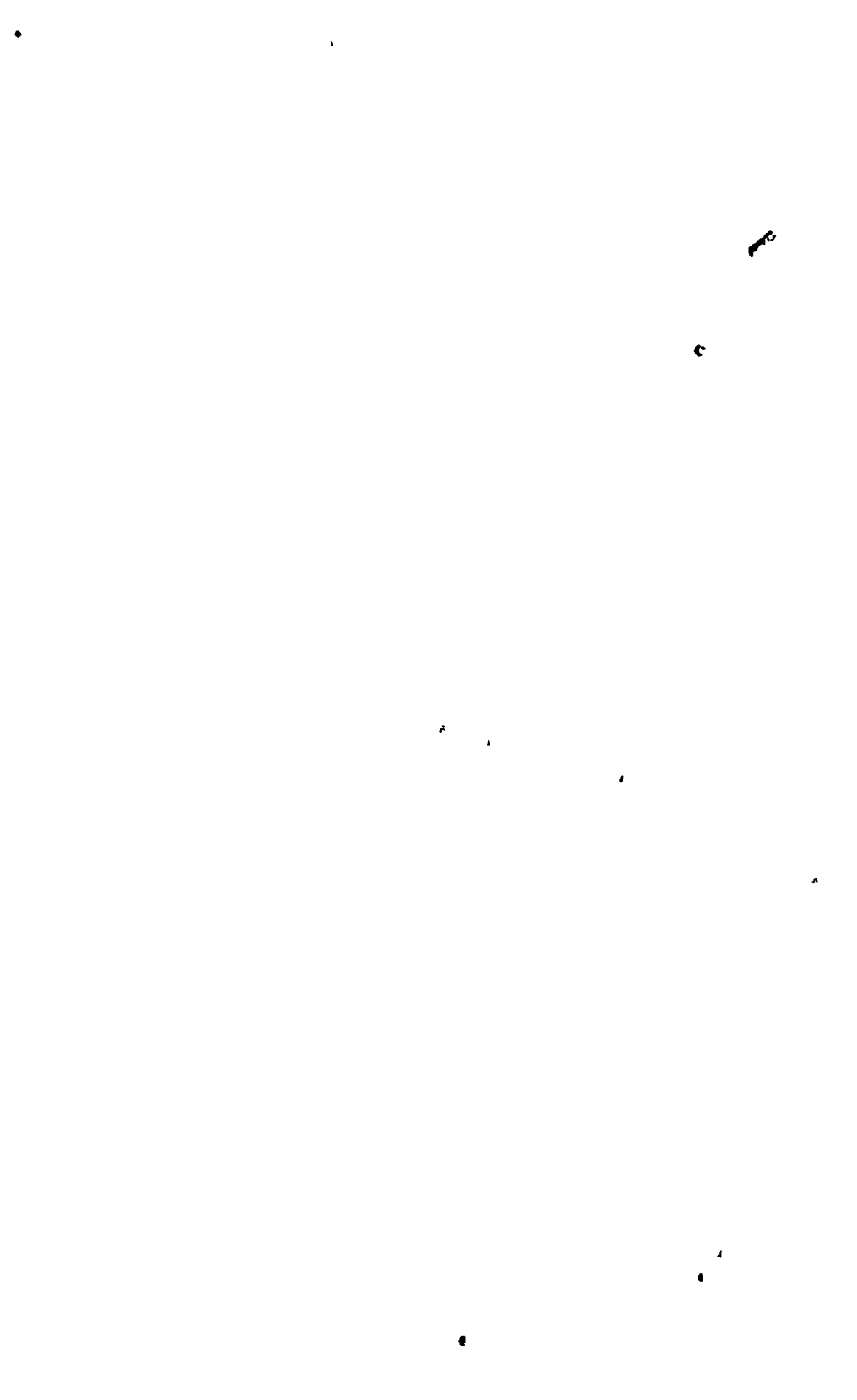
परिशिष्ट ।

परिशिष्ट ।

अर्थात्

[खरतरगच्छीय प्रतिक्रमण के स्तव आदि विशेष पाठ तथा विधियाँ ।]

स्तव आदि विशेष पाठ ।

[सकल तीर्थ-नमस्कार ।]

सद्भक्त्या देवलोके रविशशिभवने व्यन्तराणां निकाये,
नक्षत्राणां निवासे ग्रहगणपटले तारकाणां विमाने ।
पाताले पन्नगेन्द्रस्फुटमणिकिरणैर्ध्वस्तसान्द्रान्धकारे,
श्रीमत्तीर्थकराणां प्रतिदिवसमहं तत्र चैत्यानि वन्दे ॥१॥
वैताढ्ये मेरुशृङ्गे रुचकगिरिवरे कुण्डले हस्तिदन्ते,
वक्खारे कूटनन्दीश्वरकनकगिरौ नैषधे नीलवन्ते ।
चैत्रे शैले विचित्रे यमकगिरिवरे चक्रवाले हिमाद्रौ,
श्रीमत्ती० ॥२॥
श्रीशैले विन्ध्यशृङ्गे विमलगिरिवरे ह्यर्बुदे पावके वा,
सम्मेते तारके वा कुलगिरिशिखरेऽष्टापदे स्वर्णशैले ।
सह्याद्रौ वैजयन्ते विमलगिरिवरे गुर्जरे रोहणाद्रौ,
श्रीमत्ती० ॥३॥
आघाटे मेदपाटे क्षितितटमुकुटे चित्रकूटे त्रिकूटे,
लाटे नाटे च घाटे विटपिघनतटे हेमकूटे विराटे ।
कर्णाटे हेमकूटे विकटतरकटे चक्रकूटे च भोटे,
श्रीमत्ती० ॥४॥

श्रीमाले मालवे वा मलयिनि निषधे मेखले पिच्छले वा,
नेपाले नाहले वा कुवलयतिलके सिंहले केरले वा ।
डाहाले कोशले वा विगलितसलिले जङ्गले वा ढमाले,
श्रीमत्ती० ॥५॥

अङ्गे वङ्गे कलिङ्गे सुगतजनपदे सत्प्रयागे तिलङ्गे,
गौडे चौडे मुरण्डे वरतरद्रविडे उद्रियाणे च पौण्ड्रे ।
आर्द्रे माद्रे पुलिन्द्रे द्रविडकवलये कान्यकुब्जे सुराष्ट्रे,
श्रीमत्ती० ॥६॥

चन्द्रायां चद्रमुख्यां गजपुरमथुरापत्तने चोज्जयिन्यां,
कोशाम्ब्यां कोशलायां कनकपुरवरे देवगिर्यां च काश्याम् ।
रासक्ये राजगेहे दशपुरनगरे भद्दिले ताम्रलिप्त्यां,
श्रीमत्ती० ॥७॥

स्वर्गे मर्त्येऽन्तरिक्षे गिरिशिखरह्रदे स्वर्णदीनीरतीरे,
शैलाग्रे नागलोके जलनिधिपुलिने भूरुहाणां निकुञ्जे ।
ग्रामेऽरण्ये वने वा स्थलजलविषमे दुर्गमध्ये त्रिसन्ध्यं,
श्रीमत्ती० ॥८॥

श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रुचकनगवरे शाल्मलौ जम्बुवृक्षे,
चौज्जन्ये चैत्यनन्दे रतिकररुचके कौण्डले मानुषाङ्के ।
इक्षूकारे जिनाद्रौ च दधिमुखगिरौ व्यन्तरे स्वर्गलोके,
ज्योतिर्लोके भवन्ति त्रिभुवनवलये यानि चैत्यालयानि ॥९॥

इत्थं श्रीजैनचैत्यस्तवनमनुदिनं ये पठन्ति प्रवीणाः,
प्रोद्यत्कल्याणहेतुं कलिमलहरणं भक्तिभाजस्त्रिसन्ध्यम् ।

तेषां श्रीतीर्थयात्राफलमतुलमलं जायते मानवानां,
कार्याणां सिद्धिरुच्चैः प्रमुदितमनसां चित्तमानन्दकारी॥१०॥

सार—इन दस श्लोकों में से नौ श्लोकों के द्वारा तो तीर्थों को नमस्कार किया है और दसवें श्लोक में उस का तीर्थ-यात्रा तथा कार्यसिद्धिरूप फल बतलाया है।

पहिले श्लोक से दिव्य स्थानों में स्थित चैत्यों को; दूसरे और तीसरे श्लोक से वैताढ्य आदि पर्वतीय प्रदेशों में स्थित चैत्यों को; चौथे, पाँचवे और छठे श्लोक से आघाट आदि देशों में स्थित चैत्यों को; सातवें श्लोक से चन्द्रा आदि नगरियों में स्थित चैत्यों को और आठवें तथा नौवें श्लोक से प्राकृतिक, मानुषिक, दिव्य आदि सब स्थानों में स्थित चैत्यों को नमस्कार किया है।

[परसमयतिमिरतरणिं ।]

परसमयतिमिरतरणिं, भवसागरवारितरणवरतरणिम् ।
रागपरागसमीरं, वन्दे देवं महावीरम् ॥१॥

भावार्थ—मिथ्या मत अथवा बहिरात्मभाव-रूप अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य-समान, संसाररूप समुद्र के जल से पार करने के लिये नौका—समान और रागरूप पराग को उड़ा कर फैंक देने के लिये वायु-समान; ऐसे श्रीमहावीर भगवान् को मैं नमन करता हूँ ॥१॥

निरुद्धसंसारविहारकारि,-दुरन्तभावारिगणा निकामम् ।
निरन्तरं केवलिसत्तमा वो, भयावहं मोहभरं हरन्तु ॥२॥

भावार्थ—संसार-भ्रमण के कारण और बुरे परिणाम को करने वाले ऐसे कषाय आदि भीतरी शत्रुओं को जिन्हों ने बिल्कुल नष्ट किया है, वे केवलज्ञानी महापुरुष, तुम्हारे संसार के कारणभूत मोह-बल को निरन्तर दूर करें ॥२॥

संदेहकारिकुनयागमरूढगूढ,-संमोहपङ्कहरणामलवारिपूरम् ।
संसारसागरसमुत्तरणोरुनावं, वीरागमं परमसिद्धिकरं नमामि॥३।

भावार्थ—सन्देह पैदा करने वाले एकान्तवाद के शास्त्रों के परिचय से उत्पन्न, ऐसा जो भ्रमरूप जटिल कीचड़ उस को दूर करने के लिये निर्मल जल-प्रवाह के सदृश और संसार-समुद्र से पार होने के लिये प्रचण्ड नौका के समान, ऐसे परमसिद्धि-दायक महावीर-सिद्धान्त अर्थात् अनेकान्तवाद को मैं नमन करता हूँ ॥ ३ ॥

परिमलभरलोभालीढलोलालिमाला,-
वरकमलनिवासे हारनीहारहासे ।
अविरलभवकारागारविच्छित्तिकारं,
कुरु कमलकरे मे मङ्गलं देवि सारम् ॥४॥

भावार्थ—उत्कट सुगन्ध के लोभ से खिंच कर आये हुए जो चपल भौंरे, उन से युक्त ऐसे सुन्दर कमल पर निवास करने वाली, हार तथा बरफ के सदृश श्वेत, हास्य-युक्त और हाथ में

कमल को धारण करने वाली हे देवि ! तू अनादिकाल के संसाररूप कैदखाने को तोड़ने वाले सारभूत मंगल को कर ॥ ४ ॥

[श्रीपार्श्वनाथ की स्तुति ।]

(१)

अश्वसेन नरेसर, वामा देवी नन्द ।
नव कर तनु निरुपम, नील वरण सुखकन्द ॥
अहिलञ्छण सेवित, पउमावइ धरणिन्द ।
प्रह ऊठी प्रणमूं, नित प्रति पास जिणन्द ॥१॥

(२)

कुलगिरि वेयड्ढइ, कणयाचल अभिराम ।
मानुषोत्तर नन्दी, रुचक कुण्डल सुख ठाम ॥
भुवणेसुर व्यन्तर, जोइस विमाणी नाम ।
वर्ते ते जिणवर, पूरो मुझ मन काम ॥ १ ॥

(३)

जिहां अङ्ग इग्यारे, बार उपङ्ग छ छेद ।
दस पयन्ना दाख्या, मूल सूत्र चउ भेद ॥
जिन आगम षड् द्रव्य, सप्त पदारथ जुत्त ।
सांभलि सर्दहतां, त्रूटे करम तुरत्त ॥१॥

(४)

पउमावई देवी, पार्श्व यक्ष परतक्ष ।
सहु संघनां संकट, दूर करेवा दक्ष ॥
सुमरो जिनभक्ति, सूरि कहे इकचित्त ।
सुख सुजस समापो, पुत्र कलत्र बहुवित्त ॥१॥

[श्रीआदिनाथ का चैत्य-वन्दन ।]

जय जय त्रिभुवन आदिनाथ, पञ्चम गति गामी ।
जय जय करुणा शान्त दान्त, भवि जन हितकामी ॥
जय जय इन्द नरिन्द वृन्द, सेवित सिरनामी ।
जय जय अतिशयानन्तवन्त, अन्तर्गतजामी ॥ १ ॥

[श्रीसीमन्धर स्वामी का चैत्य-वन्दन ।]

पूरब विदेह विराजता ए, श्रीसीमन्धर स्वाम ।
त्रिकरणशुद्ध त्रिहुं काल में, नित प्रति करूं प्रणाम ॥१॥

[श्रीसिद्धाचल का चैत्य वन्दन ।]

जय जय नाभि नरेन्द,-नन्द सिद्धाचल मण्डण ।
जय जय प्रथम जिणन्द चन्द, भव दुःख विहंडण ॥
जय जय साधु सुरिन्द विन्द, वन्दिय परमेसुर ।
जय जय जगदानन्द, कन्द, श्रीऋषभ जिणेसुर ॥
अमृत सम जिनधर्मनो ए, दायक जगमें जाण ।
तुझ पद पङ्कज प्रीति धर, निशि दिन नमत कल्याण॥१॥

[सामायिक तथा पौषध पारने की गाथा ।]

† भयवं दसन्नभद्दो, सुदंसणो थूलभद्द वयरो य ।
सफलीकयगिहचाया, साहू एवंविहा हुंति ॥१॥

भावार्थ—श्रीदशार्णभद्र, सुदर्शन, स्थूलभद्र और वज्र-स्वामी, ये चार, ज्ञानवान् महात्मा हुए और इन्हों ने गृहस्थाश्रम

---

† भगवान् दशार्णभद्रस्सुदर्शनस्स्थूलभद्रो वज्रश्च ।
सफलीकृतगृहत्यागस्साधव एवंविधा भवन्ति ॥ १ ॥

के त्याग को चारित्र-पालन करके सफल किया। संसार-त्याग को सफल करने वाले सभी साधु इन्हीं के जैसे होते हैं ॥१॥

*** साहूण वंदणेणं, नासइ पावं असंकिया भावा।**

फासुअदाणे निज्जर, अभिग्गहो नाणमाईणं ॥२॥

भावार्थ—साधुओं को प्रणाम करने से पाप नष्ट होता है, परिणाम शङ्काहीन अर्थात् निश्चित हो जाते हैं तथा अचित्त-दान द्वारा कर्म की निर्जरा होने का और ज्ञान आदि आचार-संबन्धी अभिग्रह लैने का अवसर मिलता है ॥ २ ॥

× छउमत्थो मूढमणो, कित्तियमित्तं पि संभरइ जीवो।

जं च न संभरामि अहं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स॥३॥

भावार्थ—छद्मस्थ व मूढ जीव कुछ ही बातों को याद कर सकता है, सब को नहीं, इस लिये जो जो पाप कर्म मुझे याद नहीं आता, उस का मिच्छा मि दुक्कडं ॥ ३ ॥

‡ जं जं मणेण चिंतिय,-मसुहं वायाइ भासियं किंचि।

असुहं काएण कयं, मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥४॥

भावार्थ—मैं ने जो जो मन से अशुभ चिन्तन किया, वाणी

---

* साधूनां वन्दनेन नश्यति पापमशङ्किता भावाः।
प्रासुकदानेन निर्जराऽभिग्रहो ज्ञानादीनाम् ॥ २ ॥

+ छद्मस्थो मूढमनाः कियन्मात्रमपि स्मरति जीवः।
यच्च न स्मराम्यहं मिथ्या मे दुष्कृतं तस्य ॥ ३ ॥

‡ यद्यन्मनसा चिन्तितमशुभं वाचा भाषितं किञ्चित्।
अशुभं कायेन कृतं मिथ्या मे दुष्कृतं तस्य ॥ ४ ॥

से अशुभ भाषण किया और काया से अशुभ कार्य किया, वह सब निष्फल हो ॥ ४ ॥

+ सामाइयपोसहसं,-ट्ठियस्स जीवस्स जाइ जो कालो।
सो सफलो बोधव्वो, सेसो संसारफलहेऊ ॥५॥

भावार्थ—सामायिक और पौषध में स्थित जीव का जितना समय व्यतीत होता है, वह सफल है और बाकी का सब समय संसार-वृद्धि का कारण है ॥ ५ ॥

[जय महायस ।]

† जय महायस जय महायस जय महाभाग जय चिंतियसुहफलय
जय समत्थपरमत्थजाणय जय जय गुरुगरिम गुरु।
जय दुहत्तसत्ताण ताणय थंभणयट्ठिय पासजिण,
भवियह भीमभवत्थु भयअवं णंताणंतगुण।
तुज्झ तिसंझ नमोत्थु ॥ १ ॥*

+ सामायिकपौषधसंस्थितस्य जीवस्य याति यः कालः।
स सफलो बोद्धव्यः शेषः संसारफलहेतुः ॥ ५ ॥

† जय महायशो जय महायशो जय महाभाग जय चिन्तितशुभफलद,
जय समस्तपरमार्थज्ञायक जय जय गुरुगरिम गुरो।
जय दुःखार्तसत्त्वानां त्रायक स्तम्भनकास्थित पार्श्वजिन।
भव्यानां भीमभवास्त्र भगवन् अनन्तानन्तगुण ॥
तुभ्यं त्रिसन्ध्यं नमोऽस्तु ॥ १ ॥

* भिन्न-भिन्न प्रतियों में यह गाथा पाठान्तर वाली है। जैसेः—'गिरिम' तथा 'गम्मि' 'भवुत्थु' तथा 'भवत्थु' 'भव अवणंताणंतगुण' तथा 'भयअवींणताणंतगुण'। हम ने अर्थ और व्याकरण की तरफ दृष्टि रख कर उसे कल्पना से शुद्ध किया है। सम्भव है, असली मूल पाठ से वह न भी मिले। मूल शुद्ध प्रति वाले मिला कर सुधार सकते हैं और हमें सूचना भी दे सकते हैं।

अर्थ—हे महायशस्विन् ! हे महाभाग्य ! हे इष्ट शुभ फल के दायक ! हे संपूर्ण तत्त्वों के जानकार ! हे प्रधान गौरव-शाली गुरो ! हे दुःखित प्राणियों के रक्षक ! तेरी जय हो, तेरी जय हो और वार-वार जय हो । हे भव्यों के भयानक संसार को नाश करने के लिये अस्त्र समान ! हे अनन्तानन्त गुणों के धारक ! भगवन् स्तम्भन पार्श्वनाथ ! तुझ को तीनों संध्याओं के समय नमस्कार हो ॥१॥

[श्रीमहावीर जिन की स्तुति ।]

(१)

मूरति मन मोहन, कंचन कोमल काय ।
सिद्धारथ-नन्दन, त्रिशला देवी माय ॥
मृग नायक लंछन, सात हाथ तनु मान ।
दिन दिन सुखदायक, स्वामी श्रीवर्द्धमान ॥१॥

(२)

सुर नर किन्नर, वंदित पद अरविंद ।
कामित भर पूरण, अभिनव सुरतरु कंद ॥
भवियणने तारे, प्रवहण सम निशदीस ।
चोबीस जिनवर, प्रणमूँ विसवा वीस ॥१॥

(३)

अरथें करि आगम, भांख्या श्रीभगवंत ।
गणधरने गूँथ्या, गुणनिधि ज्ञान अनन्त ॥
सुर गुरु पण महिमा, कहि न सके एकान्त ।
समरुँ सुखसायर, मन शुद्ध सूत्र सिद्धान्त ॥१॥

(४)

सिद्धायिका देवी, वारे विघन विशेष ।
सहु संकट चूरे, पूरे आश अशेष ॥
अहोनिश कर जोड़ी, सेवे सुर नर इन्द ।
जंपे गुण गण इम, श्रीजिनलाभ सुरिन्द ॥ १ ॥

[श्रुतदेवता की स्तुति ।]

सुवर्णशालिनी देयाद्, द्वादशाङ्गी जिनोद्भवा ।
श्रुतदेवी सदा मह्य,-मशेष श्रुतसंपदम् ॥१॥

अर्थ—जिनेन्द्र की कही हुई वह श्रुतदेवता, जो सुन्दर-सुन्दर वर्ण वाली है तथा बारह अङ्गों में विभक्त है, मुझे हमेशा सकल शास्त्रों की सम्पत्ति—रहस्य देती रहे ॥१॥

[क्षेत्रदेवता का स्तुति ।]

यासां क्षेत्रगतास्सन्ति, साधवः श्रावकादयः ।
जिनाज्ञां साधयन्तस्ता, रक्षन्तु क्षेत्रदेवताः ॥१॥

अर्थ—जिन के क्षेत्र में रह कर साधु तथा श्रावक आदि, जिन भगवान् की आज्ञा को पालते हैं, वे क्षेत्रदेवता हमारी रक्षा कर ॥१॥

[भुवनदेवता की स्तुति ।]

चतुर्वर्णाय संघाय, देवी भुवनवासिनी ।
निहत्य दुरितान्येषा, करोतु सुखमक्षयम् ॥१॥

अर्थ—भुवनवासिनी देवी, पापों का नाश करके चारों सङ्घों के लिये अक्षय सुख दे ॥१॥

[सिरिथंभणयट्ठिय पाससामिणो ।]

* सिरिथंभणयट्ठियपास,-सामिणो सेसतित्थसामीणं ।
तित्थसमुन्नइकारणं, सुरासुराणं च सव्वेसिं ॥१॥
एसमहं सरणत्थं, काउस्सग्गं करेमि सत्तीए ।
भत्तीए गुणसुट्ठिय,-स्स संघस्स समुन्नइनिमित्तं ॥२॥

अर्थ—श्रीस्तम्भन तीर्थ में स्थित पार्श्वनाथ, शेष तीर्थों के स्वामी और तीर्थों की उन्नति के कारणभूत सब सुर-असुर, ॥१॥ इन सब के स्मरण-निमित्त तथा गुणवान् श्रीसङ्घ की उन्नति के निमित्त मैं शक्ति के अनुसार भक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ ॥२॥

[श्रीथंभण पार्श्वनाथ का चैत्य-वन्दन ।]

श्रीसेढीतटिनीतटे पुरवरे श्रीस्तम्भने स्वर्गिरौ,
श्रीपूज्याऽभयदेवसूरिविबुधाधीशैस्समारोपितः ।
संसिक्तस्स्तुतिभिर्जलैः शिवफलैः स्फूर्जत्फणापल्लवः,
पार्श्वः कल्पतरुस्स मे प्रथयतां नित्यं मनोवाञ्छितम् ॥१॥

अर्थ—श्रीसेढी नामक नदी के तीर पर खंभात नामक सुन्दर शहर है, जो समृद्धिशाली होने के करण सुमेरु के समान है । उस जगह श्रीअभयदेव सूरिने कल्पवृक्ष के समान पार्श्वनाथ प्रभु को स्थापित किया और जल-सदृश स्तुतिओं के द्वारा उस

---

* श्रीस्तम्भनकस्थितपार्श्वस्वामिनश्शेषतीर्थस्वामिनाम् ।
तीर्थसमुन्नतिकारणं सुरासुराणां च सर्वेषाम् ॥१॥
एषामहं स्मरणार्थं कायोत्सर्गं करोमि शक्त्या ।
भक्त्या गुणसुस्थितस्य संघस्य समुन्नतिनिमित्तम् ॥२॥

का सेचन अर्थात् उस को अभिषिक्त किया । भगवान् पर जो नागफण का चिह्न है, वह पल्लव के समान है । मोक्ष-फल को देने वाला वह पार्श्व-कल्पतरु मेरे इष्ट को नित्य पूर्ण करे ।

आधिव्याधिहरो देवो, जीरावल्लीशिरोमणिः ।
पार्श्वनाथो जगन्नाथो, नतनाथो नृणां श्रिये ॥२॥

अर्थ—आधि तथा व्याधि को हरने वाला, जीरावल्ली नामक तीर्थ का नायक और अनेक महान् पुरुषों से पूजित, ऐसा जो जगत् का नाथ पार्श्वनाथ स्वामी है, वह सब मनुष्यों की संपत्ति का कारण हो ॥२॥

[श्रीपार्श्वनाथ का चैत्य-वन्दन ।]

(१)

जय तिहुअणवरकप्परुक्ख जय जिणधन्नंतरि,
जय तिहुअणकल्लाणकोस दुरिअक्करिकेसरि ।
तिहुअणजणअविलंघिआण भुवणत्तयसामिअ,
कुणसु सुहाइ जिणेस, पास थंभणयपुरट्ठिअ ॥ १ ॥

(२)

तइ समरंत लहंति झत्ति वरपुत्तकलत्तइ,
धण्णसुवण्णहिरण्णपुण्ण जण भुंजइ रज्जइ ।
पिक्खइ मुक्ख असंखसुक्ख तुह पास पसाइण,
इअ तिहुअणवरकप्परुक्ख सुक्खइ कुण मह जिण ॥ २ ॥

(३)

जरजज्जर परिजुण्णकण्ण नट्ठुट्ठ सुकुट्ठिण,
चक्खुक्खीण खएण खुण्ण नर सल्लिय सूलिण ।

तुह जिण सरणरसायणेण लहु हंति पुणण्णव,
जयधन्नंतरि पास मह वि तुह रोगहरो भव ॥ ३ ॥

(४)

विज्जाजोइसमंततंतसिद्धिउ अपयत्तिण,
भुवणऽब्भुउ अट्ठविह सिद्धि सिज्झहि तुह नामिण ।
तुह नामिण अपवित्तओ वि जण होइ पवित्तउ,
तं तिहुअणकल्लाणकोस तुह पास निरुत्तउ ॥ ४ ॥

(५)

खुद्दपउत्तइ मंततंतजंताइ विसुत्तइ,
चरथिरगरलगहुग्गखग्गरिउवग्ग विगंजइ ।
दुत्थियसत्थअणत्थघत्थ नित्थारइ दय करि,
दुरियइ हरउ स पास देउ दुरियक्करिकेसरि ॥ ५ ॥

(६)

जइ तुह रूविण किण वि पेयपाइण वेलवियउ,
तुवि जाणउ जिण पास तुम्हि हउं अंगीकरिउ ।
इय मह इच्छिउ जं न होइ सा तुह ओहावणु,
रक्खंतह नियकित्ति णेय जुज्जइ अवहीरणु ॥ २९ ॥

(७)

एह महारिय जत्त देव इहु न्हवण महूसउ,
जं अणलियगुणगहण तुम्ह मुणिजणअणिसिद्धउ ।
एम पसीह सुपासनाह थंभणयपुरट्ठिय,
इय मुणिवरु सिरिअभयदेउ विन्नवइ अणिंदिय ॥३०॥

विधियाँ ।

प्रभातकालीन सामायिक की विधि ।

दो घड़ी रात बाकी रहे तब पौषधशाला आदि एकान्त स्थान में जा कर अगले दिन पडिलेहन किये हुए 'शुद्ध वस्त्र पहिन कर गुरु न हो तो तीन नमुक्कार गिन कर स्थापनाचार्य स्थापे । बाद खमासमण दे कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्' कह कर 'सामायिक मुहपत्ति पडिलेहुँ?' कहे । गुरु के 'पडिलेहेह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण दे कर मुहपत्ति का पडिलेहन करे । फिर खड़े रह कर खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक संदिसाहुँ?' कहे । गुरु 'संदिसावेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर फिर खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक ठाउँ?' कहे । गुरु के 'ठाएह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण दे कर आधा अङ्ग नमा कर तीन नमुक्कार गिन कर कहे कि 'इच्छकारि भगवन् पसायकरी सामायिक दण्ड उच्चरावो जी' । तब गुरु के 'उच्चरावेमो' कहने के बाद 'करेमि भंते सामाइयं' इत्यादि सामायिक सूत्र तीन बार गुरु-वचन-अनुभाषण-पूर्वक पढ़े । पीछे खमासमण दे कर 'इच्छा०' कह कर 'इरियावहियं पडिक्कमामि?' कहे । गुरु 'पडिक्कमह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए' इत्यादि इरियावहिय करके एक लोगस्स का काउस्सग्ग कर तथा 'नमो अरिहंताणं' कह कर उस को पार कर प्रगट लोगस्स कहे ।

फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'बेसणे संदिसाहुँ?' कहे। गुरु 'संदिसावेह' कहे तब फिर 'इच्छं' तथा खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'बेसणे ठाउँ?' कहे। और गुरु 'ठाएह' कहे तब 'इच्छं' कह कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय संदिसाहुँ?' कहे। गुरु के 'संदिसावेह' कहने के बाद 'इच्छं' तथा खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय करुँ?' कहे और गुरु के 'करेह' कहे बाद 'इच्छं' कह कर खमासमण-पूर्वक खड़े-ही-खड़े आठ नमुक्कार गिने।

अगर सर्दी हो तो कपड़ा लेने के लिये पूर्वोक्त रीतिसे खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'पंगुरण संदिसाहुँ?' तथा 'पंगुरण पडिग्गाहुँ?' क्रमशः कहे और गुरु 'संदिसावेह' तथा 'पडिग्गाहेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर वस्त्र लेवे। सामायिक तथा पौषध में कोई वैसा ही व्रती श्रावक वन्दन करे तो 'वंदामो' कहे और अव्रती श्रावक वन्दन करे तो 'सज्झाय करेह' कहे।

रात्रि-प्रतिक्रमण की विधि।

खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'चैत्य-वन्दन करुँ?' कहने के बाद गुरु जब 'करेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'जयउ सामि'[1]

१—तपागच्छ की सामाचारी के अनुसार 'जगचिन्तामणि' का चैत्य-वन्दन जो पृष्ठ २१ पर है, वही खरतरगच्छ की सामाचारी में 'जयउ सामि०' कहलाता है, क्योंकि उस में 'जगचिन्तामणि' यह प्रथम गाथा नहीं बोली जाती; किन्तु 'जयउ सामि०' यह गाथा ही शुरू में बोली जाती है।

'जयउ सामि, का 'जय वीयरायं' तक चैत्य-वन्दन करे फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर के 'कुसुमिणदुसुमिण-राइयपायच्छित्तविसोहणत्थं काउस्सग्गं करुँ?' कहे और गुरु जब 'करेह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'कुसुमिणदुसुमिणराइयपायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' तथा 'अन्नत्थ ऊससिएणं' इत्यादि कह कर चार लोगस्स का 'चंदेसु निम्मलयरा' तक काउस्सग्ग करके 'नमो अरिहंताणं-'पूर्वक प्रगट लोगस्स पढ़े।

रात्रि में मूलगुणसम्बन्धी कोई बड़ा दोष लगा हो तो 'सागरवरगम्भीरा' तक काउस्सग्ग करे। प्रतिक्रमण का समय न हुआ हो तो सज्झाय ध्यान करे। उस का समय होते ही एक-एक खमासमण-पूर्वक "आचार्य-मिश्र, उपाध्याय-मिश्र" जंगम युगप्रधान वर्तमान भट्टारक का नाम और 'सर्वसाधु' कह-कर सब को अलग अलग वन्दन करे। पीछे 'इच्छकारि समस्त श्रावकों को वंदू' कह-कर घुटने टेक कर सिर नमा कर दोनों हाथों

इस के सिवाय खरतरगच्छ की सामाचारी में निम्न-लिखित पाठ-भेद भी है:—
चौथी गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है:—

"चउसय छाया सिया, तिल्लुके चेइए वंदे ॥ ४ ॥"

अन्तिम गाथा तो बिल्कुल भिन्न है:—

"वन्दे नव कोडिसयं, पणवीसं कोडिलक्ख तेवन्ना।
अट्ठावीस सहस्सा, चउसय अट्ठासिया पडिमा" ॥५॥

२—खरतरगच्छ में 'जय वीयराय०' की सिर्फ दो गाथाएँ अर्थात् "सेवणा आभवमखण्डा" तक बोलने की परम्परा है, अधिक बोलने की नहीं। यह परम्परा बहुत प्राचीन है। इस के सबूत में २९ वें पृष्ठ का नोट देखना चाहिये।

से मुँह के आगे मुहपत्ति रख कर 'सव्वस्स वि राइय०' पढ़े, परन्तु 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्, इच्छं' इतना न कहे। पीछे 'शक्रस्तव' पढ़ कर खड़े हो कर 'करेमि भंते सामाइयं०' कह कर 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे राइयो०' तथा 'तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर एक लोगस्स का काउस्सग्ग करके उस को पार कर प्रगट लोगस्स कह कर 'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं वंदण०' कह कर फिर एक लोगस्स का काउस्सग्ग कर तथा उसे पार कर 'पुक्खरवरदीवड्ढे' सूत्र पढ़ कर 'सुअस्स भगवओ' कह कर 'आजूणां चउपहरी रात्रिसम्बन्धी' इत्यादि आलोयणा का काउस्सग्ग में चिन्तन करे अथवा आठ नमुक्कार का चिन्तन करे। बाद काउस्सग्ग पार कर 'सिद्धाणं बुद्धाणं' पढ़ कर प्रमार्जनपूर्वक बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहण करे और दो वन्दना देवे। पीछे 'इच्छा०' कह कर 'राइयं आलोउँ?' कहे। गुरु के 'आलोएह' कहने पर 'इच्छं' कह कर 'जो मे राइयों०' सूत्र पढ़ कर प्रथम काउस्सग्ग में चिन्तन किये हुए 'आजूणा' इत्यादि रात्रि-अतिचारों को गुरु के सामने प्रगट करे और पीछे 'सव्वस्स वि राइय' कह कर 'इच्छा०' कह कर रात्रि-अतिचार का प्रायश्चित्त माँगे।

१—खरतरगच्छ वाले 'सात लाख' बोलने के पहिले 'आजूणा चउपहर रात्रिसम्बन्धी जो कोई जीव विराधना हुई' इतना और बोलते हैं। और 'अठारह पापस्थान' के बाद 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र, पाटी, पोथी, ठवणी, नमुक्कार वाली देव, गुरु, धर्म आदि की आशातना तथा पन्द्रह कर्मादान की आसेवना और स्त्रीकथा आदि चार कथाएँ, की कराई या अनुमोदना की तो वह सब 'मिच्छा मि दुक्कडं' इतना और बोलते हैं।

गुरु के 'पडिक्कमह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' कहे। बाद प्रमार्जनपूर्वक आसन के ऊपर दक्षिण जानू को ऊँचा कर तथा वाम जानू को नीचा करके बैठ जाय और 'भगवन् सूत्र भणुँ?' कहे। गुरु के 'भणह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर तीन-तीन या एक-एक वार नमुक्कार तथा 'करेमि भंते' पढ़े। बाद 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे राइओ' सूत्र तथा 'वंदित्तु' सूत्र पढ़े। बाद दो वन्दना दे कर 'इच्छा०' कह कर 'अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर राइयं खामेउँ?' कहे। बाद गुरु के 'खामेह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर प्रमार्जनपूर्वक घुटने टेक कर दो बाहू पडिलेहन कर वाम हाथ से मुख के आगे मुहपत्ति रख कर दक्षिण हाथ गुरु के सामने रख कर शरीर नमा कर 'जं किंचि अपत्तियं' कहे। बाद जब गुरु 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहे तब फिर से दो वन्दना देवे। और 'आयरिय उवज्झाए' इत्यादि तीन गाथाएँ कह कर 'करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर काउस्सग्ग करे। उस में वीर-कृत षाड्मासी तप का चिन्तन किम्बा छह लोगस्स या चौबीस नमुक्कार का चिन्तन करे। और जो पच्चक्खाण करना हो तो मन में उस का निश्चय करके काउस्सग्ग पारे तथा प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर उकड़ू आसन से बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहन कर दो वन्दना दे कर सकल तीर्थों को नामपूर्वक नमस्कार करे और 'इच्छा-कारेण संदिसह भगवन् पसायकरी पच्चक्खाण कराना जी' कह कर गुरु-मुख से या स्थापनाचार्य के सामने अथवा वृद्ध साध-

र्मिक के मुख से प्रथम निश्चय के अनुसार पच्चक्खाण कर ले। बाद 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कह कर बैठ जाय। और गुरु के एक स्तुति पढ़ जाने पर मस्तक पर अञ्जली रख कर 'नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत्०' पढ़े। बाद 'संसारदावानल' या 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' 'या परसमयतिमिरतरणिं' की तीन स्तुतियाँ पढ़ कर 'शक्रस्तव' पढ़े। फिर खड़े हो कर 'अरिहंत चेइयाणं' कह कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग करे। और उस को 'नमोऽर्हत्–' पूर्वक पार कर एक स्तुति पढ़े। बाद 'लोगस्स, सव्वलोए' पढ़ कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग करके तथा पारके दूसरी स्तुति पढ़े। पीछे 'पुक्खरवर, सुअस्स भगवओ' पढ़ कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग पारके तीसरी स्तुति कहे। तदनन्तर 'सिद्धाणं बुद्धाणं, वेयावच्चगराणं' बोल कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग 'नमोऽर्हत्'-पूर्वक पारके चौथी स्तुति पढ़े। फिर 'शक्रस्तव' पढ़ कर तीन खमासमण-पूर्वक आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधुओं को वन्दन करे।

यहाँ तक रात्रि-प्रतिक्रमण पूरा हो जाता है। और विशेष स्थिरता हो तो उत्तर दिशा की तरफ मुख करके सीमन्धर स्वामी का 'कम्मभूमीहिं कम्मभूमीहिं' से ले कर 'जय वीयराय०' तक संपूर्ण चैत्य-वन्दन तथा 'अरिहंत चेइयाणं०' कहे और एक नमुक्कार का काउस्सग्ग करके तथा उस को पारके सीमन्धर स्वामी की एक स्तुति पढ़े।'

अगर इस से भी अधिक स्थिरता हो तो सिद्धाचल जी का चैत्य-वन्दन कहके प्रतिलेखन करे। यही क्रिया अगर संक्षेप में करनी हो तो दृष्टि-प्रतिलेखन करे और अगर विस्तार से करनी हो तो खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कहे और मुहपत्ति-पडिलेहन, अंब-पहिलेहन, स्थापनाचार्य-पाडिलेहन, उपधि-पाडिलेहन तथा पौषधशाला का प्रमार्जन करके कूड़े-कचरे को विधिपूर्वक एकान्त में रख दे और पीछे 'इरियावहियं' पढ़े।

सामायिक पारने की विधि ।

खमासमण-पूर्वक मुहपत्ति पडिलेहन करके फिर खमासमण कहे। बाद 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक पारुँ'? कहे। गुरु के 'पुणो वि कायव्वो' कहने के बाद 'यथाशक्ति' कह कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक पारेमि?' कहे। जब गुरु 'आयारो न मोत्तव्वो' कहे तब 'तहत्ति' कह कर आधा अङ्ग नमा कर खड़े-ही-खड़े तीन नमुक्कार पढ़े और पीछे घुटने टेक कर तथा शिर नमा कर 'भयवं दसन्नभद्दो' इत्यादि पाँच गाथाएँ पढ़े तथा 'सामामिक विधि से लिया' इत्यादि कहे।

संध्याकालीन सामायिक की विधि ।

दिन के अन्तिम प्रहर में पौषधशाला आदि किसी एकान्त स्थान में जा कर उस स्थान का तथा वस्त्र का पडिलेहन करे। अगर देरी हो गई हो तो दृष्टि-पडिलेहन कर लेवे। फिर गुरु या स्थापनाचार्य के सामने बैठ कर भूमि का प्रमार्जन करके

बाईं ओर आसन रख कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक मुहपत्ति पडिलेहुँ?' कहे । गुरु के 'पडिलेहेह' कहने पर 'इच्छं' कह कर मुहपत्ति पडिलेहे । फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सामायिक संदिसाहुं, सामायिक ठाउं, इच्छं, इच्छकारि भगवन् पसायकरि सामायिक दंड उच्चरावो जी' कहे । बाद तीन वार नमुक्कार, तीन वार 'करेमि भंते' 'सामाइयं' तथा 'इरियावहियं' इत्यादि काउस्सग्ग तथा प्रगट लोगस्स तक सब विधि प्रभात के सामायिक की तरह करे । बाद नीचे बैठ कर मुहपत्ति का पडिलेहन कर दो वन्दना दे कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छकारि भगवन् पसायकरि पच्चक्खाण कराना जी' कहे । फिर गुरु के मुख से या स्वयं या किसी बड़े के मुख से दिवस चरिमं का पच्चक्खाण करे ।

अगर तिविहाहार उपवास किया हो तो वन्दना न दे कर सिर्फ मुहपत्ति पडिलेहन करके पच्चक्खाण कर लेवे और अगर चउव्विहाहार उपवास हो तो मुहपत्ति पडिलेहन भी न करे । बाद को एक-एक खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'सज्झाय संदिसाहुँ?, सज्झाय करुँ?' तथा 'इच्छं' यह सब पूर्व की तरह क्रमशः कहे और खड़े हो कर खमासमण-पूर्वक आठ नमुक्कार गिने । फिर एक-एक खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'बेसणे संदिसाहुँ?, बेसणे ठाउँ?' तथा 'इच्छं' यह सब क्रमशः पूर्व की तरह कहे ।

और अगर वस्त्र की ज़रूरत हो तो उस के लिये भी एक-एक खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'पंगुरण संदिसाहुँ ?, पंगुरण पडिग्गाहुँ ?' तथा 'इच्छं' यह सब पूर्व की तरह कह कर वस्त्र ग्रहण कर ले और शुभ ध्यान में समय बितावे।

दैवसिक-प्रतिक्रमण की विधि।

तीन खमासमण-पूर्वक 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् चैत्य-वन्दन करुँ?' कहे। गुरु के 'करेह' कहने पर 'इच्छं' कह कर 'जय तिहुअण, जय महायस' कह कर 'शक्रस्तव' कहे। और 'अरिहंत चेइयाणं' इत्यादि सब पाठ पूर्वोक्त रीति से पढ़ कर काउस्सग्ग आदि करके चार थुइ का देव-वन्दन करे। इस के पश्चात् एक-एक खमासमण दे कर आचार्य आदि को वन्दन करके 'इच्छकारि समस्त श्रावकों को वंदू' कहे। फिर घुटने टेक कर शिर नमा कर 'सव्वस्स वि देवसिय' इत्यादि कहे। फिर खड़े हो कर 'करेमि भंते, इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ०, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर काउस्सग्ग करे। इस में 'आजूणा चौपहर दिवस में' इत्यादि पाठ का चिन्तन करे। फिर काउस्सग्ग पारके प्रगट लोगस्स पढ़ कर प्रमार्जन-पूर्वक बैठ कर मुहपत्ति का पडिलेहन करके दो वन्दना दे। फिर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं आलोएमि?' कहे। गुरु जब 'आलोएह' कहे तब 'इच्छं' कह कर 'आलोएमि जो मे देवसियो०, आजूणा चौपहर दिवससंबन्धी०, सात लाख, अठारह

पापस्थान' कह कर 'सव्वस्स वि देवसिय, इच्छाकारेण संदिसह भगवन्०' तक कहे । जब गुरु 'पडिक्कमह' कहे तब 'इच्छं, मिच्छा मि दुक्कडं' कहे । फिर प्रमार्जनपूर्वक बैठ कर 'भगवन् सूत्र भणुँ ?' कहे । गुरु के 'भणह' कहने पर 'इच्छं' कह कर तीन-तीन या एक-एक बार नमुक्कार तथा 'करेमि भंते' पढ़े । फिर 'इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसियो०' कह कर 'वंदितु' सूत्र पढ़े । फिर दो वन्दना दे कर 'अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर देवसियं खामेउं, इच्छं, जं किंचि अपत्तियं०' कह कर फिर दो वन्दना देवे और 'आयरिय उवज्झाए' कह कर 'करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी' आदि कह कर दो लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े । फिर 'सव्वलोए' कह कर एक लोगस्स का काउस्सग्ग करे और उस को पार कर 'पुक्खरवर०, सुअस्स भगवओ०' कह कर फिर एक लोगस्स का काउस्सग्ग करे । तत्पश्चात् 'सिद्धाणं बुद्धाणं, सुअदेवयाए०' कह कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग कर तथा श्रुतदेवता की स्तुति पढ़ कर 'खित्तदेवयाए करेमि०' कह कर एक नमुक्कार का काउस्सग्ग करके क्षेत्रदेवता की स्तुति पढ़े । बाद खड़े हो कर एक नमुक्कार गिने और प्रमार्जनपूर्वक बैठ कर मुहपत्ति पडिलेहन कर दो वन्दना दे कर 'इच्छामो अणुसट्ठिं' कह कर बैठ जाय । फिर जब गुरु एक स्तुति पढ़ ले तब मस्तक पर अञ्जली रख कर 'नमो खमासमणाणं, नमोऽर्हत्सिद्धा०' कहे । बाद श्रावक 'नमोस्तु वर्धमानाय०' की तीन स्तुतियाँ और श्राविका 'संसारदावानल०'

की तीन स्तुतियाँ पढ़े। फिर 'नमुत्थुणं' कह कर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'स्तवन भणुं?' कहे। बाद गुरु के 'भणह' कहने पर आसन पर बैठ कर 'नमोऽर्हत्सिद्धा०' पूर्वक बड़ा स्तवन बोले। पीछे एक-एक खमासमण दे कर आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधु को वन्दन करे। फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'देवसियपायच्छित्तविसुद्धिनिमित्तं काउस्सग्ग करूँ?' कहे। फिर गुरु के 'करेह' कहने के बाद 'इच्छं' कह कर 'देवसिअपायच्छित्तविसुद्धिनिमित्तं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ०' कह कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर खमासमण-पूर्वक 'इच्छा०' कह कर 'खुद्दोवद्दवउड्डावणनिमित्तं काउस्सग्गं करेमि, अन्नत्थ०' कह कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े। फिर खमासमण-पूर्वक स्तम्भन पार्श्वनाथ का 'जय वीयराय' तक चैत्य-वन्दन करके 'सिरिथंभणयट्ठियपाससामिणो' इत्यादि दो गाथाएँ पढ़ कर खड़े हो कर वन्दन तथा 'अन्नत्थ०' कह कर चार लोगस्स का काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े।

इस तरह दादा जिनदत्त सूरि तथा दादा जिनकुशल सूरि का अलग-अलग काउस्सग्ग करके प्रगट लोगस्स पढ़े। इस के बाद लघु शान्ति पढ़े। अगर लघु शान्ति न आती हो तो सोलह नमुक्कार का काउस्सग्ग करके तीन खमासमण-पूर्वक 'चउक्कसाय०' का 'जय वीयराय०' तक चैत्य-वन्दन करे। फिर 'सर्वमंगल०' कह कर पूर्वोक्त रीति से सामायिक करे।

पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण की विधि[1]।

'वंदित्तु' सूत्र पर्यन्त तो दैवसिक-प्रतिक्रमण की विधि करे। बाद खमासमण दे कर 'देवसियं आलोइय पडिक्कंता, इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पक्खिय मुहपत्ति पडिलेहुँ?' कहे। बाद गुरु के 'पडिलेहेह' कहने पर 'इच्छं' कह कर खमासमण-पूर्वक मुहपत्ति पडिलेहन करे और दो वन्दना दे। बाद जब गुरु कहे कि 'पुण्णवन्तो' 'देवसिय' की जगह 'पक्खिय', 'चउमासिय' या 'संवच्छरिय' पढ़ना, छींक की जयणा करना, मधुर स्वर से पडिकमण करना, खाँसना हो तो विवर-शुद्ध खाँसना और मण्डल में सावधान रहना' तब 'तहत्ति' कहे। पीछे खड़े हो कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् संबुद्धा खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउँ?' कहे। गुरु के 'खामेह' कहने पर 'इच्छं, खामेमि पक्खियं' कहे। और घुटने टेक कर यथाविधि पाक्षिक-प्रतिक्रमण में 'पनरसण्हं दिवसाणं पनरसण्हं राईणं जं किंचि०;' चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण में 'चउण्हं मासाणं अठण्हं पक्खाणं वीसोत्तरसयं राइंदियाणं जं किंचि०' और सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण में 'दुवालसण्हं मासाणं चउवीसण्हं पक्खाणं तिन्निसयसट्ठि राइंदियाणं जं किंचि०' कहे। गुरु जब 'मिच्छा मि दुक्कडं' दे, तब अगर दो साधु उचरते हों तो पाक्षिक में तीन, चातुर्मा-

---

१—दैवसिक-प्रतिक्रमण में जहाँ-जहाँ 'देवसियं' शब्द बोला जाता है, वहाँ-वहाँ पाक्षिक-प्रतिक्रमण में 'पक्खिय' चातुर्मासिक में 'चउमासिय' और सांवत्सरिक में 'संवच्छरिय' बोलना चाहिये।

सिक में पाँच और सांवत्सरिक में सात साधुओं को खमावे। बाद खड़े हो कर 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पक्खियं आलोउँ?' कहे। गुरु के 'आलोएह' कहने पर 'इच्छं, आलोएमि जो मे पक्खिओ अइयारो कओ०' पढ़े और बड़ा अतिचार बोले। पीछे 'सव्वस्स वि पक्खिय' को 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्' तक कहे। गुरु जब पाक्षिक, चातुर्मासिक या सांवत्सरिक में अनुक्रम से 'चउत्थेण, छट्ठेण, अट्ठमेण पडिक्कमह' कहे, तब 'इच्छं, मिच्छा मि दुक्कडं' कहे। बाद दो वन्दना दे। पीछे 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् देवसियं आलोइय पडिक्कंता पत्तेय खामणेणं, अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउँ?' कहे। गुरु के 'खामेह' कहने के बाद 'इच्छं, खामेमि पक्खियं जं किंचि०' पाठ पढ़े और दो वन्दना दे। पीछे 'भगवन् देवसियं आलोइय पडिक्कंता पक्खियं पडिक्कमावेह' कहे। गुरु जब 'सम्मं पडिक्कमेह' कहे, तब 'इच्छं, करेमि भंते सामाइयं, इच्छामि ठामि काउस्सग्ग, जो मे पक्खियो, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर काउस्सग्ग करे और 'पक्खिय' सूत्र सुने।

गुरु से अलग प्रतिक्रमण किया जाता हो तो एक श्रावक खमासमण-पूर्वक 'सूत्र भणुँ?' कह कर 'इच्छं' कहे और अर्थ-चिन्तन-पूर्वक मधुर स्वर से तीन नमुक्कार-पूर्वक 'वंदित्तु' सूत्र पढ़े और बाकी के सब श्रावक 'करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ'-पूर्वक काउस्सग्ग करके उस को सुनें। 'वंदित्तु' सूत्र पूर्ण हो जाने के बाद 'नमो अरिहंताणं' कह कर

काउस्सग्ग पारे और खड़े-ही-खड़े तीन नमुक्कार गिन कर बैठ जाय। बाद तीन नमुक्कार, तीन 'करेमि भंते' पढ़ कर 'इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं जो मे पक्खियो०' कहके 'वंदित्तु' सूत्र पढ़े। बाद खमासमण पूर्वक 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् मूलगुण-उत्तरगुण-विशुद्धि-निमित्तं काउस्सग्गं करुँ?' कहे। गुरु जब 'करेह' कहे, तब 'इच्छं करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, अन्नत्थ' कह कर पाक्षिक में बारह, चातुर्मासिक में बीस और सांवत्सरिक में चालीस लोगस्स का काउस्सग्ग करे। फ़िर नमुक्कार-पूर्वक काउस्सग्ग पारके लोगस्स पढ़े और बैठ जाय। पीछे मुहपत्ति पडिलेहन करके दो वन्दना दे और 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् समाप्ति खामणेणं अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर पक्खियं खामेउँ?' कहे। गुरु जब 'खामेह' कहे, तब 'इच्छं, खामेमि पक्खियं जं किंचि' कहे। बाद 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पक्खिय खामणा खामुँ?' कहे और गुरु जब 'पुण्णवंतो' तथा चार खमासमण-पूर्वक तीन नमुक्कार गिन कर 'पक्खिय-समाप्ति खामणा खामेह' कहे, तब एक खमासमण-पूर्वक तीन नमुक्कार पढ़े, इस तरह चार बार करे। गुरु के 'नित्थारगपारगा होह' कहने के बाद 'इच्छं, इच्छामो अणुसट्ठिं' कहे। इस के बाद गुरु जब कहे कि 'पुण्णवंतो' पक्खिय के निमित्त एक उपवास, दो आयंबिल, तीन निवि, चार एकासन, दो हजार सज्झाय करी एक उपवास की पेठ पूरनी और 'पक्खिय' के

१—चउमासिय में इस से दूना अर्थात् दो उपवास, चार आयंबिल, छह निवि, आठ एकासन और चार हजार सज्झाय। संवच्छरिय में उस से

स्थान में 'देवसिय' कहना', तब जिन्हों ने तप कर लिया हो, वे 'पइट्ठिय' कहें और जिन्हों ने तप न किया हो वे 'तहत्ति' कहें। पीछे दो वन्दना दे कर 'अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर देवसियं खामेऊँ?' पढ़े। बाद दो वन्दना दे कर 'आयरिय उवज्झाए' पढ़े।

इस के आगे सब विधि दैवसिक-प्रतिक्रमण की तरह है। सिर्फ़ इतना विशेष है कि पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण में श्रुत-देवता, क्षेत्रदेवता और भुवनदेवता के आराधन के निमित्त अलग-अलग तीन बार काउस्सग्ग करे और प्रत्येक काउस्सग्ग को पार कर अनुक्रम से 'कमलदल०, ज्ञानादिगुणयुतानां० और यस्याः क्षेत्रं०' स्तुतियाँ पढ़े। इस के अनन्तर बड़ा स्तवन 'अजित-शान्ति' और छोटा स्तवन 'उवसग्गहरं०' पढ़े। तथा प्रतिक्रमण पूर्ण होने के बाद गुरु से आज्ञा ले कर 'नमोऽर्हत्०' पढे। फिर एक श्रावक बड़ी 'शान्ति' पढ़े और बाकी के सब सुनें। जिन्हों ने रात्रि-पौषध न किया हो, वे पौषध और सामायिक पार करके 'शान्ति' सुनें।

[जय तिहुअण स्तोत्र ।]

*** जय तिहुअणवरकप्परुक्ख जय जिणधन्नंतरि,**
जय तिहुअणकल्लाणकोस दुरिअक्करिकेसरि।

तिगुना अर्थात् तीन उपवास, छह आयंबिल, नौ निवि, बारह एकासन और छह हजार सज्झाय' ऐसा बोलते है।

* जय त्रिभुवनवरकल्पवृक्ष जय जिनधन्वन्तरे,
जय त्रिभुवनकल्याणकोष दुरितकरिकेसरिन्।

तिहुअणजणअविलंघिआण भुवणत्तयसामिअ,
कुणसु सुहाइ जिणेस पास थंभणयपुरट्ठिअ ॥१॥

अन्वयार्थ—'तिहुअणवरकप्परुक्ख' तीनों लोकों के लिये उत्कृष्ट कल्पवृक्ष के समान 'जिणधन्नंतरि' जिनों में धन्वन्तरि के सदृश 'तिहुअणकल्लाणकोस' तीन लोक के कल्याणों के ख़ज़ाने 'दुरिअक्करिकेसरि' पापरूप हाथियों के लिये सिंह के समान 'तिहुअणजणअविलंघिआण' तीनों लोकों के प्राणी जिस की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकते ऐसे 'भुवणत्तयसामिअ' तीनों लोकों के नाथ 'थंभणयपुरट्ठिअ' स्तम्भनपुर में विराजमान 'पास जिणेस' हे पार्श्व जिनेश्वर ! 'जय जय जय' तेरी जय हो और बार-बार जय हो, [मेरे लिये] 'सुहाइ कुणसु' सुख करो ॥१॥

भावार्थ—स्तम्भनपुर में विराजमान हे पार्श्व जिनेश्वर ! तुम्हारी जय हो और बार-बार जय हो । तुम तीनों लोकों में उत्कृष्ट कल्पवृक्षके समान हो; जैसे वैद्यों में धन्वन्तरि बड़े भारी वैद्य हैं, उसी तरह तुम भी जिनों—सामान्य केवलियों में उत्कृष्ट जिन हो; तीनों जगत् को कल्याण-दान के लिये तुम एक ख़ज़ाने हो; पापरूप हाथियों का नाश करने के लिये तुम शेर हो, तीनों जगत् में कोई तुम्हारे हुक्म को टाल नहीं सकता और तीनों जगत् के तुम मालिक हो । अतः मेरे लिये सुख करो ॥१॥

त्रिभुवनजनाविलङ्घिताज्ञ भुवनत्रयस्वामिन्,
कुरुष्व सुखानि जिनेश पार्श्व स्तम्भनकपुरस्थित ॥१॥

*तइ समरंत लहंति झत्ति वरपुत्तकलत्तइ,
धण्णसुवण्णहिरण्णपुण्ण जण भुंजइ रज्जइ।
पिक्खइ मुक्खअसंखसुक्ख तुह पास पसाइण,
इअ तिहुअणवरकप्परुक्ख सुक्खइ कुण मह जिण॥२॥

अन्वयार्थ—'जण' प्राणी 'तइ' तुम्हारा 'समरंत' स्मरण करते ही 'झत्ति' शीघ्र 'वरपुत्तकलत्तइ' सुन्दर-सुन्दर पुत्र, औरत आदि 'लहंति' पाते हैं, 'धण्णसुवण्णहिरण्णपुण्ण' धान्य, सोना, आभूषणों से भरा हुआ 'रज्जइ' राज्य 'भुंजइ' भोगते हैं, 'पास' हे पार्श्व! 'तुह पसाइण' तुम्हारे प्रसाद से 'असंक्खसुक्ख मुक्ख' अगणित सुख वाली मुक्ति को 'पिक्खइ' देखते हैं, 'इअ' इस लिये 'जिण' हे जिन! [तुम] 'तिहुअणवरकप्परुक्ख' तीनों लोकों के लिये उत्कृष्ट कल्पवृक्ष के समान हो [अतः] 'मह सुक्खइ कुण' मेरे लिये सुख करो॥२॥

भावार्थ—हे जिन! मनुष्य तुम्हारा स्मरण करने से शीघ्र ही उत्तम-उत्तम पुत्र, औरत वगैरह को प्राप्त करता है और धान्य, सौना, आभूषण आदि संपत्तियों से परिपूर्ण राज्य का भोग करता है। हे पार्श्व! तुम्हारे प्रसाद से मनुष्य अगणित सौख्य वाली मोक्ष का अनुभव करता है। इस लिये आप 'त्रिभुवनवरकल्पवृक्ष' कहलाते हो। अतः मेरे लिये सुख करो॥२॥

---

* त्वां स्मरन्तो लभन्ते झटिति वरपुत्रकलत्राणि,
धान्यसुवर्णहिरण्यपूर्णानि जना भुञ्जन्ते राज्यानि।
पश्यन्ति मोक्षमसंख्यसौख्यं तव पार्श्व प्रसादेन,
इति त्रिभुवनवरकल्पवृक्ष सौख्यानि कुरु मम जिन॥२॥

×जरजज्जर परिजुण्णकण्ण नट्ठुट्ठ सुकुट्ठिण,
चक्खुक्खीण खएण खुण्ण नर सल्लिय सूलिण।
तुह जिण सरणरसायणेण लहु हंति पुणण्णव,
जयधन्नंतरि पास मह वि तुह रोगहरो भव ॥३॥

अन्वयार्थ—'जिण' हे जिन! 'तुह' तुम्हारे 'सरणरसायणेण' स्मरणरूप रसायन से 'नर' [जो] मनुष्य 'जरजज्जर' ज्वर से जीर्ण हो चुके हों 'सुकुट्ठिण' गलित कोढ़ से 'परिजुण्णकण्ण' जिन के कान बह निकले हों 'नट्ठुट्ठ' जिन के ओठ गल गये हों 'चक्खुक्खीण' जिन की आँखें निस्तेज पड़ गई हों 'खएण खुण्ण' क्षय रोग से जो कृश हो गये हों [और] 'सूलिण सल्लिय' जो शूल रोग से पीडित हों [वे भी] 'लहु पुणण्णव' शीघ्र ही फिर जवान 'हंति' हो जाते हैं 'जयधन्नंतरि पास' हे संसार भर के धन्वन्तरि पार्श्व! 'तुह' तुम 'मह वि' मेरे लिये भी 'रोगहरो भव' रोग-नाशक होओ॥३॥

भावार्थ—हे जिन! तुम्हारे स्मरणरूप रसायन से वे लोग भी शीघ्र युवा सरीखे हो जाते हैं, जो ज्वर से जर्जरित हो गये हों; गलित कोढ़ से जिन के कान बह निकले हों; ओठ गल गये हों; आँखों से कम दीखने लग गया हो; जो क्षय रोगसे कृश हो गये हों तथा शूल रोग से पीडित हों। इस लिये हे पार्श्व प्रभो! तुम 'जगद्धन्वन्तरि' कहलाते हो। अब तुम मेरे भी रोग का नाश करो ३

× ज्वरजर्जराः परिजूर्णकर्णा नष्टौष्ठाः सुकुष्ठेन,
क्षीणचक्षुषः क्षयेण क्षुण्णा नराः शल्यिताः शूलेन।
तव जिन स्मरणरसायनेन लघु भवन्ति पुनर्नवाः,
जगद्धन्वन्तरे पार्श्व ममाऽपि त्वं रोगहरो भव ॥३॥

× विज्जाजोइसमंततंतासिद्धिउ अपयत्तिण ,
भुवणऽब्भुउ अट्ठविह सिद्धि सिज्झहि तुह नामिण ।
तुह नामिण अपवित्तओ वि जण होइ पवित्तउ',
तं तिहुअणकल्लाणकोस तुह पास निरुत्तउ ॥४॥

अन्वयार्थ—'तुह नामिण' तुम्हारे नाम से 'अपयत्तिण' बिना प्रयत्न के 'विज्जाजोइसमंततंतासिद्धिउ' विद्या, ज्योतिष्, मन्त्र और तन्त्रों की सिद्धि होती है 'भुवणब्भुउ' जगत् को आश्चर्य उपजाने वाली 'अट्ठविह सिद्धि' आठ प्रकार की सिद्धियाँ 'सिज्झहि' सिद्ध होती हैं 'तुह नामिण' तुम्हारे नाम से 'अपवित्तओ वि जण' अपवित्र भी मनुष्य 'पवित्तउ होइ' पवित्र हो जाता है । 'तं' इस लिये 'पास' हे पार्श्व ! 'तुह' तुम 'तिहुअणकल्लाण-कोस' त्रिभुवनकल्याणकोष 'निरुत्तउ' कहे गये हो ॥४॥

भावार्थ—हे पार्श्व प्रभो ! तुम 'त्रिभुवनकल्याणकोश' इस लिये कहे जाते हो कि तुम्हारे नाम का स्मरण—ध्यान करने से बिना प्रयत्न किये ही विद्या, ज्योतिष्, मन्त्र, तन्त्र आदि सिद्ध होते हैं; आठ प्रकार की सिद्धियाँ भी, जो कि लोक में चमत्कार दिखाने वाली हैं, सिद्ध होती हैं और अपवित्र भी मनुष्य पवित्र हो जाते हैं ॥४॥

× विद्याज्योतिर्मन्त्रतन्त्रसिद्धयोऽप्रयत्नेन,
भुवनाद्भुता अष्टविधाः सिद्धयः सिद्ध्यन्ति तव नाम्ना ।
तव नाम्नाऽपवित्रोऽपि जनो भवति पवित्रः,
तत्त्रिभुवनकल्याणकोषस्त्वं पार्श्व निरुक्तः ॥४॥

* खुद्दपउत्तइ मंततंतजंताइ विसुत्तइ,
चरथिरगरलगहुग्गखग्गारिउवग्ग विगंजइ ।
दुत्थियसत्थ अणत्थघत्थ नित्थारइ दय करि,
दुरियइ हरउ स पासदेउ दुरियक्करिकेसरि ॥५॥

अन्वयार्थ—[जो] 'खुद्दपउत्तइ' क्षुद्र पुरुषों द्वारा किये गये 'मंततंतजंताइ' मन्त्र, तन्त्र, यन्त्रों को 'विसुत्तइ' निष्फल कर देता है, 'चरथिरगरलगहुग्गखग्गारिउवग्ग' जङ्गम-विष, स्थिर-विष, ग्रह, भयंकर तलवार और शत्रु-समुदाय का 'विगंजइ' पराभव कर देता है [और] 'अणत्थघत्थ' अनर्थों से घिरे हुए 'दुत्थियसत्थ' बेहाल प्राणियों को 'दय करि' कृपा कर 'नित्थारइ' बचा देता है, 'स' वह 'दुरियक्करिकेसरि पासदेउ' पापरूप हाथियों के लिये शेर समान पार्श्वदेव 'दुरियइ हरउ' [मेरे] पाप दूर करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे प्रभो ! तुम 'दुरित-करि-केसरी' इस लिये कहलाते हो कि तुम क्षुद्र आदमियों द्वारा किये गये यन्त्र-तन्त्र आदि को निष्फल कर देते हो; सर्प-सोमल आदि के विष को उतार देते हो; ग्रह-दोषों को निवारण कर देते हो; भयंकर तलवारों के वारों को रोक देते हो; वैरियों के दलों को छिन्न-भिन्न कर देते हो और जो अनर्थों में फँसे हुए अत एव दुःखित प्राणियों के दुःख मेट देते हो। हे पार्श्व ! दया कर मेरे भी पापों का नाश करो ॥५॥

---

* क्षुद्रप्रयुक्तानि मन्त्रतन्त्रयन्त्राणि विसूत्रयति,
चरस्थिरगरलग्रहोग्रखड्गरिपुवर्गान्विगञ्जयति ।
दुःस्थितसत्त्वाननर्थग्रस्तान्निस्तारयति दयां कृत्वा,
दुरितानि हरतु स पार्श्वदेवो दुरितकरिकेसरी ॥ ५ ॥

+ तुह आणा थंभेइ भीमदप्पुद्धुरसुरवर,–
रक्खसजक्खफणिंदविंदचोरानलजलहर ।
जलथरचारि रउद्दखुद्दपसुजोइणिजोइय,
इय तिहुअणअविलंघिआण जय पास सुसामिय ॥६॥

अन्वयार्थ—'सुसामि' हे सुनाथ ! 'तुह आणा' तुम्हारी आज्ञा—'भीमदप्पुद्धुरसुरवररक्खसजक्खफणिंदविंदचोरानलजलहर' बड़े भारी अहंकार से उद्दण्ड भूत-प्रेत आदि, राक्षस, यक्ष, सर्प-राजों के समूह, चोर, अग्नि और मेघ को 'जलथलचारि' जलचर और स्थलचर को 'रउद्दखुद्दपसुजोइणजोइय' [तथा] अतिभयंकर हिंसक पशु, योगिनी और योगी को 'थंभेइ' रोक देती है, 'इय' इस लिये 'तिहुअणअविलंघिआण पास' हे तीनों लोकों में जिस का हुक्म न रुके, ऐसे पार्श्व ! 'जय' [तुम्हारी] जय हो ॥६॥

भावार्थ—हे पार्श्वसुनाथ ! तुम्हारी आज्ञा बड़े-बड़े घमण्डी और उद्दण्ड भूत-प्रेत आदि के; राक्षस, यक्ष और सर्पराजों के समूह के; चोर, आग्नि और मेघों के ; जलचर—नाके, घड़ियाल आदि के; थलचर—व्याघ्र आदि के; भयंकर और हिंसक पशुओं के ; योगिनियों और योगियों के आक्रमणों को रोक देती है। इसी लिये तुम 'त्रिभुवनाविलङ्घिताज्ञ' हो ॥६॥

+ तवाऽऽज्ञा स्तभ्नाति भीमदर्पोद्धुरसुरवर,–
राक्षसयक्षफणीन्द्रवृन्दचोराऽनलजलधरान् ।
जलस्थलचारिणः रौद्रक्षुद्रपशुयोगिनीयोगिनः,
इति त्रिभुवनाविलङ्घिताज्ञ जय पार्श्व सुस्वामिन् ॥६॥

† पत्थियअत्थ अणत्थतत्थ भत्तिब्भरनिब्भर,
रोमंचंचिय चारुकाय किन्नरनरसुरवर ।
जसु सेवहि कमकमलजुयल पक्खालियकलिमलु,
सो भुवणत्तयसामि पास मह मद्दउ रिउबलु ॥७॥

अन्वयार्थ—'अणत्थतत्थ' अनर्थों से पीड़ित [अत एव] 'पत्थियअत्थ' प्रार्थी 'भत्तिब्भरनिब्भर' भक्ति के बोझ से नम्रीभूत [अत एव] 'रोमंचंचिय' रोमाञ्च-विशिष्ट [अत एव] 'चारुकाय' सुन्दर शरीर वाले 'किन्नरनरसुरवर' किन्नर, मनुष्य और देवताओं में उच्च देवता, 'जसु' जिस के 'पक्खालियकलिमलु' कलिकाल के पापों को नाश करने वाले 'कमकमलजुयल' दोनों चरण-कमलों की 'सेवहि' सेवा करते है, 'सो' वह 'भुवणत्तयसामि पास' तीनों लोकों के स्वामी पार्श्व 'मह रिउबलु' हमारे वैरियों की सामर्थ्य को 'मद्दउ' चूर-चूर करे ॥७॥

भावार्थ—हे पार्श्व प्रभो ! अनेक अनर्थों से घबड़ा कर भक्ति-वश रोमाञ्चित हो कर सुन्दर-सुन्दर शरीरों को धारण करने वाले उच्च-उच्च किन्नर, मनुष्य और देवता अर्थात् तीनों लोक तुम्हारे चरण-कमलों की सेवा करते हैं, जिस से कि उन के क्लेश और पाप दूर हो जाते हैं, इसी लिये तुम 'भुवन-त्रयस्वामी' कहलाते हो, सो मेरे भी शत्रुओं का बल नष्ट करो ॥७॥

† प्रार्थितार्था अनर्थत्रस्ता भक्तिभरनिर्भराः,
रोमाञ्चाञ्चिताश्चारुकायाः किन्नरनरसुरवराः ।
यस्य सेवन्ते क्रमकमलयुगलं प्रक्षालितकलिमलं,
स भुवनत्रयस्वामी पार्श्वो मम मर्दयतु रिपुबलम् ॥ ७ ॥

‡ जय जोइयमणकमलभसल भयपंजरकुंजर,
तिहुअणजणआणंदचंद भुवणत्तयदिणयर ।
जय मइमेइणिवारिवाह जयजंतुपियामह,
थंभणयट्ठिय पासनाह नाहत्तण कुण मह ॥८॥

अन्वयार्थ--'जोइयमणकमलभसल' हे योगियों के मनोरूप कमलों के लिये भौंरे, 'भयपंजरकुंजर' हे भयरूप पिंजर के लिये हाथी, 'तिहुअणजणआणंदचंद' हे तीनों लोकों के प्राणियों को आनन्द देने के लिये चन्द्र [और] 'भुवणत्तयदिणयर' हे तीन जगत् के सूर्य 'जय' [तुम्हारी] जय हो; 'मइमेइणिवारिवाह' हे मतिरूप पृथ्वी के लिये मेघ 'जयजंतुपियामह' हे जगत् के प्राणियों के पितामह! 'जय' [तुम्हारी] जय हो; 'थंभणयट्ठिय पासनाह' हे स्तम्भनकपुर में विराजमान पार्श्वनाथ! 'मह नाहत्तण कुण' मुझे सनाथ करो ॥८॥

भावार्थ—हे खंमाच में विराजमान पार्श्वनाथ ! तुम कमल पर भौंरे की तरह योगियों के मन में बसे हुए हो; हाथी की तरह भयरूप पिंजरे को तोड़ने वाले हो; चन्द्रमा की तरह तीनों लोकों को आनन्द उपजाने वाले हो; सूर्य की तरह तीनों जगत् का अज्ञान-अन्धकार नष्ट करने वाले हो; मेघ की तरह मतिरूप भूमि को सरस बनाने वाले हो और पितामह की तरह प्राणियों की परवरिश करने वाले हो, इस लिये मेरे भी तुम अब स्वामी बनो ८

‡ जय योगिमनःकमलभसल भयपिञ्जरकुञ्जर,
त्रिभुवनजनानन्दचन्द्र भुवनत्रयदिनकर ।
जय मतिमेदिनीवारिवाह जगज्जन्तुपितामह,
स्तम्भनकास्थित पार्श्वनाथ नाथत्वं कुरु मम ॥८॥

* बहुविहुवन्नु अवन्नु सुन्नु वन्निउ छप्पन्निहिं,
मुक्खधम्मकामत्थकाम नर नियनियसत्थिहिं ।
जं ज्झायहि बहुदरिसणत्थ बहुनामपसिद्धउ,
सो जोइयमणकमलभसल सुहु पास पवद्धउ ॥९॥

अन्वयार्थ—[जो] 'छप्पन्निहिं' पण्डितों द्वारा 'नियनिय-सत्थिहिं' अपने-अपने शास्त्रों में 'बहुविहुवन्नु' विविध वर्ण वाला, 'अवन्नु' अवर्ण [तथा] 'सुन्नु' शून्य 'वन्निउ' कहा गया है; [अत एव] 'बहुनामपसिद्धउ' अनेक नामों से मशहूर है; 'जं' जिस का 'मुक्खधम्मकामत्थकाम' मोक्ष, धर्म, काम और अर्थ को चाहने वाले 'बहुदरिसणत्थ नर' अनेक दार्शनिक मनुष्य 'ज्झायहिं' ध्यान करते हैं; 'सो' वह 'जोइयमणकमलभसल पास' योगियों के दिलों में भौंरे की तरह रहने वाला पार्श्व 'सुहु पवद्धउ' सुख बढ़ावे ॥९॥

भावार्थ—हे पार्श्व ! अपने-अपने शास्त्रों में किसी ने आप को 'नानारूपधारी,' किसी ने 'निराकार' और किसी ने 'शून्य' बतलाया है ; इसी लिये आप के विष्णु, महेश, बुद्ध आदि अनेक नाम हैं। और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चाहने वाले अनेक दार्शनिक आप का ध्यान करते हैं; इसी लिये आप 'योगि-मनः-कमल-भसल' हैं । आप मेरे सुख की वृद्धि करें ॥९॥

---

* बहुविधवर्णोऽवर्णः शून्यो वर्णितः पण्डितैः,
मोक्षधर्मकामार्थकामा नरा निजनिजशास्त्रेषु ।
यं ध्यायन्ति बहुदर्शनस्था बहुनामप्रसिद्धं,
स योगिमनःकमलभसलः सुखं पार्श्वः प्रवर्द्धयतु ॥९॥

* भयविब्भल रणझणिरदसण थरहरियसरीरय,
तरलियनयण विसुन्न सुन्न गग्गरगिर करुणय ।
तइ सहसत्ति सरंत हुंति नर नासियगुरुदर,
मह विज्झवि सज्झसइ पास भयपंजरकुंजर ॥१०॥

अन्वयार्थ—'भयविब्भल' [जो] भय से व्याकुलित हों, 'रणझणिरदसण' [जिन के] दाँत युद्ध में टूट गये हों, 'थरहरियसरीरय' शरीर थर-थर काँपता हो, 'तरलियनयण' आँखें फटीसी हो गई हों, 'विसुन्न' जो खेद-खिन्न हों, 'सुन्न' अचेत हो गये हों, 'गग्गरगिर' गद्गद बोली से बोलते हों [और] 'करुणय' दीन हों; 'नर' [ऐसे भी] आदमी 'तइ सरंत' तुम्हारे स्मरण करते ही 'सहसत्ति' एक ही दम 'नासियगुरुदर हुंति' नष्ट-व्याधि हो जाते हैं। भयपंजरकुंजर पास' भयरूप पिंजरे को [तोड़ने के लिये] हाथी-सदृश हे पार्श्व ! 'मह सज्झसइ विज्झवि' मेरे भयों को नाशो ॥१०॥

भावार्थ—हे पार्श्व प्रभो ! तुम्हारे स्मरण करते ही तत्काल दुःखित प्राणियों के दुःख दूर हो जाते हैं। जैसेः-जो डर से आकुलित हो, युद्ध में जिस के दाँत आदि अङ्ग टूट गये हों, शरीर थर-थर काँपने लग गया हो, आँखें फटसी हो गई हों, जो क्षीण हो गया हो, अचेत हो गया हो या हिचक-हिचक कर बोलने लग गया हो; इसी लिये तुम 'भयपञ्जरकुञ्जर' हो। अतः मेरे भी भयों का विध्वंस करो ॥१०॥

---

* भयविह्वला रणझणद्दशनाः थरहरच्छरीरकाः,
तरलितनयनाः विषण्णाः शून्याः गद्गदगिरः कारुणिकाः।
त्वां सहसैव स्मरन्तो भवन्ति नरा नाशितगुरूदराः,
मम विध्यापय साध्वसानि पार्श्व भयपञ्जरकुञ्जर ॥१०॥

* पइं पासि वियसंतनित्तपत्तंतपवित्तिय,-
बाहपवाहपवूढरूढदुहदाह सुपुलइय ।
मन्नइ मन्नु सउन्नु पुन्नु अप्पाणं सुरनर,
इय तिहुअणआणंदचंद जय पास जिणेसर ॥११॥

अन्वयार्थ—'पइं पासि' तुम्हें देख कर 'वियसंतनित्तपत्तंत-पवित्तियबाहपवाहपवूढरूढदुहदाह' खिले हुए नेत्ररूप पत्तों से निकलती हुई आसुओं की धारा द्वारा धुल गये हैं चिर-संचित दुःख और दाह जिन के, ऐसे [अत एव] 'सुपुलइय सुरनर' पुलकित हुए देव और मनुष्य 'अप्पाणं' अपने-आप को 'मन्नु सउन्नु पुन्नु' मान्य, भाग्यशाली और प्रतिष्ठित 'मन्नइ' मानते हैं, 'इय' इस लिये 'तिहुअणआणंदचंद पास जिणेसर' हे तीन लोक के आनन्द-चन्द्र पार्श्व जिनेश्वर ! 'जय' [तुम्हारी] जय हो ॥११॥

भावार्थ—हे पार्श्व ! क्या सुर और क्या नर, कोई भी जब तुम को देख लेते हैं तो उन की आँखें खिल जाती हैं, उन से आसुओं की धारा बह निकलती है और चित्त पुलकित--प्रफुल्लित हो जाता है । मानो उन आसुओं के द्वारा उन के चिर-सञ्चित दुःख और ताप ही धुल गये हों । अतः दर्शक अपने-आप को भाग्यशाली, मान्य और पुण्यात्मा समझने लगते हैं । इसी लिये तुम 'त्रिभुवन-आनन्द-चन्द्र' हो । हे जिनेश्वर ! तुम्हारी जय हो ॥११॥

* पार्श्वं दृष्ट्वा विकसन्नेत्रपत्रान्तःप्रवर्तित,-
वाष्पप्रवाहप्लावितरूढदुःखदाहाः सुपुलकिताः ।
मन्यन्ते मान्यं सुपुण्यं पुण्यमात्मानं सुरनराः,
इति त्रिभुवनानन्दचन्द्र जय पार्श्व जिनेश्वर ॥ ११ ॥

* तुह कल्लाणमहेसु घंटटंकारऽवपिल्लिय,–
वल्लिरमल्ल महल्लभत्ति सुरवर गंजुल्लिय ।
हल्लुप्फलिय पवत्तयंति भुवणे वि महूसव,
इय तिहुअणआणंदचंद जय पास सुहुब्भव ॥१२॥

अन्वयार्थ—'घंटटंकारवपिल्लिय' घण्टा की आवाज़ से प्रेरित हुए, 'वल्लिरमल्लिय' हिल रही हैं मालाएँ जिन की, ऐसे 'महल्लभत्ति' बड़ी भारी भक्ति वाले [अत एव] 'गंजुल्लिय' रोम-अञ्चित [और] 'हल्लुप्फलिय' हर्ष से प्रफुल्लित 'सुरवर' इन्द्र 'तुह कल्लाणमहेसु' तुम्हारे कल्याण-महोत्सवों पर 'भुवणे वि' इस लोक में भी 'महूसव पवत्तयंति' महोत्सवों को विस्तारते हैं। 'इय' इस लिये 'तिहुअणआणंदचंद सुहुब्भव पास' हे तीनों लोकों को आनन्द उपजाने के लिये चन्द्रमा के समान [और] सुख की खानि पार्श्व ! 'जय' [तुम्हारी] जय हो १२.

भावार्थ—देवेन्द्र तुम्हारे कल्याणकोत्सव पर भक्ति की प्रचुरता से रोमाञ्चित हो जाते हैं, उन की मालाएँ हिलने-जुलने लगती हैं और हर्ष के मारे फूले नहीं समाते। तब वे यहाँ भी महोत्सवों की रचना रचते हैं—भूतलवासियों को भी आनन्दित करते हैं; इसी लिये हे पार्श्व ! तुम्हें 'सुखोद्भव' या 'त्रिभुवन-आनन्द-चन्द्र' कहना चाहिये ॥ १२ ॥

---

* तव कल्याणमहेषु घण्टाटङ्कारात्क्षिप्ताः,
वेल्यमानमाला महाभक्ताः सुरवराः रोमाञ्चिताः ।
हर्षोत्फुल्लिताः [त्वरिताः] प्रवर्त्तयन्ति भुवनेऽपि महोत्सवान्,
इति त्रिभुवनाऽऽनन्दचन्द्र जय पार्श्व सुखोद्भव ॥१२॥

* निम्मलकेवलकिरणनियरविहुरियतमपहयर,
दंसियसयलपयत्थसत्थ वित्थरियपहाभर ।
कलिकलुसियजणघूयलोयलोयणह अगोयर,
तिमिरइ निरु हर पासनाह भुवणत्तयदिणयर ॥१३॥

अन्वयार्थ—'निम्मलकेवलकिरणनियरविहुरियतमपहयर' हे निर्मल केवल [-ज्ञान] की किरणों से अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाले ! 'दंसियसयलपयत्थसत्थ' हे सकल पदार्थों के समूह को देख लैने वाले ! 'वित्थरियपहाभर' हे कान्ति-पुञ्ज को विस्तारने वाले ! [अतएव] 'कलिकलुसियजणघूयलोयलोयणह अगोयर' हे कलिकाल के कलुषित मनुष्यरूप उल्लू लोगों की आँखों से नहीं दीखने वाले ! [अत एव] 'भुवणत्तयदिणयर पासनाह' हे तीनों लोकों के सूर्य पार्श्वनाथ ! 'तिमिरइ निरु हर' अन्धकार को अवश्य विनाशो ॥१३॥

भावार्थ—हे पार्श्वनाथ ! तुम ने अपने निर्मल केवलज्ञान की किरणों से अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया, तमाम पदार्थ-जाल देख लिया, अपने ज्ञान की प्रभा खूब फैलाई, अत एव कलि-काल के रागी-द्वेषी पुरुष आप को पहिचान नहीं सकते; इसी लिये तुम 'भुवनत्रय-दिनकर' हो। अत एव मेरा अज्ञान-अन्धकार दूर करो ॥१३॥

---

* निर्मलकेवलकिरणनिकरविधुरिततमःप्रकर,
दर्शितसकलपदार्थसार्थ विस्तरितप्रभाभर ।
कलिकलुषितजनघूकलोकलोचनानामगोचर,
तिमिराणि निरु हर पार्श्वनाथ भुवनत्रयदिनकर ॥१३॥

* तुह समरणजलवरिससित्त माणवमइमेइणि,
अवरावरसुहुमत्थबोहकंदलदलरेहाणि ।
जाइय फलभरभरिय हरियदुहदाह अणोवम,
इय मइमेइणिवारिवाह दिस पास मइं मम ॥१४॥

अन्वयार्थ—'तुह समरणजलवरिससित्त' तुम्हारे स्मरणरूप जल की वर्षा से सींची हुई 'माणवमइमेइणि' मनुष्यों की मतिरूप मेदिनी—पृथ्वी, 'अवरावरसुहुमत्थबोहकंदलदलरेहाणि' नये-नये सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञानरूप अङ्कुर और पत्रों से शोभित, 'फलभरभरिय' फलों के भार से पूर्ण, 'हरियदुहदाह' दुःख और ताप का नाश करने वाली [अत एव] 'अणोवम' अनुपम—विचित्र 'जाइय' हो जाती है; 'इय' इस लिये 'मइमेइणिवारिवाह पास' हे मतिरूप पृथ्वी के मेघ पार्श्व ! 'मम मइं दिस' मुझे बुद्धि दो ॥१४॥

भावार्थ—जिस तरह जल के बरस जाने पर पृथ्वी पर नये-नये अङ्कुर उग आते हैं, उन पर पत्ते और फूल लग आते हैं, दुःख और ताप मिट जाता है और वह विचित्र हो जाती है; इसी तरह तुम्हारे स्मरण होने पर मनुष्य की मति नये-नये और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान कर लेती है, विरक्ति को प्राप्त करती है, संसार के संकट काटती है और अनुपमता धारण करती है; इसी लिये हे पार्श्व ! तुम 'मतिमेदिनीवारिवाह' हो । मुझे बुद्धि दो ॥१४॥

---

* त्वत्स्मरणजलवर्षसिक्ता मानवमतिमेदिनी,
अपरापरसूक्ष्मार्थबोधकन्दलदलराजी ।
जायते फलभरभरिता हरितदुःखदाहाऽनुपमा,
इति मतिमेदिनीवारिवाह दिश पार्श्व मतिं मम ॥ १४ ॥

‡ कय अविकलकल्लाणवल्लि उल्लूरिय दुहवणु,
दाविय सग्गपवग्गमग्ग दुग्गइगमवारणु ।
जयजंतुह जणएण तुल्ल जं जणिय हियावहु,
रम्मु धम्मु सो जयउ पास जयजंतुपियामहु ॥१५॥

अन्वयार्थ—'जं' जिस के द्वारा 'आविकलकल्लाणवल्लि कय' निरन्तर कल्याण-परंपरा की गई, 'दुहवणु उल्लूरिय' दुःखों का वन नष्ट किया गया, 'सग्गपवग्गमग्ग दाविय' स्वर्ग और अपवर्ग—मोक्ष का मार्ग दिखाया गया, 'हियावहु रम्मु धम्मु जणिय' हितकारी और रमणीक धर्म प्रगट किया गया, 'दुग्गइगमवारणु' [जो] दुर्गति का जाना रोकने वाला [और] 'जयजंतुह जणएणं तुल्ल' जगत् के जन्तुओं का जनक—पिता के बराबर है [अत एव] 'जयजंतुपियामह' जगत् के जन्तुओं का पितामह है, 'सो पास जयउ' वह पार्श्व जयवन्त रहे ॥१५॥

भावार्थ—वह पार्श्व प्रभु संसार में विशेषरूप से वर्तमान रहे कि जिस ने जीवों का निरन्तर कल्याणों के ऊपर कल्याण किया, दुःख मेटे, स्वर्ग और मोक्ष का रास्ता बताया, दुर्गति जाते हुए जीवों को रोका, अत एव जिस ने पिता की तरह जीवों का पालन-पोषण किया, सुखकर और हितकर धर्म का उपदेश दिया, इसी लिये जो 'जगज्जन्तुपितामह' साबित हुआ ॥१५॥

---

‡ कृताऽविकलकल्याणवल्लिरुच्छिन्नो दुःखवनः,
दर्शितस्स्वर्गाऽपवर्गमार्गो दुर्गतिगमनवारणः ।
जगज्जन्तूनां जनकेन तुल्यो येन जनितो हितावहः,
रम्यो धर्मस्स जयतु पार्श्वो जगज्जन्तुपितामहः ॥१५॥

* भुवणारण्णनिवास दरिय परदरिसणदेवय,
जोइणिपूयणखित्तवालखुद्दासुरपसुवय ।
तुह उत्तट्ठ सुनट्ठ सुट्ठु अविसंठु चिट्ठहि,
इय तिहुअणवणसीह पास पावाइ पणासहि ॥१६॥

अन्वयार्थ—'भुवणारण्णनिवास' जगत् रूप वन में रहने वाले 'दरिय' अभिमानी 'परदरिसणदेवय' और-और मत के देवता [तथा] 'जोइणिपूयणखित्तवालखुद्दासुरपसुवय' योगिनी, पूतना, क्षेत्रपाल तथा क्षुद्र असुर-रूप पशुओं के झुंड 'तुह' तुम से 'उत्तट्ठ' घबड़ाये; 'सुनट्ठ' भागे [और] 'अविसंठु सुट्ठु चिट्ठहिं' निश्चय ही खूब सावधान हो कर रहे, 'इय' इस लिये 'तिहुअणवणसीह पास, हे तीन लोकरूप वन के सिंह पार्श्व! 'पावाइ पणासहिं' [मेरे] पापों को नष्ट करो ॥१६॥

भावार्थ—संसाररूप वन में रहने वाले मदोन्मत्त परदेवता—बुद्ध आदि और जोगिनी, पूतना, क्षेत्रपाल और तुच्छ असुर-रूप पशु गण तुम्हारे डर के मारे बेचारे घबड़ाये, भागे और बड़ी हुशियारी से रहने लगे; इसी लिये तुम 'त्रिभुवन-वन-सिंह' हो। मेरे पापों को दूर करो ॥१६॥

---

* भुवनाऽरण्यनिवासा दृप्ताः परदर्शनदेवताः,
योगिनीपूतनाक्षेत्रपालक्षुद्रासुरपशुव्रजाः ।
त्वदुत्त्रस्तास्सुनष्टास्सुष्ठ्वविसंष्ठुलं तिष्ठन्ति,
इति त्रिभुवनवनसिंह पार्श्व पापानि प्रणाशय ॥१६॥

* फणिफणफारफुरंतरयणकररंजियनहयल,
फलिणीकंदलदलतमालनीलुप्पलसामल ।
कमठासुरउवसग्गवग्गसंसग्गअगंजिय,
जय पच्चक्खजिणेस पास थंभणयपुरट्ठिय ॥१७॥

अन्वयार्थ—'फणिफणफारफुरंतरयणकररंजियनहयल' धरणेन्द्र के फण में देदीप्यमान रत्नों की किरणों से रँगे हुए आकाश में 'फलिणीकंदलदलतमालनीलुप्पलसामल' प्रियङ्गु के अङ्कुर तथा पत्तों की, तमाल की और काले कमल की तरह श्यामल, [तथा] 'कमठासुरउवसग्गवग्गसंसग्गअगंजिय' कमठ असुर के द्वारा किये गये अनेक उपसर्गों को जीत लेने वाले, 'थंभणयपुरट्ठिय पच्चक्खजिणेस पास' हे स्तम्भनकपुर में विराजमान प्रत्यक्ष-जिनेश पार्श्व ! 'जय' [तुम्हारी] जय हो ॥१७॥

भावार्थ--पार्श्व प्रभु ने जब कि 'कमठ' नामक असुर के उपसर्गों को सहा तब भक्ति-वश धरेणन्द्र उन के संकटों को निवारण करने के लिये आया। उस समय धरणेन्द्र की फणी में लगी हुई मणियों के प्रकाश में भगवान् के देह की कान्ति ऐसी मालूम होती थी, मानों ये प्रियङ्गु नामक लता के अङ्कुर तथा पत्ते हैं या तमाल वृक्ष और नीले कमल हैं, ऐसे हे स्तम्भनकपुर में विराजमान और प्रत्यक्षीभूत पार्श्व जिन ! तुम जयवन्त रहो ॥१७॥

---

* फणिफणस्फारस्फुरद्रत्नकररञ्जितनभस्तले,
फलिनीकन्दलदलतमालनीलोत्पलश्यामल ।
कमठासुरोपसर्गवर्गसंसर्गाऽगञ्जित,
जय प्रत्यक्षजिनेश पार्श्व स्तम्भनकपुरस्थित ॥ १७ ॥

* मह मणु तरलु पमाणु नेय वाया वि विसंट्ठुलु,
न य तणुरऽवि अविणयसहावु आलसविहलंथलु ।
तुह माहप्पु पमाणु देव कारुण्णपवित्तउ,
इय मइ मा अवहीरि पास पालिहि विलवंतउ ॥१८॥

अन्वयार्थ—'मह मणु' मेरा मन 'तरलु' चञ्चल है [अतः] 'पमाणु नेय' प्रमाण नहीं है, 'वाया वि विसंट्ठुलु' वाणी भी चल-विचल है 'तणुरवि' शरीर भी 'अविणयसहावु' अविनय स्वभाव वाला है [तथा] 'आलसविहलंथलु' आलस्य से परवश है [अतः] 'पमाणु न य' [वह भी] प्रमाण नहीं है, [किन्तु] 'तुह माहप्पु' तुम्हारा माहात्म्य 'पमाणु' प्रमाण है । 'इय' इस लिये 'पास देव' हे पार्श्व देव! 'कारुण्णपवित्तउ' दया-युक्त और 'विलवंतउ' रोते हुए 'मइ' मुझ को 'पालिहि' पालो [और] 'मा अवहीरि' [मेरी] अवहेलना मत करो ॥१८॥

भावार्थ—हे पार्श्व देव ! मेरा मन चञ्चल है, बोली अव्य-वस्थित है और शरीर का तो स्वभाव ही अविनयरूप है तथा आलस्य के वशीभूत है, इस लिये ये कोई प्रमाण नहीं हैं; प्रमाण है, तुम्हारा माहात्म्य । मैं रो रहा हूँ, अत एव दया का पात्र हूँ । तुम मेरी अवहेलना मत करो, बल्कि रक्षा करो ॥ १८ ॥

---

* मम मनस्तरलं प्रमाणं नैव वागपि विसंष्टुला,
न च तनुरप्यविनयस्वभावाऽऽलस्यविशृङ्खला ।
तव माहात्म्यं प्रमाणं देव कारुण्यपवित्रम्,
इति माम्मा अवधीरय पार्श्व पालय विलपन्तम् ॥१८॥

* किं किं कप्पिउ न य कलुणु किं किं व न जंपिउ,
किं व न चिट्ठिउ किट्ठु देव दीणयमऽवलंबिउ ।
कासु न किय निप्फल्ल लल्लि अम्हेहि दुहत्तिहि,
तह वि न पत्तउ ताणु किं पि पइ पहुपरिचत्तिहि ॥१९॥

अन्वयार्थ—'पइ पहुपरिचत्तिहि' तुम-सरीखे प्रभु को छोड़ देने वाले 'दुहत्तिहि अम्हेहि' दुःखों से व्याकुलित हमारे द्वारा 'दीणयमवलंबिउ' दीनता का अवलम्बन करके 'किं किं न य कप्पिउ' क्या-क्या कल्पित नहीं किया गया, 'किं किं व कलुणु न जंपिउ' क्या-क्या करुणारूप बका नहीं गया, 'किं व किट्ठु न चिट्ठिउ' क्या-क्या क्लेशरूप चेयष्टा नही की गई [और] 'कासु' किन के सामने 'निप्फल्ल लल्लि न किय' व्यर्थ लल्लो-चप्पो नहीं की गई; 'तह वि' तौ भी 'किं पि' कुछ भी 'ताणु न पत्तउ' शरण न पाई ॥ १९ ॥

भावार्थ—हे देव ! तुम को छोड़ कर और दुःखों को पा कर मैं ने क्या-क्या तो मन में कल्पनाएँ न कीं, वाणी से क्या-क्या दीन वचन न बोले, क्या-क्या शरीर के क्लेश न उठाये और किस-किस की लल्लो-चप्पो न की; लेकिन सब निष्फल गईं और कुछ भी परवरिश न पाई ॥१९॥

---

* किं किं कल्पितं न च करुणं किं किं वा न जल्पितं,
किं वा न चेष्टितं क्लिष्टं देव दीनतामवलम्ब्य ।
कस्य न कृता निष्फला लल्ली अस्माभिर्दुःखार्त्तैः,
तथाऽपि न प्राप्तं त्राणं किमपि पते प्रभुपरित्यक्तैः ॥ १९ ॥

* तुहु सामिउ तुहु मायबप्पु तुहु मित्त पियंकरु,
तुहुँ गइ तुहु मइ तुहुजि ताणु तुहु गुरु खेमंकरु ।
हउँ दुहभरभारिउ वराउ राउ निब्भग्गह,
लीणउ तुह कमकमलसरणु जिण पालहि चंगह ॥२०॥

अन्वयार्थ—'तुहु सामिउ' तुम मालिक हो, 'तुहु मायबप्पु' तुम माई-बाप हो, 'तुहु पियंकरु मित्त' तुम प्यारे मित्र हो, 'तुहु गइ' तुम गति हो, 'तुहु मइ' तुम मति हो, 'तुहु खेमंकरु गुरु' तुम कल्याणकारी गुरु हो [और] 'तुहुजि ताणु' तुम ही रक्षक हो । 'हउँ' मैं 'दुहभरभारिउ' दुःखों के बोझ से दबा हुआ हूँ, 'वराउ' क्षुद्र हूँ [और] 'चंगह निब्भग्गह राउ' उत्कृष्ट भाग्य-हीनों का राजा हूँ; [परन्तु] 'तुह' तुम्हारे 'कमकमलसरणु लीनउ' चरण-कमल की शरण में आ गया हूँ [अतः] 'जिन' हे जिन ! 'पालहि' [मेरी] रक्षा करो ॥ २० ॥

भावार्थ—हे जिन ! तुम मालिक हो, तुम मा-बाप हो, तुम प्यारे मित्र हो, तुम से सुगति और सुमति प्राप्त होती हैं, तुम रक्षक हो और तुम ही कल्याण करने वाले गुरु हो । मैं दुःखों से पीड़ित हूँ और बड़े से बड़े हतभाग्यों में शिरोमणि हूँ; पर तुम्हारे चरण-कमलों की शरण में आ पड़ा हूँ; इस लिये मेरी रक्षा करो ॥२०॥

---

* त्वं स्वामी त्वं मातृपित्रौ त्वं मित्रं प्रियंकरः,
त्वं गतिस्त्वं मतिस्त्वमेव त्राणं त्वं गुरुः क्षेमंकरः ।
अहं दुःखभरभारितो वराकः राजा निर्भाग्यानां,
लीनस्तव क्रमकमलशरणं जिन पालय चङ्गानाम् ॥ २० ॥

† पइ कि वि कय नीरोय लोय कि वि पावियसुहसय,
कि वि मइमंत महंत के वि कि वि साहियसिवपय।
कि वि गंजियरिउवग्ग के वि जसधवलियभूयल,
मइ अवहीरहि केण पास सरणागयवच्छल ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—'पइ' तुम्हारे द्वारा 'कि वि लोय नीरोय कय' कितने ही प्राणी नीरोग किये गये, 'कि वि पावियसुहसय' कितनेकों को सैकड़ों सुख मिले, 'कि वि मइमंत' कितने ही बुद्धिमान् हुए 'के वि महंत' कितने ही बड़े हुए 'कि वि साहियसिवपय' कितनेक सिद्ध-दशा को पहुँचे, 'कि वि गंजियरिउवग्ग' कितनेकों के शत्रु-गण नष्ट हुए, 'के वि जसधवलियभूयल' कितनेकों के यश से पृथ्वी स्वच्छ हुई, [पर] 'सरणागयवच्छल पास' हे शरण-आगत-वत्सल पार्श्व! 'मइ केण अवहीरहि' मेरी अवहेलना किस कारण से कर रहे हो ॥२१॥

भावार्थ—हे पार्श्व! तुम से लोगों ने नीरोगता प्राप्त की, सैकड़ों सुख पाये, बुद्धिमत्ता और महत्ता प्राप्त की, मोक्ष-पद प्राप्त किया, अपने वैरियों को हराया और समस्त पृथ्वी पर अपना यश फैलाया; किं बहुना, तुम तो शरण में आये हुए जीवों को अपनाने वाले हो—उन की कुल आकाङ्क्षाओं को पूर्ण करने वाले हो तो फिर मेरी उपेक्षा किस वजह से की? ॥२१॥

---

† पत्या केऽपि कृता नीरोगा लोकाः केऽपि प्रापितसुखशताः,
कऽपि मतिमन्तो महान्तः केऽपि केऽपि साधिताशिवपदाः।
केऽपि गञ्जितरिपुवर्गाः केऽपि यशोधवलितभूतलाः,
मामवधारयीस कने पार्श्व शरणाऽऽगतवत्सल ॥२१॥

* पच्चुवयारनिरीह नाह निप्पन्नपओयण,
तुह जिणपास परोवयारकरणिक्कपरायण ।
सतुमित्तसमचित्तवित्ति नयनिंदयसममण,
मा अवहीरि अजुग्गओ वि मइ पास निरंजण ॥२२॥

अन्वयार्थ—'पच्चुवयारनिरीह नाह' उपकार का बदला न चाहने वाले हे नाथ ! 'निप्पन्नपओयण' सब प्रयोजनों को सिद्ध कर चुकने वाले [और] 'परोवयारकरणिक्कपरायण' जिणपास' दूसरों की भलाई करने के लिये अद्वितीय तत्पर हे जिनपार्श्व ! 'सत्तुमित्तसमाचित्तवित्ति' दुश्मन और दोस्त को बराबर समझने वाले, 'नयनिंदयसममण' नमस्कार और निन्दा करने वाले पर एकसा भाव रखने वाले [और] 'निरंजन पास' निष्पाप हे पार्श्व ! 'तुह' तुम 'अजुग्गओ वि मइ' मुझ नालायक की भी 'मा अवहीरय' उपेक्षा मत करो ॥२२॥

भावार्थ—हे नाथ ! तुम दूसरों की भलाई करके उस के बदले की अभिलाषा नहीं करते हो, तुम ने अपना पुरुषार्थ सिद्ध कर लिया है, तुम परोपकार करने में हमेशा लगे रहते हो, तुम अपने शत्रु को भी मित्र की तरह और निन्दक को भी प्रशंसक की तरह देखते हो और निष्पाप हो । अतः हे पार्श्व जिन ! तो फिर अगर मैं नालायक भी हूँ तो भी मेरी अवहेलना मत करो ॥२२॥

---

* प्रत्युपकारनिरीह नाथ निष्पन्नप्रयोजन,
त्वं जिनपार्श्व परोपकारकरणैकपरायण ।
शत्रुमित्रसमचित्तवृत्ते नतानिन्दकसममनः,
अवधारयीऽयोग्यमपि मां पार्श्व निरञ्जन ॥२२॥

+ हउँ बहुविहदुहतत्तगत्तु तुह दुहनासणपरु,
हउँ सुयणह करुणिक्कठाणु तुह निरु करुणायरु।
हउँ जिण पास असामिसालु तुहु तिहुअणसामिय,
जं अवहीरहि मइ झखंत इय पास न सोहिय ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—'हउँ' मैं 'बहुविहदुहतत्तगत्तु' अनेक प्रकार के दुःखों से तप्त शरीर वाला हूँ, 'तुह' तुम 'दुहनासणपरु' दुःखों के नाश करने में तत्पर हो; 'हउँ' मैं 'सुयणह करुणिक्कठाणु' सज्जनों की करुणा का पात्र हूँ, 'तुह' तुम 'निरु करुणायरु' निश्चय से करुणा की खानि हो; 'पास जिण' हे पार्श्व जिन! 'हउँ' मैं 'असामिसालु' अनाथ हूँ, 'तुह' तुम 'तिहुअणसामिय' तीनों भुवनों के स्वामी हो; 'झखंत मइ' विलाप करते हुए मेरी 'जं अवहीरहि' जो उपेक्षा करते हो 'पास' हे पार्श्व! 'इय' यह 'न सोहिय' [तुम्हें] शोभा नहीं देता ॥२३॥

भावार्थ—हे पार्श्व जिन! मेरा शरीर अनेक प्रकार के दुःखों से दुःखित है और तुम दुःखों के नाश करने में तत्पर रहते हो, मैं सज्जन पुरुषों की दया का पात्र हूँ और तुम दया के आकर हो, मैं अनाथ हूँ और तुम त्रिलोकीनाथ हो; इस लिये मुझ को रोते हुए छोड़ देना, यह तुम्हें हरगिज़ शोभा नहीं देता ॥२३॥

+ अहं बहुविधदुःखतप्तगात्रस्त्वं दुःखनाशनपरः,
अहं सुजनानां करुणैकस्थानं त्वं निश्चितं करुणाकरः।
अहं जिनपार्श्व अस्वामिशालस्त्वं त्रिभुवनस्वामी,
यदवधीरयसि मां विलपन्तमिदं पार्श्व न शोभितम् ॥२३॥

† जुग्गाऽजुग्गविभाग नाह न हु जोयहि तुह सम,
भुवणुवयारसहावभाव करुणारससत्तम ।
समविसमइं किं घणु नियइ भुवि दाह समंतउ,
इय दुहिबंधव पासनाह मइ पाल थुणंतउ ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—'नाह' हे स्वामिन्! 'तुह सम' तुम-सरीखे 'जुग्गाजुग्गविभाग' लायक-नालायक का हिसाब 'न हु जोयहि' नहीं देखते हैं, 'भुवणुवयारसहावभाव' जगत् का उपकार करने के स्वभाव वाले 'करुणारससत्तम' हे दयाभाव से उत्तम! 'भुवि दाह समंतउ' पृथ्वी के आताप को शान्त करता हुआ 'घणु' मेघ 'किं समविसमइं नियइ' क्या अधिक-नीचा देखता है? 'इय' इस लिये 'दुहिबंधव पासनाह' हे दुःखियों के हितैषी पार्श्वनाथ! 'थुणंतउ मइ पाल' स्तवन करते हुए मेरी रक्षा करो।२४।

भावार्थ—हे नाथ! आप-सरीखे सत्पुरुष यह नहीं देखते कि यह जीव उपकार करने के लायक और यह नालायक; क्योंकि जगत् के उपकार करने का आप का स्वभाव है। इस दया भाव से ही आप इतने उच्च बने हैं। अरे पानी बरसाने के लिये क्या बादल भी कभी यह सोचता है कि यह जगह एकसी और यह ऊँची-नीची? इस लिये हे पार्श्वनाथ! मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरी रक्षा करें; क्योंकि आप दुःखियों के बन्धु हैं ॥२४॥

---

† योग्याऽयोग्यविभागं नाथ न खलु गवेषयन्ति त्वत्समाः,
भुवनोपकारस्वभावभाव करुणारससत्तम ।
समविषमाणि किं घनः पश्यति भुवि दाहं शमयन्,
इति दुःखिबान्धव पार्श्वनाथ मां पालय स्तुवन्तम् ॥२४॥

* न य दीणह दीणयु मुयवि अन्नु वि कि वि जुग्गय,
जं जोइवि उवयारु करहि उवयारसमुज्जय।
दीणह दीणु निहीणु जेण तइ नाहिण चत्तउ,
तो जुग्गउ अहमेव पास पालहि मइ चंगउ ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—'दीणह जुग्गय' दीनों की योग्यता 'दीणयु मुयवि' दीनता को छोड़ कर 'अन्नु वि कि वि न य' और कुछ भी नहीं है, 'जं जोइवि' जिसे देख कर 'उवयारसमुज्जय' उपकार-तत्पर पुरुष 'उवयारु करहि' उपकार करते हैं। [मैं] 'दीणह दीणु' दीनों से भी दीन हूँ [और] 'निहीणु' निर्बल हूँ, 'जेण' जिस से कि 'तइ नाहिण चत्तउ' तुम [सरीखे] नाथ ने छोड़ दिया हूँ; 'तो' इस लिये 'पास' हे पार्श्व! 'जुग्गउ अहमेव' योग्य मैं ही हूँ, 'चंगउ मइ पालहि' जैसे बने वैसे मेरी रक्षा करो ॥२५॥

भावार्थ—हे पार्श्व! दीनता को छोड़ कर दीनों की योग्यता और कुछ भी नही है, जिसे देख कर उपकारी लोग उपकार करते हैं। मैं दीनों से दीन और निहायत निस्सत्त्व पुरुष हूँ, शायद इसी लिये तुम ने मुझे छोड़ दिया है। पर मैं इसी वजह से उपकार के योग्य हूँ; अतः जैसे बने वैसे मुझे पालो ॥२५॥

* न च दीनानां दीनतां मुक्त्वाऽन्याऽपि काचिद्योग्यता,
यां गवेषयित्वोपकारं कुर्वन्त्युपकारसमुद्यताः।
दीनेभ्यो दीनो निहीनो येन त्वया नाथेन त्यक्तः,
ततो योग्योऽहमेव पार्श्व पालय मां चङ्गम् ॥२५॥

* अह अन्नु वि जुग्गयविसेसु कि वि मन्नहि दीणह,
जं पासिवि उवयारु करइ तुह नाह समग्गह ।
सुच्चिय किल कल्लाणु जेण जिण तुम्ह पसीयह,
किं अन्निण तं च्चेव देव मा मइ अवहीरह ॥२६॥

अन्वयार्थ—'समग्गह नाह' हे विश्वनाथ ! 'अह' अगर 'तुह' तुम 'कि वि अन्न वि' कोई और 'दीणह' दीनों की 'जुग्गयविसेसु मन्नहि' योग्यता-विशेष मानते हो, 'जं पासिवि' जिसे देख कर 'उवयारु करइ' उपकार करते हो [और] 'जेण' जिस से 'जिण' हे जिन ! 'तुम्ह पसीयह' तुम प्रसन्न होते हो, 'सुच्चिय किल कल्लाणु' [तो] वही कल्याणकारी होगी [तो] 'देव' हे देव ! 'किं अन्निण' और से क्या ? 'तं च्चेव' वही [करो और] 'मइ मा अवहीरह' मेरी अवहेलना मत करो ॥२६॥

भावार्थ—हे विश्वनाथ ! अगर तुम दीनों की और कोई योग्यता-विशेष मानते हो कि जिसे देख कर उपकार करते हो, तो हे जिन ! प्रसन्न होओ और वही (रत्नत्रय) मुझ में पैदा करो, वही कल्याणकारी है और से क्या मतलब ? हे देव ! मेरी उपेक्षा मत करो ॥२६॥

---

* अथाऽन्यमपि योग्यताविशेषं कमपि मन्यसे दीनानां,
यं दृष्ट्वोपकारं करोषि त्वं नाथ समग्राणाम् ।
स एव किल कल्याणकारी येन जिन यूयं प्रसीदथ,
किमन्येन तं चैव देव मा मामवधीरयत ॥ २६ ॥

* तुह पच्छण न हु होइ विहलु जिण जाणउ किं पुण,
हउँ दुक्खिय निरु सत्तचत्त दुक्कहु उस्सुयमण।
तं मन्नउ निमिसेण एउ एउ वि जइ लब्भइ,
सच्चं जं भुक्खियवसेण किं उंबरु पच्चइ ॥२७॥

अन्वयार्थ—'जिण' हे जिन! 'जाणउ' [मैं] जानता हूँ कि 'तुह पच्छण' तुम से की गई प्रार्थना 'हु' नियम से 'विहलु न होइ' निष्फल नहीं होती। 'हउँ' मैं 'निरु' अवश्य 'दुक्खिय' दुःखित 'सत्तचत्त' शक्ति-रहित 'दुक्कहु' बदशकल और 'उस्सुयमण' उत्सुक हूँ, 'तं' इस वजह से 'जइ मन्नउ' अगर [मैं यह] मानता हूँ कि 'निमिसेण' पलक मारते ही 'एउ एउ वि लब्भइ' अमुक-अमुक प्राप्त होवे 'किं पुण' तो फिर क्या हुआ? 'सच्चं जं' यह सत्य है कि 'भुक्खियवसेण' भूँख की वजह से 'किं उंबरु पच्चइ' क्या उदम्बर पकता है? ॥२७॥

भावार्थ—हे जिन! मैं यह जानता हूँ कि आप से की गई प्रार्थना व्यर्थ नहीं जा सकती, तो भी मैं दुःखित हूँ, निर्बल हूँ और फल-प्राप्ति का अतिशय लोलुपी हूँ; इस लिये अगर यह समझूँ कि मुझे अमुक-अमुक फल अभी हाल मिले जाते हैं, तो इस में क्या आश्चर्य? हाँ! यह ठीक है कि भूँख की वजह से उदम्बर जल्दी थोड़े ही पक सकते हैं? ॥२७॥

---

* तव प्रार्थना न खलु भवति विफला जिन जानामि किं पुनः,
अहं दुःखितो निश्चितो सत्वत्यक्तोऽरोचक्युत्सुकमनाः।
तेन मन्ये निमेषेणेदमिदमपि यदि लभ्यते,
सत्यं यद्बुभुक्षितवशेन किमुदम्बरः पच्यते ॥२७॥

* तिहुअणसामिय पासनाह मइ अप्पु पयासिउ,
किज्जउ जं नियरूवसरिसु न मुणउ बहु जंपिउ ।
अन्नु न जिण जग तुह समो वि दक्खिन्नुदयासउ,
जइ अवगन्नसि तुह जि अहह कह होसु हयासउ ॥२८॥

अन्वयार्थ—'तिहुअणसामिय पासनाह' हे तीन लोक के मालिक पार्श्वनाथ ! 'मइ' मेरे द्वारा 'अप्पु पयासिउ' आत्मा प्रकाशित किया गया; 'जं' इस लिये 'नियरूवसरिसु किज्जउ' [तुम मुझे] अपनासा कर लो, 'बहु जंपिउ' बहुत बकना 'न मुणउ' [मैं नहीं जानता। 'जिण' हे जिन ! 'जग' संसार में 'दक्खिन्नु-दयासउ' उदारता [और] दया का स्थान 'तुह समो वि' तुम्हारे बराबर भी 'अन्नु न' और नहीं है। 'तुह जि' तुम ही 'जइ' अगर 'अवगन्नसि' [मुझे कुछ] न गिनोगे [तो] 'अहह' हा ! 'कह हयासउ होसु' [मैं] कैसा हताश होऊँगा ॥२८॥

भावार्थ—हे तीन लोक के नाथ पार्श्वनाथ ! मैं ने आप के सामने अपना हिया खोल दिया, अब मुझे आप अपने समान बना लीजिये, बस और मैं कुछ नही कहना चाहता। हे जिन ! दयालु तो आप इतने हैं कि अधिक की तो बात क्या? संसार में आप के बराबर भी कोई नहीं है। फिर आप ही मेरी उपेक्षा करेंगे तो हा ! मैं कैसा हताश न हो जाऊँगा ॥२८॥

---

* त्रिभुवनस्वामिन् पार्श्वनाथ मयात्मा प्रकाशितः,
क्रियतां यन्निजरूपसदृश न जानामि बहु जल्पितम् ।
अन्यो न जिन जगति त्वत्समोऽपि दाक्षिण्यदयाश्रयः,
यद्यवगणयिष्यसि त्वमेवाऽहह कथं भविष्यामि हताशकः ॥२८॥

* जइ तुह रूविण किण वि पेयपाइण वेलवियउ,
तु वि जाणउ जिण पास तुम्हि हउँ अंगीकिरिउ ।
इय मह इच्छिउ जं न होइ सा तुह ओहावणु,
रक्खंतह नियकित्ति णेय जुज्जइ अवहीरणु ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—'जिण' हे जिन! 'जइ' यद्यपि 'तुह रूविण' तुम्हारे रूप में 'किणं वि पेयपाइण' शायद किसी प्रेत ने 'वेलवियउ' [मुझे] ठग लिया है, 'तु वि' तो भी "जाणउ' [मैं यही] जानता हूँ कि 'हउँ' मैं 'तुम्हि अंगीकिरिउ' तुम ही से स्वीकार किया गया हूँ, 'पास' हे पार्श्व! 'मह इच्छिउ' मेरा मनोरथ 'जं न होइ' अगर सिद्ध न हुआ [तो] 'सा' यह 'तुह ओहावणु' तुम्हारी लघुता है; 'इय' इस लिये 'नियकित्ति रक्खंतह' अपनी कीर्ति की रक्षा करो, 'अवहीरणु णेय जुज्जइ' अवहेलना करना युक्त नही है ॥२९॥

भावार्थ—हे जिन! यद्यपि आप के रूप में मुझे किसी प्रेत आदि ने ही दर्शन दिया है, लेकिन मैं यही जानता हूँ कि मुझे आप ने ही स्वीकार किया है; इस लिये अगर मेरा मनोरथ सफल न हुआ तो इस में आप की ही लघुता है। अतः आप अपनी कीर्ति की रक्षा कीजिये, मेरी अवहेलना करना ठीक नही है ॥२९॥

---

* यदि त्वद्रूपेण केनाऽपि प्रेतप्रायेण वञ्चितः,
तथापि जानामि जिन पार्श्व युष्माभिरहमङ्गीकृतः ।
इति ममेप्सितं यन्न भवति सा तवाऽपहापना,
रक्षन्तु निजकीर्तिं नैव युज्यतेऽवधीरणा ॥२९॥

* एह महारिय जत्त देव इहु न्हवणमहूसउ,
जं अणलियगुणगहण तुम्ह मुणिजणअणिसिद्धउ ।
एम पसीह सुपासनाह थंभणयपुरट्ठिय,
इय मुणिवरु सिरिअभयदेउ विन्नवइ अणिंदिय ॥३०॥

अन्वयार्थ—'देव' हे देव! 'एह महारिय जत्त' यह मेरी यात्रा; 'इहु न्हवणमहूसउ' यह स्नान-महोत्सव [और] 'तुम्ह' तुम्हारा 'अणलियगुणगहण' यथार्थ गुणों का गान, 'जं' जो कि 'मुणिजणअणिसिद्धउ' मुनि-जनों से प्रशंसित है, [किया।] 'एम' इस लिये 'थंभणयपुरट्ठिय सुपासनाह' हे स्तम्भनकपुर में विराजमान श्रीपार्श्वनाथ! 'पसीह' [मुझ पर] प्रसन्न होओ, 'इय' यह 'मुणिवरु सिरिअभयदेव' मुनियों में श्रेष्ठ श्रीअभयदेव, 'अणिंदिय' [जो कि जगत् से] प्रशंसित है, 'विन्नवइ' प्रार्थना करता है ॥३०॥

भावार्थ—हे देव! तुम्हारी यह यात्रा, यह अभिषेक-महोत्सव और यह स्तवन, जिस में कि यथार्थ गुण वर्णन किये गये हैं और जो मुनियों से भी प्रशंसा प्राप्त करने के लायक है, मैं ने किया; इस लिये हे स्तम्भनपुर-स्थित पार्श्व प्रभो! प्रसन्न होओ; यह, लोक-पूजित साधु-प्रवर श्रीअभयदेव सूरि विज्ञप्ति करता है ॥३०॥

---

* एषा मदीया यात्रा देव एष स्नानमहोत्सवः,
यदनलीकगुणग्रहणं युष्माकं मुनिजनाऽनिषिद्धम् ।
एवं प्रसीद श्रीपार्श्वनाथ स्तम्भनकपुरस्थित,
इति मुनिवरः श्रीअभयदेवो विज्ञपयत्यनिन्दितः ॥३०॥

शुद्धिपत्र ।

अशुद्धि§ ।	शुद्धि ।	पृष्ठ ।	पङ्क्ति‡ ।
होई	होइ	१६	१
'होई'	'होइ'	१६	१३
मिच्छामि	मिच्छा मि	२०	४
'निच्चं'	'निच्च'	२४	५
कर्म भूमियों में	कर्मभूमियों में	२४	८
स्थिति	स्थित	२५	७
आदि नाथ	आदिनाथ	२६	८
पातल	पाताल	२७	७
अर्हद्र्यो	अर्हद्भ्यो	२८	७
आदिकरेभ्य स्तीर्थकरेभ्यः	आदिकरेभ्यस्तीर्थकरेभ्यः	२८	७
भगवं-ताणं	भगवंताणं	२६	२
०दयेभ्यः धर्म०	०दयेभ्यः धर्मदयेभ्यः धर्मदेशकेभ्यः धर्म०	२९	१
नामघेयं	नामधेयं	३१	५
अइआ	अइआ	३१	१

‡ अशुद्धि, जिस टाईप की हो; पङ्क्तियाँ, उसी टाईप की गिननी चाहिए, औरों को छोड़ देनी चाहिए ।

§ कई जगह मशीन की रगड़ से मात्राएँ खिसक गई हैं और अक्षर उड़ गये हैं, ऐसी अशुद्धियाँ किसी२ प्रति में हैं और किसी२ में नहीं भी हैं, उन में से मोटी२ अशुद्धियाँ भी यहाँ ले ली गई हैं।

उद्धे	उड्ढे	३३	१
पातल	पाताल	३३	१५
त्रिविधेन	त्रिविधेन	३४	३
वदामि	वंदामि	३५	२
अधार	आधार	३६	१०
भावर्थ	भावार्थ	३७	३रे श्लोक का
सम्मते	सम्मत्ते	३७	३
भवार्थ	भावार्थ	३८	५वें श्लोक का
०णुसारिआ	०णुसारिआ	३६	२
मग्गणुसारिआ	मग्गाणुसारिआ	३६	४
हरिभद्रासूरि	हरिभद्रसूरि	३९	६
मार्गानुसरिता	मार्गानुसारिता	३६	१०
वीराय	वीयराय	४१	शीर्षक में
जड़	जड़,	४२	३
तत्व-चिंतन	तत्त्व-चिन्तन	४३	४
समुपाद्दरं	समुद्दपारं	४४	३
०मग्गेवर०	०मग्गे वर०	४५	१
०कुवाई०	०कुवाइ०	४५	१२
को । तोड़ने	को तोड़ने	४५	१३
साम्यग्ज्ञान	सम्यग्ज्ञान	४६	३
सम्मक्	सम्यक्	४६	३
'वाएसिरि'	'वाएसिरी'	४६	१३

०हरणेसमीरं	०हरणे समीरं	४७	१
—हरणे—	—हरणे	४७	७
संभार सारे	संभारसारे	५१	१
लोल	'लोल'	५१	२
[श्रुत कौ]	[श्रुत]को	५३	६
नें	ने	५५	१४
सिद्धेम्यों	सिद्धेभ्यो	५६	६
कों	को	६१	२
विमक्ति	विभक्ति	६१	३
दूध्यातो	दुध्यातो	६२	५
०रियवीरियारे	०रे य वीरियायारे	६४	१
आद	आदि	६६	२
बाह	बाहर	७४	१३
मन	मैं ने	८०	७
सावद्य—आरम्भ	सावद्य आरम्भ	८३	१६
भस	भेस	८६	१०
०ऽत्रप्र०	०ऽत्र प्र०	८८	६
,,	,, ,,	९०	२
,,	,, ,,	९२	२
,,	,, ,,	९६	३
कुक्कइए	कुक्कुइए	१०५	५
,,	,,	१०५	७
पासेहोववासस्स	पोसहोववासस्स	११०	१
सथारए	संथारए	११०	४
तच्च	तव्व	११३	२

शिद्दा	शिद्दा के	११६	१
'नि'	'न'	११८	६
भवन्ति	भवति	१२१	७
तन्निन्दामि	तां निन्दामि	१२१	४
तञ्च	ताञ्च	१२१	४
सर्व	सर्वे	१२५	१
०ल्लूल्लूरणु	०ल्लुल्लूरणु	१४६	५
जिट्ट सुजिट्ट	जिट्ठ सुजिट्ठ	१५३	४
हाइ	होइ	१६६	२
वरकारणो	वरकाणो	१७०	८
पौषध प्रतिमा	पौषधप्रतिमा	१७४	२
०प्याहराम्	०प्याहारम्	१७५	१
अवट्ट	अवड्ढ	१७७	२
पुरिमड्ढ	पुरिमड्ढ	१७७	२
०विवकन	०विवेकेन	१८०	१
पच्चक्ख	पच्चक्खाइ	१८३	५

☞ इस पुस्तक के मिलने के पतेः—

१—श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल,

रोशनमुहल्ला, आगरा।

२—श्रीबाहादुरसिंहजी सिंघी,

पोर्च्युगीज़ चर्च स्ट्रीट नं० २, कलकत्ता।

३८		मण	रमणः
२४०	१९	चित्र	चिह्न
२४२	२	मूलमने	मूलने
२५१	६	सब्भोव	सब्भावे,
२५४	१५	रण के और	रण और
२५५	१२	महिअ	महिअं
२६०	१०	पुरु	पुर
२६१	९	संतिएणं	संतिण्णं
२७४	२०	वतौ	वतस्तौ
,,	,,	वन्दितो तौ पुनः	वन्दितौ पुनः
२८६	१९	निश्रणोति	निश्रणोति
३१७	२०	हए	हुए
३२६	१४	ज्वलता	ज्वल मासनी
३४९	९	मुरझा	मुंझा
३५१	१२	तिम	जिम
,,	१३	जिम	तिम
३५३	१६	दृँष्टो	दृष्टो

परिशिष्ट।

३०	२०	कलत्रानि	कलत्राणि
३०	२१	भुजन्ते	भुञ्जते
३१	३	हंति	हुंति
,,	२०	परिजूर्णकर्णा	परिजीर्णकर्णा

३३	२१	सत्त्वा	सार्थी
३९	२०	पति	कां
४०	२१	वेल्य	वेल्ल
४१	२३	निरुहर	अवश्यहर
४२	३	जाइय	जायइ
,,	११	जाइय	जायइ
४८	२०	मातृपित्रौ	मातापितरौ
४९	२०	पत्या	त्वया

" श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल । "

यह संस्था क़रीब बारह साल से चल रही है । इस को हिन्दी-जैन-साहित्य-प्रेमी कुछ उत्साही भाइयों ने स्थापित किया है । इस के मुख्य सहायक ये हैं:—

रा०ब०सेठ बद्रीदास जी जौहरी, कलकत्ता ।	राजा विजयसिंह जी, अजिमगंज ।
सेठ चुन्नीलाल पन्नालाल जौहरी, बम्बई ।	सेठ हीराचन्द जी सचेती, अजमेर ।
लाला गंगाराम जी, अम्बाला ।	लाला दलेलसिंह टीकमचन्द, देहली ।
सेठ जवाहरलाल जी, सिकन्दराबाद ।	लाला दौलतराम जी होशियारपुर ।
सेठ समीरमल जी, सुराणा बीकानेर ।	सेठ लक्ष्मीचन्द्र जी घीया, प्रतापगढ़

उद्देश्य—मण्डल का उद्देश्य अधिक से अधिक सरलता-पूर्वक सब जगह जैन-तत्त्वज्ञान का प्रचार करना और समाज में एकता बढ़ा कर ऐसी कुरीतियाँ, जिन से समाज की भलाई में रुकावटें पड़ रही हों, उन को दूर करना है ।

साधन—उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिये मण्डल ने अब तक यह साधन निश्चित किया है कि नवीन स्वतन्त्र पुस्तक रचा कर प्रगट करना तथा प्राकृत और संस्कृत भाषा के प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिन का पठन-पाठन व आदर बहुत ज्यादा है, उन का अनुवाद करा कर प्रगट करना । यद्यपि मण्डल ने मुख्य रीति से हिन्दी भाषा ही में साहित्य प्रगट करने को अपना कर्त्तव्य स्थिर किया है क्योंकि वही राष्ट्रीय भाषा और सब के समझने योग्य भाषा है, तो भी उपयोगिता की दृष्टि से कुछ पुस्तकों को अंगरेजी और बँगला भाषा में भी प्रगट करना वह उचित समझता है ।

कार्य—अब तक मण्डल ने छोटी-बड़ी अनेक पुस्तकें तैयार करा कर तथा छपवा कर प्रगट की हैं, जिन का पूरा हाल बड़े सूची-पत्र से जाना जा सकता है, तो भी पाठकों की जानकारी के लिये थोड़ासा परिचय अगाड़ी दिया जाता है । अनेक ऐसी पुस्तकें जो छपी तो हैं अन्यत्र, पर हैं वे महत्त्वपूर्ण, वे भी मण्डल से प्राप्त होती हैं:—

मण्डल की कुछ पुस्तकें :-

[श्रीआत्माराम जी महाराज-रचित :-]

१ तत्वनिर्णयप्रासाद ३)

२ सम्यक्त्वशल्योद्धार ॥≈)

३ जैनधर्मविषयक प्रश्नोत्तर ॥)

[श्रीजिनविजय जी रचित :-]

४ विज्ञप्तित्रिवेणि ... १)

५ शत्रुंजयतीर्थोद्धार ... ॥=)

६ जैनतत्वसार ... ≈)

[पं० व्रजलाल जी अनुवादित :-]

७ नवतत्व ... ... ।-)

८ जीवविचार ... ... ।-)

९ वीतरागस्तोत्र ... ... ≋)

[पं० सुखलाल जी अनुवादित :-]

१० पहिला कर्मग्रन्थ १।), १।=)

११ दूसरा कर्मग्रन्थ ॥।), ॥।=)

१२ तीसरा कर्मग्रथ ॥)

[पं० हंसराज जी-रचित :-]

१३ स्वामी दयानन्द और जैनधर्म ॥)

१४ नरमेधयज्ञ-मीमांसा -)॥

१५ जैनास्तिकत्व-मीमांसा -)॥

[मुनि माणिक-कृत :-]

१६ सुबोधरत्नशतक)॥

१७ उत्तराध्ययन-सूत्र-सार ≈)

१८ भद्रबाहु और कल्पसूत्र =)

[लाला कन्नोमल जी एम०ए० रचित :-]

१९ उपनिषद्रहस्य ... ≈)॥

२० साहित्यसंगीत ... ॥=)

२१ सामाजिकसुधार ... ≡)

२२ जैनतत्व-मीमांसा ...)॥

२३ सप्तभङ्गीनय ... -)॥

२४ गीतादर्शन ... २)

---

२५ दिव्य जीवन ... ॥।)

२६ स्वर्गीय जीवन ... ॥≋)

२७ बाल-हित-मार्ग ... -)॥

२८ सदाचार-शिक्षा ... ।-)

29 The Chicago Prashnottar 0-12-
30 Some Distinguished Jains 0- 8-
31 The study of Jainism 0-12-
32 Lord Krishna's Message 0- 4-
33 The Master Poets of India 0- 4

छप गये:-

सार्थ देवसि-राइ प्रतिक्रमण।

सार्थ चौथा कर्मग्रन्थ।

छप रही है:-

दण्डकवृत्ति।

छपने वाले हैं:-

सार्थ पाँचवाँ कर्मग्रन्थ।

सार्थ छठा कर्मग्रन्थ।

१—कुल पुस्तकों के लिये सूचीपत्र मँगाइये। पताः-

"श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल,"

रोशनमुहल्ला, आगरा।